रा०२४३

महाभारत

(वनपर्व से तीर्थपर्व तक)

(प्रथम अध्याय से तिरासीवाँ अध्याय)

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ | गोरखपुर, फाल्गुन २०१२, मार्च १९५६ | संख्या ५ पूर्ण संख्या ५

महाभारतमें श्रीकृष्णका कीर्तन

यस्योदारधियः पवित्रचरितान्यद्यापि शेषादयो
गायन्तो न च पारयन्ति परया भक्त्या मुदा तत्पराः ।
मुक्ता योगबलान्विता यतिवरा ध्यायन्ति यं योगिनः
सोऽयं सर्वमयो व्रजेशतनयः संकीर्त्यते भारते ॥

उदार बुद्धिवाले शेष आदि भक्तजन परम भक्ति और आनन्दसे बड़ी तन्मयताके साथ जिनके पवित्र चरित्रोंका गान करते रहते हैं, परंतु अबतक उनका पार नहीं पा सके हैं; मुक्तस्वरूप श्रेष्ठ संन्यासी तथा योगबलसम्पन्न योगी भी सदा जिनका ध्यान किया करते हैं, उन्हीं सर्वात्मा व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका—उनके गुणों और लीलाओंका इस महाभारतमें वर्णन है ।

(महाभारत, तात्पर्यप्रकाश)

॥ श्रीहरिः ॥

महर्षि वेदव्यासका सिंहनाद

अष्टादश पुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ।
वेदाः साङ्गास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम् ॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः ।
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥

वेदविद्याके महासिन्धु एवं अठारह पुराणोंके रचयिता महर्षि वेदव्यासका यह सिंहनाद सुनो । वे कहते हैं—'अठारह पुराण, सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और छहों अङ्गोंसहित चारों वेद एक ओर तथा अकेला महाभारत दूसरी ओर; यह अकेला ही उन सबके बराबर है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ महाभारतमें कहा गया है, वही अन्यत्र है । जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है ।'

(महाभारत, स्वर्गारोहणपर्व)

(तीर्थयात्रापर्व)

चित्र-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

(तीर्थयात्रापर्व)

चित्र-सूची

पृष्ठ-संख्या

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

सम्पादक—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**
टीकाकार––पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

चित्र-सूची

श्रीहरिः

विषय-सूची

*

(मृगस्वप्नोद्भवपर्व)

(व्रीहिद्रौणिकपर्व)

(द्रौपदीहरणपर्व)

(जयद्रथविमोक्षणपर्व)

(रामोपाख्यानपर्व)

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

चित्र-सूची

निवेदन

'महाभारत मासिक पत्र' के इस पञ्चम अङ्कमें सभापर्व समाप्त होकर वनपर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वकी भाँति सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये गये हैं। विशेषतः अड़तीसवें अध्यायमें भगवान्के अवतारोंका जो संक्षिप्त और श्रीकृष्णावतारका विशेष वर्णन दाक्षिणात्य प्रतियोंमें उपलब्ध होता है, उस प्रसङ्गके एक ही स्थलपर ७६१½ श्लोक लिये गये हैं। भगवान्के चरित्र-वर्णनके ये श्लोक अत्यन्त उपयोगी, आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजाके प्रसङ्गमें जब भीष्मजीने बहुतसे संत-महात्माओंके मुखसे सुनी हुई श्रीकृष्णकी महिमा बतायी, उस समय युधिष्ठिरके मनमें उनके लीला-चरित्रको सुननेकी अभिलाषा जाग्रत् हो उठी और उन्हींके पूछनेपर भीष्मजीने विस्तारपूर्वक भगवान्की लीलाओंका वर्णन किया । इकतालीसवें अध्यायके शिशुपालके कथनपर ध्यान देनेसे भी उक्त प्रसङ्गकी अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध होती है।

यदि भीष्मजीने भगवान्की पूतनावध, शकट-भंजन, तृणावर्त-उद्धार, यमलार्जुनभङ्ग, बकासुरवध, कालियदमन, केशी-अरिष्टासुर-वध और कंस-संहार आदि बाल-लीलाओंका वर्णन न किया होता तो शिशुपाल उनका नामोल्लेख कैसे कर सकता था; इससे सिद्ध है कि भीष्मजीने उस समय अवश्य ही विस्तारपूर्वक श्रीकृष्णचरित्र सुनाये थे।

वनपर्वके प्रसङ्ग भी बड़े ही मार्मिक और उपादेय हैं। पाण्डवोंकी कष्टसहिष्णुता, साहस, उत्साह, धैर्य और संकटकालमें भी धर्म-पालनकी दृढ़ता आदि बातें सदा ही पढ़ने, मनन करने और जीवनमें उतारने योग्य हैं। इस पर्वमें अनेकानेक राजर्षियों-महर्षियोंके त्याग एवं तपस्यामय जीवनकी झाँकी देखनेको मिलती है। इसमें तीर्थसेवन, दान, यज्ञ, परोपकार, धर्माचरण, सत्य-परायणता, त्याग, वैराग्य, पातिव्रत्य, तपस्या तथा सत्सङ्ग आदिके महत्त्वका बहुत सुन्दर निरूपण है। शान्तिपर्वकी भाँति यह पर्व भी समादरणीय सदुपदेशोंसे ही भरा है। नल-दमयन्ती, सत्यवान्-सावित्री तथा रामायणकी कथा भी इसीमें आयी है। सभी दृष्टियोंमें यह पर्व पठनीय और माननीय है।

सम्पादक—महाभारत

पाण्डवोंका वनगमन

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

वनपर्व

(अरण्यपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

पाण्डवोंका वनगमन, पुरवासियोंद्वारा उनका अनुगमन और युधिष्ठिरके अनुरोध करनेपर उनमेंसे बहुतोंका लौटना तथा पाण्डवोंका प्रमाणकोटितीर्थमें रात्रिवास

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

'अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम॥ १॥
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम्।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः॥ २॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर! मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंने जब इस प्रकार कपटपूर्वक कुन्तीकुमारोंको जूएमें हराकर कुपित कर दिया और घोर वैरकी नींव डालते हुए उन्हें अत्यन्त कठोर बातें सुनायीं, तब मेरे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदि कुरुवंशियोंने क्या किया?॥१-२॥

कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमेयुषः।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः॥ ३॥

तथा जो सहसा ऐश्वर्यसे वञ्चित हो जानेके कारण महान् दुःखमें पड़ गये थे, उन इन्द्रके तुल्य तेजस्वी पाण्डवोंने वनमें किस प्रकार विचरण किया?॥ ३॥

के वै तानन्ववर्तन्त प्राप्तान् व्यसनमुत्तमम्।
किमाचाराः किमाहाराः क च वासो महात्मनाम्॥ ४॥

उस भारी संकटमें पड़े हुए पाण्डवोंके साथ वनमें कौन-कौन गये थे? वनमें वे किस आचार-व्यवहारसे रहते थे? क्या खाते थे? और उन महात्माओंका निवासस्थान कहाँ था?॥ ४॥

कथं च द्वादश समा वने तेषां महामुने।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम्॥ ५॥

महामुने! ब्राह्मणश्रेष्ठ! शत्रुओंका संहार करनेवाले उन शूरवीर महारथियोंके बारह वर्ष वनमें किस प्रकार बीते?॥

कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम्।
पतिव्रता महाभागा सततं सत्यवादिनी॥ ६॥
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन॥ ७॥

तपोधन! संसारकी समस्त सुन्दरियोंमें श्रेष्ठ, पतिव्रता एवं सदा सत्य बोलनेवाली वह महाभागा राजकुमारी द्रौपदी, जो दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं थी, वनवासके भयंकर कष्टको कैसे सह सकी? यह सब मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये॥६-७॥

श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम्।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे॥ ८॥

ब्रह्मन्! मैं आपके द्वारा कहे जाते हुए महान् पराक्रम और तेजसे सम्पन्न पाण्डवोंके चरित्रको सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें अत्यन्त कौतूहल हो रहा है॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात्॥ ९॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस प्रकार मन्त्रियोंसहित दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंद्वारा जूएमें पराजित करके

पाण्डवोंका वनगमन

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

वनपर्व

(अरण्यपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

पाण्डवोंका वनगमन, पुरवासियोंद्वारा उनका अनुगमन और युधिष्ठिरके अनुरोध करनेपर उनमेंसे बहुतोंका लौटना तथा पाण्डवोंका प्रमाणकोटितीर्थमें रात्रिवास

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

'अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम॥ १॥
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम्।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः॥ २॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर! मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंने जब इस प्रकार कपटपूर्वक कुन्तीकुमारोंको जूएमें हराकर कुपित कर दिया और घोर वैरकी नींव डालते हुए उन्हें अत्यन्त कठोर बातें सुनायीं, तब मेरे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदि कुरुवंशियोंने क्या किया?॥ १-२॥

कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमेयुषः।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः॥ ३॥

तथा जो सहसा ऐश्वर्यसे वञ्चित हो जानेके कारण महान् दुःखमें पड़ गये थे, उन इन्द्रके तुल्य तेजस्वी पाण्डवोंने वनमें किस प्रकार विचरण किया?॥ ३॥

के वै तानन्ववर्तन्त प्राप्तान् व्यसनमुत्तमम्।
किमाचाराः किमाहाराः क्व च वासो महात्मनाम्॥ ४॥

उस भारी संकटमें पड़े हुए पाण्डवोंके साथ वनमें कौन-कौन गये थे? वनमें वे किस आचार-व्यवहारसे रहते थे? क्या खाते थे? और उन महात्माओंका निवासस्थान कहाँ था?॥ ४॥

कथं च द्वादश समा वने तेषां महामुने।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम्॥ ५॥

महामुने! ब्राह्मणश्रेष्ठ! शत्रुओंका संहार करनेवाले उन शूरवीर महारथियोंके बारह वर्ष वनमें किस प्रकार बीते?॥

कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम्।
पतिव्रता महाभागा सततं सत्यवादिनी॥ ६॥
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन॥ ७॥

तपोधन! संसारकी समस्त सुन्दरियोंमें श्रेष्ठ, पतिव्रता एवं सदा सत्य बोलनेवाली वह महाभागा राजकुमारी द्रौपदी, जो दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं थी, वनवासके भयंकर कष्टको कैसे सह सकी? यह सब मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये॥ ६-७॥

श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम्।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे॥ ८॥

ब्रह्मन्! मैं आपके द्वारा कहे जाते हुए महान् पराक्रम और तेजसे सम्पन्न पाण्डवोंके चरित्रको सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें अत्यन्त कौतूहल हो रहा है॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात्॥ ९॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस प्रकार मन्त्रियोंसहित दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंद्वारा जूएमें पराजित करके

क्रुद्ध किये हुए कुन्तीकुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ९ ॥

वर्धमानपुरद्वारादभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥ १० ॥

वर्धमानपुरकी दिशामें स्थित नगरद्वारसे निकलकर
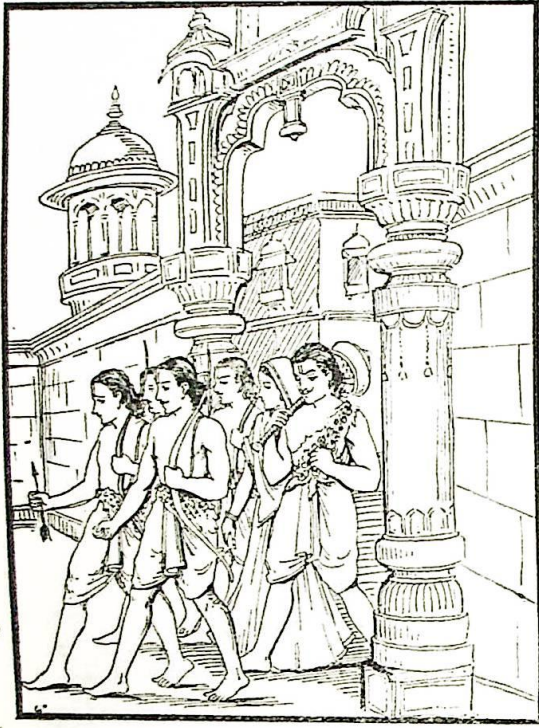
शस्त्रधारी पाण्डवोंने द्रौपदीके साथ उत्तराभिमुख होकर यात्रा आरम्भ की ॥ १० ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परि चतुर्दश ।
रथैरनुययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥ ११ ॥

इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक सारी स्त्रियोंको शीघ्रगामी रथोंपर बिठाकर उनके पीछे-पीछे चले ॥ ११ ॥

गतानेतान् विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः ।
गर्हयन्तोऽसकृद् भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ॥ १२ ॥
ऊचुर्विगतसंत्रासाः समागम्य परस्परम् ।

पाण्डव वनकी ओर गये हैं, यह जानकर हस्तिनापुरके निवासी शोकसे पीडित हो बिना किसी भयके भीष्म, विदुर, द्रोण और कृपाचार्यकी बारंबार निन्दा करते हुए एक-दूसरेसे मिलकर इस प्रकार कहने लगे ॥ १२½ ॥

पौरा ऊचुः

नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः ॥ १३ ॥
यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेनाभिपालितः ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥ १४ ॥

पुरवासी बोले—अहो ! हमारा यह समस्त कुल, हम तथा हमारे घर-द्वार अब सुरक्षित नहीं हैं; क्योंकि यहाँ पापात्मा दुर्योधन सुबलपुत्र शकुनिसे पालित हो कर्ण और दुःशासनकी सम्मतिसे इस राज्यका शासन करना चाहता है ॥

न तत् कुलं न चाचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् ।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं चिकीर्षति ॥ १५ ॥

जहाँ पापियोंकी ही सहायतासे यह पापाचारी राज्य करना चाहता है, वहाँ हमलोगोंके कुल, आचार, धर्म और अर्थ भी नहीं रह सकते, फिर सुख तो रह ही कैसे सकता है ? ॥ १५ ॥

दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः ।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥ १६ ॥

दुर्योधन गुरुजनोंसे द्वेष रखनेवाला है । उसने सदाचार और पाण्डवों-जैसे सुहृदोंको त्याग दिया है । वह अर्थलोलुप, अभिमानी, नीच और स्वभावतः ही निष्ठुर है ॥ १६ ॥

नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः ।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥ १७ ॥

जहाँ दुर्योधन राजा है, वहाँकी यह सारी पृथ्वी नहींके बराबर है, अतः यही ठीक होगा कि हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ पाण्डव जा रहे हैं ॥ १७ ॥

सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशत्रवः ।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥ १८ ॥

पाण्डवगण दयालु, महात्मा, जितेन्द्रिय, शत्रुविजयी, लज्जाशील, यशस्वी, धर्मात्मा तथा सदाचारपरायण हैं ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान् समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कौन्तेयान् माद्रिनन्दनान् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे पुरवासी पाण्डवोंके पास गये और उन कुन्तीकुमारों तथा माद्रीपुत्रोंसे मिलकर वे सबके-सब हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— ॥

क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वास्मान् दुःखभागिनः ।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥ २० ॥

'पाण्डवो ! आपलोगोंका कल्याण हो । हम आपके वियोगसे बहुत दुखी हैं । आपलोग हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं ? आप जहाँ जायँगे, वहीं हम भी आपके साथ चलेंगे ॥ २० ॥

अधर्मेण जिताञ्छ्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः ।
उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नास्मान् हातुमिहार्हथ ॥ २१ ॥
भक्तानुरक्तान् सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः ॥ २२ ॥

'निर्दयी शत्रुओंने आपको अधर्मपूर्वक जूएमें हराया है, यह सुनकर हम सब लोग अत्यन्त उद्विग्न हो उठे हैं । आपलोग हमारा त्याग न करें; क्योंकि हम आपके सेवक हैं, प्रेमी हैं, सुहृद् हैं और सदा आपके

प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले हैं । आपके बिना इस दुष्ट राजाके राज्यमें रहकर हम नष्ट होना नहीं चाहते ॥ २१-२२ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान् नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥ २३ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डवो ! शुभ और अशुभ आश्रयमें रहनेपर वहाँका संसर्ग मनुष्यमें जैसे गुण-दोषोंकी सृष्टि करता है, उनका हम वर्णन करते हैं, सुनिये ॥ २३ ॥

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ २४ ॥

'जैसे फूलोंके संसर्गमें रहनेपर उनकी सुगन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमिको भी सुवासित कर देती है, उसी प्रकार संसर्गजनित गुण भी अपना प्रभाव डालते हैं ॥२४॥

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ २५ ॥

'मूढ मनुष्योंसे मिलना-जुलना मोहजालकी उत्पत्तिका कारण होता है । इसी प्रकार साधु-महात्माओंका सङ्ग प्रतिदिन धर्मकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ २५ ॥

तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥ २६ ॥

'इसलिये विद्वानों, वृद्ध पुरुषों तथा उत्तम स्वभाववाले शान्तिपरायण तपस्वी सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये ॥ २६ ॥

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥२७॥
निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ २८ ॥

'जिन पुरुषोंके विद्या, जाति और कर्म—ये तीनों उज्ज्वल हों, उनका सेवन करना चाहिये; क्योंकि उन महापुरुषोंके साथ बैठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी बढ़कर है । हमलोग अग्निहोत्र आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, तो भी पुण्यात्मा साधुपुरुषोंके समुदायमें रहनेसे हमें पुण्यकी ही प्राप्ति होगी । इसी प्रकार पापीजनोंके सेवनसे हम पापके ही भागी होंगे।२७-२८।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ॥२९॥

'दुष्ट मनुष्योंके दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्तालाप अथवा उठने-बैठनेसे धार्मिक आचारोंकी हानि होती है । इसलिये वैसे मनुष्योंको कभी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ २९ ॥

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥ ३० ॥

'नीच पुरुषोंका साथ करनेसे मनुष्योंकी बुद्धि नष्ट होती है । मध्यम श्रेणीके मनुष्योंका साथ करनेसे मध्यम होती है और उत्तम पुरुषोंका सङ्ग करनेसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है ॥ ३० ॥

अनीचैर्नाप्यविषयैर्नाधर्मिष्ठैर्विशेषतः ।
ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसम्भवाः ।
लोकाचारेषु सम्भूता वेदोक्ताः शिष्टसम्मताः ॥ ३१ ॥

'उत्तम, प्रसिद्ध एवं विशेषतः धर्मिष्ठ मनुष्योंने लोकमें धर्म, अर्थ और कामकी उत्पत्तिके हेतुभूत जो वेदोक्त गुण (साधन) बताये हैं, वे ही लोकाचारमें प्रकट होते हैं—लोगोंद्वारा काममें लाये जाते हैं और शिष्ट पुरुष उन्हींका आदर करते हैं ॥३१॥

ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ३२ ॥

'वे सभी सद्गुण पृथक्-पृथक् और एक साथ आपलोगोंमें विद्यमान हैं, अतः हमलोग कल्याणकी इच्छासे आप-जैसे गुणवान् पुरुषोंके बीचमें रहना चाहते हैं' ॥ ३२ ॥
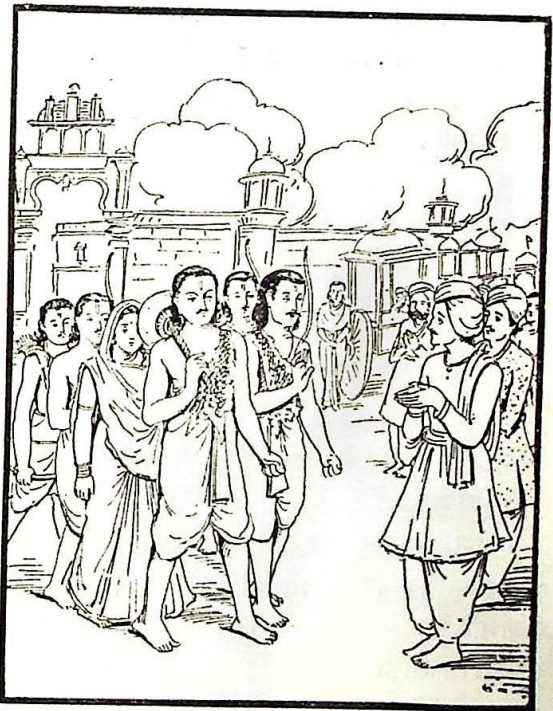
युधिष्ठिर उवाच

धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—हमलोग धन्य हैं; क्योंकि ब्राह्मण आदि प्रजावर्गके लोग हमारे प्रति स्नेह और करुणाके पाशमें बँधकर जो गुण हमारे अंदर नहीं हैं, उन गुणोंको भी हममें बतला रहे हैं ॥ ३३ ॥

तदहं भ्रातृसहितः सर्वान् विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥ ३४ ॥

भाइयोंसहित मैं आप सब लोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ । आपलोग हमपर स्नेह और कृपा करके उसके पालनसे मुख न मोड़ें ॥ ३४ ॥

भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे ।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥ ३५ ॥

(आपलोगोंको मालूम होना चाहिये कि) हमारे पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, विदुरजी, मेरी माता तथा प्रायः अन्य सगे-सम्बन्धी भी हस्तिनापुरमें ही हैं ॥ ३५ ॥

ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसंतापविह्वलाः ॥ ३६ ॥

वे सब लोग आपलोगोंके साथ ही शोक और संतापसे व्याकुल हैं, अतः आपलोग हमारे हितकी इच्छा रखकर उन सबका यत्नपूर्वक पालन करें ॥ ३६ ॥

निवर्तताऽगता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ॥ ३७ ॥

अच्छा, अब लौट जाइये, आपलोग बहुत दूर चले आये हैं । मैं अपनी शपथ दिलाकर अनुरोध करता हूँ कि आपलोग मेरे साथ न चलें । मेरे स्वजन आपके पास धरोहरके रूपमें हैं । उनके प्रति आपलोगोंके हृदयमें स्नेहभाव रहना चाहिये ॥

एतद्धि मम कार्याणां परमं हृदि संस्थितम् ।
कृता तेन तु तुष्टिर्मे सत्कारश्च भविष्यति ॥ ३८ ॥

मेरे हृदयमें स्थित सब कार्योंमें यही कार्य सबसे उत्तम है, आपके द्वारा इसके किये जानेपर मुझे महान् संतोष प्राप्त होगा और इसीसे मेरा सत्कार भी हो जायगा ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः ।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराजके द्वारा इस प्रकार विनयपूर्वक अनुरोध किये जानेपर उन समस्त प्रजाओंने 'हा ! महाराज !' ऐसा कहकर एक ही साथ भयंकर आर्तनाद किया ॥ ३९ ॥

गुणान् पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताः परमातुराः ।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ॥ ४० ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके गुणोंका स्मरण करके प्रजावर्गके लोग दुःखसे पीडित और अत्यन्त आतुर हो गये । उनकी पाण्डवोंके साथ जानेकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी । वे केवल उनसे मिलकर लौट आये ॥ ४० ॥

निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः ।
आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥ ४१ ॥

पुरवासियोंके लौट जानेपर पाण्डवगण रथोंपर बैठकर गङ्गाजीके किनारे प्रमाणकोटि नामक महान् वटके समीप आये ॥ ४१ ॥

ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः ।
ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ॥ ४२ ॥

संध्या होते-होते उस वटके निकट पहुँचकर शूरवीर पाण्डवोंने पवित्र जलका स्पर्श (आचमन और संध्यावन्दन आदि) करके वह रात वहीं व्यतीत की ॥ ४२ ॥

उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्षिताः ।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान् स्नेहात् केचिद् द्विजातयः ॥ ४३ ॥

दुःखसे पीडित हुए वे पाँचों पाण्डुकुमार उस रातमें केवल जल पीकर ही रह गये । कुछ ब्राह्मणलोग भी इन पाण्डवोंके साथ स्नेहवश वहाँतक चले आये थे ॥ ४३ ॥

साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः ।
स तैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ॥ ४४ ॥

उनमेंसे कुछ साग्नि (अग्निहोत्री) थे और कुछ निरग्नि । उन्होंने अपने शिष्यों तथा भाई-बन्धुओंको भी साथ ले लिया था । वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४४ ॥

तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्यदारुणे ।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः संजल्पः समजायत ॥ ४५ ॥

संध्याकालकी नैसर्गिक शोभासे रमणीय तथा राक्षस-पिशाचादिके संचरणका समय होनेसे अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले उस मुहूर्तमें अग्नि प्रज्वलित करके वेद-मन्त्रोंके घोषपूर्वक अग्निहोत्र करनेके बाद उन ब्राह्मणोंमें परस्पर संवाद होने लगा ॥ ४५ ॥

राजानं तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः ।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन् ॥ ४६ ॥

हंसके समान मधुर स्वरमें बोलनेवाले उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए सारी रात उनका मनोरञ्जन किया ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पौरप्रत्यागमने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पुरवासियोंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

धनके दोष, अतिथिसत्कारकी महत्ता तथा कल्याणके उपायोंके विषयमें धर्मराज युधिष्ठिरसे ब्राह्मणों तथा शौनकजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभातका उदय हुआ तथा अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डव वनकी ओर जानेके लिये उद्यत हुए, उस समय भिक्षान्नभोजी ब्राह्मण साथ चलनेके लिये उनके सामने खड़े हो गये॥ १॥

तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः॥ २॥
फलमूलाशनाहारा वनं गच्छाम दुःखिताः।
वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम्॥ ३॥

तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'ब्राह्मणो! हमारा राज्य, लक्ष्मी और सर्वस्व जूएमें हरण कर लिया गया है। हम फल, मूल तथा अन्नके आहारपर रहनेका निश्चय करके दुखी होकर वनमें जा रहे हैं। वनमें बहुत-से दोष हैं। वहाँ सर्प-बिच्छू आदि असंख्य भयंकर जन्तु हैं॥ २-३॥

परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत्।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः॥ ४॥

'मैं समझता हूँ, वहाँ आपलोगोंको अवश्य ही महान् कष्टका सामना करना पड़ेगा। ब्राह्मणोंको दिया हुआ क्लेश तो देवताओंका भी विनाश कर सकता है, फिर मेरी तो बात ही क्या है? अतः ब्राह्मणो! आपलोग यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको लौट जायँ'॥ ४॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः।
नार्हस्यस्मान् परित्यक्तुं भक्तान् सद्धर्मदर्शिनः॥ ५॥

ब्राह्मणोंने कहा—राजन्! आपकी जो गति होगी, उसे भुगतनेके लिये हम भी उद्यत हैं। हम आपके भक्त तथा उत्तम धर्मपर दृष्टि रखनेवाले हैं। इसलिये आपको हमारा परित्याग नहीं करना चाहिये॥ ५॥

अनुकम्पां हि भक्तेषु देवता ह्यपि कुर्वते।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु॥ ६॥

देवता भी अपने भक्तोंपर विशेषतः सदाचारपरायण ब्राह्मणोंपर तो अवश्य ही दया करते हैं॥ ६॥

युधिष्ठिर उवाच

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम्॥ ७॥
आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमधूनि च।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः॥ ८॥

युधिष्ठिर बोले—विप्रगण! मेरे मनमें भी ब्राह्मणोंके प्रति उत्तम भक्ति है, किंतु यह सब प्रकारके सहायक साधनों-का अभाव ही मुझे दुःखमग्न-सा किये देता है। जो फल-मूल एवं शहद आदि आहार जुटाकर ला सकते थे, वे ही ये मेरे भाई शोकजनित दुःखसे मोहित हो रहे हैं॥ ७-८॥

द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च।
दुःखार्दितानिमान् क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे॥ ९॥

द्रौपदीके अपमान तथा राज्यके अपहरणके कारण ये दुःखसे पीडित हो रहे हैं, अतः मैं इन्हें (आहार जुटानेका आदेश देकर) अधिक क्लेशमें नहीं डालना चाहता॥ ९॥

ब्राह्मणा ऊचुः

अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत् ते हृदि पार्थिव।
स्वयमाहृत्य चान्नानि त्वानुयास्यामहे वयम्॥ १०॥

ब्राह्मण बोले—पृथ्वीनाथ! आपके हृदयमें हमारे पालन-पोषणकी चिन्ता नहीं होनी चाहिये। हम स्वयं ही अपने लिये अन्न आदिकी व्यवस्था करके आपके साथ चलेंगे॥ १०॥

अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम्॥ ११॥

हम आपके अभीष्टचिन्तन और जपके द्वारा आपका कल्याण करेंगे तथा आपको सुन्दर-सुन्दर कथाएँ सुनाकर आपके साथ ही प्रसन्नतापूर्वक वनमें विचरेंगे॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः।
न्यूनभावात् तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवात्मनः॥ १२॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ! आपका कहना ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि मैं सदा ब्राह्मणोंके साथ रहनेमें ही प्रसन्नताका अनुभव करता हूँ, किंतु इस समय धन आदिसे हीन होनेके कारण मैं देख रहा हूँ कि मेरेलिये यह अपकीर्तिकी-सी बात है॥ १२॥

कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान् स्वयमाहृतभोजनान् ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान् धिक् पापान् धृतराष्ट्रजान् ॥

आप सब लोग स्वयं ही आहार जुटाकर भोजन करें, यह मैं कैसे देख सकूँगा ? आपलोग कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं, तो भी मेरे प्रति स्नेह होनेके कारण इतना क्लेश उठा रहे हैं । धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंको धिक्कार है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स नृपः शोचन् निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतो विद्वाञ्छौनको नाम वै द्विजः ॥ १४ ॥
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर धर्मराज युधिष्ठिर शोकमग्न हो चुपचाप पृथ्वीपर बैठ गये। उस समय अध्यात्मविषयमें रत अर्थात् परमात्मचिन्तनमें तत्पर विद्वान् ब्राह्मण शौनकने, जो कर्मयोग और सांख्ययोग–दोनों ही निष्ठाओंके विचारमें प्रवीण थे, राजासे इस प्रकार कहा–॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १६ ॥

'शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं । वे मूढ़ मनुष्यपर प्रतिदिन अपना प्रभाव डालते हैं; परंतु ज्ञानी पुरुषपर वे प्रभाव नहीं डाल सकते ॥ १६ ॥

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १७ ॥

'अनेक दोषोंसे युक्त, ज्ञानविरुद्ध एवं कल्याणनाशक कर्मोंमें आप-जैसे ज्ञानवान् पुरुष नहीं फँसते हैं ॥ १७ ॥

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोऽभिघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् सा त्वय्यवस्थिता ॥ १८ ॥

राजन् ! योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिसे सम्पन्न, समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाली तथा श्रुतियों और स्मृतियोंके स्वाध्यायसे भलीभाँति दृढ़ की हुई जो उत्तम बुद्धि कही गयी है, वह आपमें स्थित है ॥ १८ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ॥ १९ ॥

'अर्थसंकट, दुस्तर दुःख तथा स्वजनोंपर आयी हुई विपत्तियोंमें आप-जैसे ज्ञानी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीडित नहीं होते ॥ १९ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ॥ २० ॥

'पूर्वकालमें महात्मा राजा जनकने अन्तःकरणको स्थिर करनेवाले कुछ श्लोकोंका गान किया था । मैं उन श्लोकोंका वर्णन करता हूँ; आप सुनिये—॥ २० ॥

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥ २१

'सारा जगत् मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित है । उन दोनों प्रकारके दुःखोंकी शान्तिका यह उपाय सं[क्षेप] और विस्तारसे सुनिये ॥ २१ ॥

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः सम्प्रवर्तते ॥ २२

'रोग, अप्रिय घटनाओंकी प्राप्ति, अधिक परिश्रम त[था] प्रिय वस्तुओंका वियोग—इन चार कारणोंसे शारीरिक दुः[ख] प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

तदा तत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात् ।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन तु ॥ २३

'समयपर इन चारों कारणोंका प्रतीकार करना एवं क[भी] भी उसका चिन्तन न करना—ये दो क्रियायोग (दुः[ख] निवारक उपाय) हैं। इन्हींसे आधि-व्याधिकी शान्ति होती है

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः सम्भोगोपनयैर्नृणाम् ॥ २४

'अतः बुद्धिमान् तथा विद्वान् पुरुष प्रिय वचन बोल[कर] तथा हितकर भोगोंकी प्राप्ति कराकर पहले मनुष्योंके मानसि[क] दुःखोंका ही निवारण किया करते हैं ॥ २४ ॥

मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥ २५

'क्योंकि मनमें दुःख होनेपर शरीर भी संतप्त होने ल[गता] है; ठीक वैसे ही, जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला ड[ाल] देनेपर घड़ेमें रक्खा हुआ शीतल जल भी गरम हो जाता है

मानसं शमयेत् तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥ २६

'इसलिये जलसे अग्निको शान्त करनेकी भाँति ज्ञा[न] द्वारा मानसिक दुःखको शान्त करना चाहिये । मनका दुः[ख] मिट जानेपर मनुष्यके शरीरका दुःख भी दूर हो जाता है ।

मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात् तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥ २७

'मनके दुःखका मूल कारण क्या है ? इसका [पता] लगानेपर 'स्नेह' (संसारमें आसक्ति) की ही उपलब्धि है है । इसी स्नेहके कारण ही जीव कहीं आसक्त होता और दुः[ख] पाता है ॥ २७ ॥

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात् प्रवर्तते ॥ २८
स्नेहाद् भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ २९

'दुःखका मूल कारण है आसक्ति। आसक्तिसे ही भय होता है। शोक, हर्ष तथा क्लेश—इन सबकी प्राप्ति भी आसक्तिके कारण ही होती है। आसक्तिसे ही विषयोंमें भाव और अनुराग होते हैं। ये दोनों ही अमङ्गलकारी हैं। इनमें भी पहला अर्थात् विषयोंके प्रति भाव महान् अनर्थकारक माना गया है॥ २८-२९॥

कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत्।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत्॥ ३०॥

'जैसे खोखलेमें लगी हुई आग सम्पूर्ण वृक्षको जड़-मूल-सहित जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार विषयोंके प्रति थोड़ी-सी भी आसक्ति धर्म और अर्थ दोनोंका नाश कर देती है॥ ३०॥

विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः॥ ३१॥

'विषयोंके प्राप्त न होनेपर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है—वही वैराग्यको प्राप्त होता है। उसके मनमें किसी-के प्रति द्वेषभाव न होनेके कारण वह निर्वैर तथा बन्धन-मुक्त होता है॥ ३१॥

तस्मात् स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात्।
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्तयेत्॥ ३२॥

'इसलिये मित्रों तथा धनराशिको पाकर इनके प्रति स्नेह (आसक्ति) न करे। अपने शरीरसे उत्पन्न हुई आसक्तिको ज्ञानसे निवृत्त करे॥ ३२॥

ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम्॥ ३३॥

'जो ज्ञानी, योगयुक्त, शास्त्रज्ञ तथा मनको वशमें रखनेवाले हैं, उनपर आसक्तिका प्रभाव उसी प्रकार नहीं पड़ता, जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं ठहरता॥ ३३॥

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते॥ ३४॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥ ३५॥

'रागके वशीभूत हुए पुरुषको काम अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। फिर उसके मनमें कामभोगकी इच्छा जाग उठती है। तत्पश्चात् तृष्णा बढ़ने लगती है। तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठ (पापमें प्रवृत्त करनेवाली) तथा नित्य उद्वेग करनेवाली बतायी गयी है। उसके द्वारा प्रायः अधर्म ही होता है। वह अत्यन्त भयंकर पापबन्धनमें डालनेवाली है॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥ ३६॥

'खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो शरीरके जरासे जीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग बताया गया है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है॥ ३६॥

अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम्।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः॥ ३७॥

'यह तृष्णा यद्यपि मनुष्योंके शरीरके भीतर ही रहती है, तो भी इसका कहीं आदि-अन्त नहीं है। लोहेके पिण्डकी आगके समान यह तृष्णा प्राणियोंका विनाश कर देती है॥

यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति।
तथाकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति॥ ३८॥

'जैसे काष्ठ अपनेसे ही उत्पन्न हुई आगसे जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन वशमें नहीं है, वह मनुष्य अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए लोभके द्वारा स्वयं नष्ट हो जाता है॥ ३८॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव॥ ३९॥

'धनवान् मनुष्योंको राजा, जल, अग्नि, चोर तथा स्वजनोंसे भी सदा उसी प्रकार भय बना रहता है, जैसे सब प्राणियोंको मृत्युसे॥ ३९॥

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ ४०॥

'जैसे मांसके टुकड़ेको आकाशमें पक्षी, पृथ्वीपर हिंस्र जन्तु तथा जलमें मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार धनवान् पुरुषको सब लोग सर्वत्र नोचते रहते हैं॥ ४०॥

अर्थ एव हि केषांचिदनर्थं भजते नृणाम्।
अर्थश्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः॥ ४१॥

'कितने ही मनुष्योंके लिये अर्थ ही अनर्थका कारण बन जाता है; क्योंकि अर्थद्वारा सिद्ध होनेवाले श्रेय (सांसारिक भोग) में आसक्त मनुष्य वास्तविक कल्याणको नहीं प्राप्त होता॥ ४१॥

तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः।
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च॥ ४२॥
अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम्।
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये॥ ४३॥
सहन्ति च महद् दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात्।
अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चैव शत्रवः॥ ४४॥

'इसलिये धन-प्राप्तिके सभी उपाय मनमें मोह बढ़ानेवाले हैं। कृपणता, घमण्ड, अभिमान, भय और उद्वेग इन्हें विद्वानोंने देहधारियोंके लिये धनजनित दुःख माना है। धनके

उपार्जन, संरक्षण तथा व्ययमें मनुष्य महान् दुःख सहन करते हैं और धनके ही कारण एक दूसरेको मार डालते हैं। धनको त्यागनेमें भी महान् दुःख होता है और यदि उसकी रक्षा की जाय तो वह शत्रुका-सा काम करता है* ॥४२—४४॥

दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत्।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ ४५ ॥

'धनकी प्राप्ति भी दुःखसे ही होती है। इसलिये उसका चिन्तन न करे; क्योंकि धनकी चिन्ता करना अपना नाश करना है। मूर्ख मनुष्य सदा असंतुष्ट रहते हैं और विद्वान् पुरुष संतुष्ट ॥ ४५ ॥

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ ४६ ॥

'धनकी प्यास कभी बुझती नहीं है; अतः संतोष ही परम सुख है। इसीलिये ज्ञानीजन संतोषको ही सबसे उत्तम समझते हैं ॥ ४६ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ ४७ ॥

'यौवन, रूप, जीवन, रत्नोंका संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रियजनोंका एकत्र निवास—ये सभी अनित्य हैं; अतः विद्वान् पुरुष उनकी अभिलाषा न करे ॥ ४७ ॥

त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जान् क्लेशान् सहेत च।
न हि संचयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः।
अतश्च धार्मिकैः पुंभिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥ ४८ ॥

'इसलिये धन-संग्रहका त्याग करे और उसके त्यागसे जो क्लेश हो, उसे धैर्यपूर्वक सह ले। जिनके पास धनका संग्रह है, ऐसा कोई भी मनुष्य उपद्रवरहित नहीं देखा जाता है। अतः धर्मात्मा पुरुष उसी धनकी प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छासे न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो ॥ ४८ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥ ४९ ॥

'जो धर्म करनेके लिये धनोपार्जनकी इच्छा करता है, उसका धनकी इच्छा न करना ही अच्छा है। कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा मनुष्योंके लिये उसका स्पर्श न करना ही श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ॥ ५० ॥

'युधिष्ठिर! इस प्रकार आपके लिये किसी भी वस्तुकी अभिलाषा करनी उचित नहीं है। यदि आपको धर्मसे ही प्रयोजन हो तो धनकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दें' ॥५०॥

युधिष्ठिर उवाच

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभतः ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—ब्रह्मन्! मैं जो धन चाहता हूँ, वह इसलिये नहीं कि मुझे धनसम्बन्धी भोग भोगनेकी इच्छा है; मैं तो ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये ही धनकी इच्छा रखता हूँ, लोभवश नहीं ॥ ५१ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्तमानो गृहाश्रमे।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥ ५२ ॥

विप्रवर! गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाला मेरे-जैसा पुरुष अपने अनुयायियोंका भरण-पोषण भी न करे, यह कैसे उचित हो सकता है? ॥ ५२ ॥

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ५३ ॥

गृहस्थके भोजनमें देवता, पितर, मनुष्य एवं समस्त प्राणियोंका हिस्सा देखा जाता है। गृहस्थका यह धर्म है कि वह अपने हाथसे भोजन न बनानेवाले संन्यासी आदिको अवश्य पका-पकाया अन्न दे ॥ ५३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ५४ ॥

आसनके लिये तृण (कुश), बैठनेके लिये स्थान, जल और चौथी मधुर वाणी, सत्पुरुषोंके घरमें इन चार वस्तुओंका अभाव कभी नहीं होता ॥ ५४ ॥

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥ ५५ ॥

रोग आदिसे पीड़ित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, थके-माँदे हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये ॥ ५५ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ॥ ५६ ॥

जो अपने घरपर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे। यह गृहस्थका सनातन धर्म है। अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीतिसे उसका आदर-सत्कार करे ॥ ५६ ॥

अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ॥ ५७ ॥

* धनके लोभसे मनुष्य रक्षककी हत्या कर डालते हैं।

यदि गृहस्थ मनुष्य अग्निहोत्र, साँड, जाति-भाई, अतिथि-अभ्यागत, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र तथा भृत्य-जनोंका आदर-सत्कार न करे, तो वे अपनी क्रोधाग्निसे उसे जला सकते हैं ॥ ५७ ॥

आत्मार्थं पाचयेन्नान्नं न वृथा घातयेत् पशून् ।
न च तत् स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत् ॥ ५८ ॥

केवल अपने लिये अन्न न पकावे (देवता-पितरों एवं अतिथियोंके उद्देश्यसे ही भोजन बनानेका विधान है), निकम्मे पशुओंकी भी हिंसा न करे और जिस वस्तुको विधि-पूर्वक देवता आदिके लिये अर्पित न करे, उसे स्वयं भी न खाय ॥ ५८ ॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातश्च दीयते ॥ ५९ ॥

कुत्तों, चाण्डालों और कौवोंके लिये पृथ्वीपर अन्न डाल दे । यह वैश्वदेव नामक महान् यज्ञ है, जिसका अनुष्ठान प्रातःकाल और सायंकालमें भी किया जाता है ॥ ५९ ॥

विघसाशी भवेत् तस्मान्नित्यं चामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ ६० ॥

अतः गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन विघस एवं अमृत भोजन करे । घरके सब लोगोंके भोजन कर लेनेपर जो अन्न शेष रह जाय उसे 'विघस' कहते हैं तथा बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नका नाम 'अमृत' है ॥ ६० ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६१ ॥

अतिथिको नेत्र दे (उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे), मन दे (मनसे हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे (सत्य, प्रिय, हितकी बात कहे) । जब वह जाने लगे, तब कुछ दूरतक उसके पीछे-पीछे जाय और जबतक वह घरपर रहे, तबतक उसके पास बैठे (उसकी सेवामें लगा रहे) । यह पाँच प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त अतिथि-यज्ञ है ॥ ६१ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ६२ ॥

जो गृहस्थ अपरिचित थके-माँदे पथिकको प्रसन्नतापूर्वक भोजन देता है, उसे महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥६२॥

एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे ।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन् ! जो गृहस्थ इस वृत्तिसे रहता है, उसके लिये उत्तम धर्मकी प्राप्ति बतायी गयी है, अथवा इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है ? ॥ ६३ ॥

शौनक उवाच

अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत् ।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥ ६४ ॥

शौनकजीने कहा—अहो ! बहुत दुःखकी बात है, इस जगत्में विपरीत बातें दिखायी देती हैं । साधु पुरुष जिस कर्मसे लज्जित होते हैं, दुष्ट मनुष्योंको उसीसे प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ ६४ ॥

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ६५ ॥

अज्ञानी मनुष्य अपनी जननेन्द्रिय तथा उदरकी तृप्तिके लिये मोह एवं रागके वशीभूत हो विषयोंका अनुसरण करता हुआ नाना प्रकारकी विषय-सामग्रीको यज्ञावशेष मानकर उसका संग्रह करता है ॥ ६५ ॥

ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः ।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ६६ ॥

समझदार मनुष्य भी मनको हर लेनेवाली इन्द्रियोंद्वारा विषयोंकी ओर खींच लिया जाता है । उस समय उसकी विचारशक्ति मोहित हो जाती है । जैसे दुष्ट घोड़े वशमें न होनेपर सारथिको कुमार्गमें घसीट ले जाते हैं, यही दशा उस अजितेन्द्रिय पुरुषकी भी होती है ॥ ६६ ॥

षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा ।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः ॥ ६७ ॥

जब मन और पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, उस समय प्राणियोंके पूर्वसंकल्पके अनुसार उसीकी वासनासे वासित मन विचलित हो उठता है ॥ ६७ ॥

मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान् याति सेवितुम् ।
तस्यौत्सुक्यं सम्भवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ॥ ६८ ॥

मन जिस इन्द्रियके विषयोंका सेवन करने जाता है, उसीमें उस विषयके प्रति उत्सुकता भर जाती है और वह इन्द्रिय उस विषयके उपभोगमें प्रवृत्त हो जाती है ॥ ६८ ॥

ततः संकल्पबीजेन कामेन विषयेषुभिः ।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात् पतङ्गवत् ॥ ६९ ॥

तदनन्तर संकल्प ही जिसका बीज है, उस कामके द्वारा विषयरूपी बाणोंसे बिंधकर मनुष्य ज्योतिके लोभसे पतंगकी भाँति लोभकी आगमें गिर पड़ता है ॥ ६९ ॥

ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया ।
महामोहे सुखे मग्नो नात्मानमवबुध्यते ॥ ७० ॥

इसके बाद इच्छानुसार आहार-विहारसे मोहित हो महामोहमय सुखमें निमग्न रहकर वह मनुष्य अपने आत्माके ज्ञानसे वञ्चित हो जाता है ॥ ७० ॥

एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ॥ ७१ ॥

इस प्रकार अविद्या, कर्म और तृष्णाद्वारा चक्रकी भाँति भ्रमण करता हुआ मनुष्य संसारकी विभिन्न योनियोंमें गिरता है ॥

ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते।
जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः ॥ ७२ ॥

फिर तो ब्रह्माजीसे लेकर तृणपर्यन्त सभी प्राणियोंमें तथा जल, भूमि और आकाशमें वह मनुष्य बारम्बार जन्म लेकर चक्कर लगाता रहता है ॥ ७२ ॥

अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ॥ ७३ ॥

यह अविवेकी पुरुषोंकी गति बतायी गयी है। अब आप मुझसे विवेकी पुरुषोंकी गतिका वर्णन सुनें। जो धर्म एवं कल्याणमार्गमें तत्पर हैं और मोक्षके विषयमें जिनका निरन्तर अनुराग है, वे विवेकी हैं ॥ ७३ ॥

तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
तस्माद् धर्मानिमान् सर्वान् नाभिमानात् समाचरेत् ७४

वेदकी यह आज्ञा है कि कर्म करो और कर्म छोड़ो; अतः आगे बताये जानेवाले इन सभी धर्मोंका अहंकारशून्य होकर अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ७४ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ७५ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा लोभका परित्याग—ये धर्मके आठ मार्ग हैं ॥ ७५ ॥

अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः।
कर्तव्यमिति यत् कार्यं नाभिमानात् समाचरेत् ॥ ७६ ॥

इनमें पहले बताये हुए चार धर्म पितृयानके मार्गमें स्थित हैं अर्थात् इन चारोंका सकामभावसे अनुष्ठान करनेपर ये पितृयानमार्गसे ले जाते हैं। अग्निहोत्र और संध्योपासनादि जो अवश्य करनेयोग्य कर्म हैं, उन्हें कर्तव्य-बुद्धिसे ही अभिमान छोड़कर करे ॥ ७६ ॥

उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ॥ ७७ ॥

अन्तिम चार धर्मोंको देवयानमार्गका स्वरूप बताया गया है। साधु पुरुष सदा उसी मार्गका आश्रय लेते हैं। आगे बताये जानेवाले आठ अङ्गोंसे युक्त मार्गद्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके कर्तव्य कर्मोंका कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होकर पालन करे ॥ ७७ ॥

सम्यक्संकल्पसंबन्धात् सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात्।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक च गुरुसेवनात् ॥ ७८ ॥
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक् चाध्ययनागमात्।
सम्यक्कर्मोपसंन्यासात् सम्यक्चित्तनिरोधनात् ॥ ७९ ॥

पूर्णतया संकल्पोंको एक ध्येयमें लगा देनेसे, इन्द्रियोंको भली प्रकार वशमें कर लेनेसे, अहिंसादि व्रतोंका अच्छी प्रकार पालन करनेसे, भली प्रकार गुरुकी सेवा करनेसे, यथायोग्य योगसाधनोपयोगी आहार करनेसे, वेदादिका भली प्रकार अध्ययन करनेसे, कर्मोंको भली-भाँति भगवत्समर्पण करनेसे और चित्तका भली प्रकार निरोध करनेसे मनुष्य परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ ७८-७९ ॥

एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ॥ ८० ॥

संसारको जीतनेकी इच्छावाले बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार राग-द्वेषसे मुक्त होकर कर्म करते हैं। इन्हीं नियमोंके पालनसे देवतालोग ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हैं ॥ ८० ॥

रुद्राः साध्यास्तथाऽऽदित्या वसवोऽथ तथाश्विनौ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ॥ ८१ ॥

रुद्र, साध्य, आदित्य, वसु तथा दोनों अश्विनीकुमार योगजनित ऐश्वर्यसे युक्त होकर इन प्रजाजनोंका धारण-पोषण करते हैं ॥ ८१ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम्।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत ॥ ८२ ॥

कुन्तीनन्दन! इसी प्रकार आप भी मन और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें करके तपस्याद्वारा सिद्धि तथा योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी चेष्टा कीजिये ॥ ८२ ॥

पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ॥ ८३ ॥

यज्ञ, युद्धादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि पितृ-मातृमयी (परलोक और इहलोकमें भी लाभ पहुँचानेवाली) है, जो आपको प्राप्त हो चुकी है। अब तपस्याद्वारा वह योगसिद्धि प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये, जिससे ब्राह्मणोंका भरण-पोषण हो सके ॥ ८३ ॥

सिद्धा हि यद् यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात्।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वात्ममनोरथम् ॥ ८४ ॥

सिद्ध पुरुष जो-जो वस्तु चाहते हैं, उसे अपने तपके प्रभावसे प्राप्त कर लेते हैं। अतः आप तपस्याका आश्रय लेकर अपने मनोरथकी पूर्ति कीजिये ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अरण्यपर्वणि पाण्डवानां प्रव्रजने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आरण्यकपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पाण्डवोंका प्रव्रजन (वन-गमन) विषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अन्नके लिये भगवान् सूर्यकी उपासना और उनसे अक्षयपात्रकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृमध्येऽब्रवीदिदम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शौनकके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने पुरोहितके पास आकर भाइयोंके बीचमें इस प्रकार बोले—॥ १॥

प्रस्थितं मानुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः।
न चास्मि पोषणे शक्तो बहुदुःखसमन्वितः॥ २॥

'विप्रवर! ये वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण मेरे साथ वनमें चल रहे हैं। परंतु मैं इनका पालन-पोषण करनेमें असमर्थ हूँ, यह सोचकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है॥ २॥

परित्यक्तुं न शक्तोऽस्मि दानशक्तिश्च नास्ति मे।
कथमत्र मया कार्यं तद् ब्रूहि भगवन् मम॥ ३॥

'भगवन्! मैं इन सबका त्याग नहीं कर सकता; परंतु इस समय मुझमें इन्हें अन्न देनेकी शक्ति नहीं है। ऐसी अवस्थामें मुझे क्या करना चाहिये? यह कृपा करके बताइये'॥

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणान्विष्य तां गतिम्।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृतां वरः॥ ४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धौम्य मुनिने युधिष्ठिरका प्रश्न सुनकर दो घड़ीतक ध्यान-सा लगाया और धर्मपूर्वक उस उपायका अन्वेषण करनेके पश्चात् उनसे इस प्रकार कहा॥ ४॥

धौम्य उवाच

पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम्।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता यथा॥ ५॥
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः॥ ६॥

धौम्य बोले—राजन्! सृष्टिके प्रारम्भकालमें जब सभी प्राणी भूखसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे, तब भगवान् सूर्यने पिताकी भाँति उन सबपर दया करके उत्तरायणमें जाकर अपनी किरणोंसे पृथ्वीका रस (जल) खींचा और दक्षिणायनमें लौटकर पृथ्वीको उस रससे आविष्ट किया॥ ५-६॥

क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः।
दिवस्तेजः समुद्धृत्य जनयामास वारिणा॥ ७॥

इस प्रकार जब सारे भूमण्डलमें क्षेत्र तैयार हो गया, तब ओषधियोंके स्वामी चन्द्रमाने अन्तरिक्षमें मेघोंके रूपमें परिणत हुए सूर्यके तेजको प्रकट करके उसके द्वारा बरसाये हुए जलसे अन्न आदि ओषधियोंको उत्पन्न किया॥ ७॥

निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः स्वयोनौ निर्गते रविः।
ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि॥ ८॥

चन्द्रमाकी किरणोंसे अभिषिक्त हुआ सूर्य जब अपनी प्रकृतिमें स्थित हो जाता है, तब छः प्रकारके रसोंसे युक्त पवित्र ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। वही पृथ्वीमें प्राणियोंके लिये अन्न होता है॥ ८॥

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम्।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रज॥ ९॥

इस प्रकार सभी जीवोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाला अन्न सूर्यरूप ही है। अतः भगवान् सूर्य ही समस्त प्राणियोंके पिता हैं, इसलिये तुम उन्हींकी शरणमें जाओ॥ ९॥

राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम्॥ १०॥

जो जन्म और कर्म दोनों ही दृष्टियोंसे परम उज्ज्वल हैं, ऐसे महात्मा राजा भारी तपस्याका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्रजाजनोंका संकटसे उद्धार करते हैं॥ १०॥

भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च।
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः॥ ११॥

भीम, कार्तवीर्य अर्जुन, वेनपुत्र पृथु तथा नहुष आदि नरेशोंने तपस्या, योग और समाधिमें स्थित होकर भारी आपत्तियोंसे प्रजाको उबारा है॥ ११॥

तथा त्वमपि धर्मात्मन् कर्मणा च विशोधितः।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन् भर भारत॥ १२॥

धर्मात्मा भारत! इसी प्रकार तुम भी सत्कर्मसे शुद्ध होकर तपस्याका आश्रय ले धर्मानुसार द्विजातियोंका भरण-पोषण करो॥ १२॥

जनमेजय उवाच

कथं कुरूणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः।
विप्रार्थमाराधितवान् सूर्यमद्भुतदर्शनम्॥ १३॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये, जिनका दर्शन अत्यन्त अद्भुत है, उन भगवान् सूर्यकी आराधना किस प्रकार की?॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः।
क्षणं च कुरु राजेन्द्र सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १४॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजेन्द्र ! मैं सब बातें बता रहा हूँ। तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर सुनो और धैर्य रक्खो ॥ १४ ॥

धौम्येन तु यथा पूर्वं पार्थाय सुमहात्मने।
नामाष्टशतमाख्यातं तच्छृणुष्व महामते ॥ १५ ॥

महामते ! धौम्यने जिस प्रकार महात्मा युधिष्ठिरको पहले भगवान् सूर्यके एक सौ आठ नाम बताये थे, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १५ ॥

धौम्य उवाच

सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ॥ १६ ॥
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम्।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥ १७ ॥
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वै वरुणो यमः ॥ १८ ॥
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः।
धर्मध्वजो वेदकर्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ॥ १९ ॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वमलाश्रयः।
कला काष्ठा मुहूर्ताश्च क्षपा यामस्तथा क्षणः ॥ २० ॥
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ॥ २१ ॥
कालाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्मा तमोनुदः।
वरुणः सागरोऽंशुश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥ २२ ॥
भूताश्रयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः।
स्रष्टा संवर्तको वह्निः सर्वस्यादिरलोलुपः ॥ २३ ॥
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतोमुखः।
जयो विशालो वरदः सर्वधातुनिषेचिता ॥ २४ ॥
मनःसुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारकः।
धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥ २५ ॥
द्वादशात्मारविन्दाक्षः पिता माता पितामहः।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥ २६ ॥
देहकर्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेयः करुणान्वितः ॥ २७ ॥
एतद् वै कीर्तनीयस्य सूर्यस्यामिततेजसः।
नामाष्टशतकं चेदं प्रोक्तमेतत् स्वयंभुवा ॥ २८ ॥

धौम्य बोले—१ सूर्य, २ अर्यमा, ३ भग, ४ त्वष्टा, ५ पूषा, ६ अर्क, ७ सविता, ८ रवि, ९ गभस्तिमान्, १० अज, ११ काल, १२ मृत्यु, १३ धाता, १४ प्रभाकर, १५ पृथिवी, १६ आप, १७ तेज, १८ ख (आकाश), १९ वायु, २० परायण, २१ सोम, २२ बृहस्पति, २३ शुक्र, २४ बुध, २५ अङ्गारक (मङ्गल), २६ इन्द्र, २७ विवस्वान्, २८ दीप्तांशु, २९ शुचि, ३० शौरि, ३१ शनैश्चर, ३[२] ब्रह्मा, ३३ विष्णु, ३४ रुद्र, ३५ स्कन्द, ३६ वरुण, ३[७] यम, ३८ वैद्युताग्नि, ३९ जाठराग्नि, ४० ऐन्धनाग्नि, ४[१] तेजःपति, ४२ धर्मध्वज, ४३ वेदकर्ता, ४४ वेदाङ्ग, ४[५] वेदवाहन, ४६ कृत, ४७ त्रेता, ४८ द्वापर, ४९ सर्वमला[-]श्रय कलि, ५० कला-काष्ठा-मुहूर्तरूप समय, ५१ क्ष[पा] (रात्रि), ५२ याम, ५३ क्षण, ५४ संवत्सरकर, ५[५] अश्वत्थ, ५६ कालचक्रप्रवर्तक विभावसु, ५७ शाश्वत पुरु[ष], ५८ योगी, ५९ व्यक्ताव्यक्त, ६० सनातन, ६१ कालाध्यक्ष, ६२ प्रजाध्यक्ष, ६३ विश्वकर्मा, ६४ तमोनुद, ६५ वरु[ण], ६६ सागर, ६७ अंशु, ६८ जीमूत, ६९ जीवन, ७० अरिहा, ७१ भूताश्रय, ७२ भूतपति, ७३ सर्वलोकनमस्कृत, ७[४] स्रष्टा, ७५ संवर्तक, ७६ वह्नि, ७७ सर्वादि, ७८ अलोलुप, ७९ अनन्त, ८० कपिल, ८१ भानु, ८२ कामद, ८[३] सर्वतोमुख, ८४ जय, ८५ विशाल, ८६ वरद, ८७ सर्वधातु[-]निषेचिता, ८८ मनःसुपर्ण, ८९ भूतादि, ९० शीघ्रग, ९[१] प्राणधारक, ९२ धन्वन्तरि, ९३ धूमकेतु, ९४ आदिदेव, ९[५] अदितिसुत, ९६ द्वादशात्मा, ९७ अरविन्दाक्ष, ९८ पिता[-]माता-पितामह, ९९ स्वर्गद्वार-प्रजाद्वार, १०० मोक्षद्वार[-]त्रिविष्टप, १०१ देहकर्ता, १०२ प्रशान्तात्मा, १०३ विश्वात्मा, १०४ विश्वतोमुख, १०५ चराचरात्मा, १०६ सूक्ष्मात्मा, १०[७] मैत्रेय तथा १०८ करुणान्वित—ये अमिततेजस्वी भगवान् सूर्य[के] कीर्तन करनेयोग्य एक सौ आठ नाम हैं, जिनका उपदे[श] साक्षात् ब्रह्माजीने किया है ॥ १६—२८ ॥

सुरगणपितृयक्षसेवितं
ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम्।
वरकनकहुताशनप्रभं
प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम् ॥ २९ ॥

(इन नामोंका उच्चारण करके भगवान् सूर्यको इ[स] प्रकार नमस्कार करना चाहिये।) समस्त देवता, पितर औ[र] यक्ष जिनकी सेवा करते हैं, असुर, राक्षस तथा सिद्ध जिन[की] वन्दना करते हैं तथा जो उत्तम सुवर्ण और अग्निके सम[ान] कान्तिमान् हैं, उन भगवान् भास्करको मैं अपने हितके लि[ये] प्रणाम करता हूँ ॥ २९ ॥

सूर्योदये यः सुसमाहितः पठेत्
स पुत्रदारान् धनरत्नसंचयान्।
लभेत जातिस्मरतां नरः सदा
धृतिं च मेधां च स विन्दते पुमान् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य सूर्योदयके समय भलीभाँति एकाग्रचित्त हो [इन] नामोंका पाठ करता है, वह स्त्री, पुत्र, धन, रत्नराशि, पूर्वजन्म[की] स्मृति, धैर्य तथा उत्तम बुद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

इमं स्तवं देववरस्य यो नरः
प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः ।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागरा-
ल्लभेत कामान् मनसा यथेप्सितान् ॥ ३१॥

जो मानव स्नान आदि करके पवित्र, शुद्धचित्त एवं एकाग्र हो देवेश्वर भगवान् सूर्यके इस नामात्मक स्तोत्रका कीर्तन करता है, वह शोकरूपी दावानलसे युक्त दुस्तर संसारसागरसे मुक्त हो मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः ।
विप्रत्यागसमाधिस्थः संयतात्मा दृढव्रतः ॥ ३२ ॥
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम् ।
पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ॥ ३३ ॥
सोऽवगाह्य जलं राजा देवस्याभिमुखोऽभवत् ।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ॥ ३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! पुरोहित धौम्यके इस प्रकार समयोचित बात कहनेपर ब्राह्मणोंको देनेके लिये अन्नकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नियममें स्थित हो मनको वशमें रखकर दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए शुद्धचेता धर्मराज युधिष्ठिर-ने उत्तम तपस्याका अनुष्ठान आरम्भ किया । राजा युधिष्ठिरने गङ्गाजीके जलमें स्नान करके पुष्प और नैवेद्य आदि उपहारों-द्वारा भगवान् दिवाकरकी पूजा की और उनके सम्मुख मुँह करके खड़े हो गये । धर्मात्मा पाण्डुकुमार चित्तको एकाग्र करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए केवल वायु पीकर रहने लगे ॥ ३२–३४ ॥

गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान् ।
शुचिः प्रयतवाग् भूत्वा स्तोत्रमारब्धवांस्ततः ॥ ३५॥

गङ्गाजलका आचमन करके पवित्र हो वाणीको वशमें रखकर तथा प्राणायामपूर्वक स्थित रहकर उन्होंने पूर्वोक्त अष्टोत्तरशतनामात्मक स्तोत्रका जप किया ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम् ।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ॥ ३६॥

युधिष्ठिर बोले--सूर्यदेव ! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं । आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार हैं ॥३६॥

त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम् ।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ॥ ३७ ॥

सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान आप ही हैं । आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं । आप ही मोक्षके उन्मुक्त द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं ॥ ३७ ॥

त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते ।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया ॥ ३८॥

आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं । आपसे ही यह प्रकाशित होता है । आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थभावसे उसका पालन किया जाता है ॥३८॥

त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रैरर्चन्त्यृषिगणार्चितम् ॥ ३९ ॥

सूर्यदेव ! आप ऋषिगणोंद्वारा पूजित हैं । वेदके तत्त्वज्ञ ब्राह्मणलोग अपनी-अपनी वेदशाखाओंमें वर्णित मन्त्रोंद्वारा उचित समयपर उपस्थान करके आपका पूजन किया करते हैं ॥

तव दिव्यं रथं यान्तमनुयान्ति वरार्थिनः ।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुह्यकपन्नगाः ॥ ४० ॥

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक और नाग आपसे वर पानेकी अभिलाषासे आपके गतिशील दिव्य रथके पीछे-पीछे चलते हैं ॥ ४० ॥

त्रयस्त्रिंशच्च वै देवास्तथा वैमानिका गणाः ।
सोपेन्द्राः समहेन्द्राश्च त्वामिष्ट्वा सिद्धिमागताः ॥ ४१ ॥

तैंतीस[1] देवता एवं विमानचारी सिद्धगण भी उपेन्द्र तथा महेन्द्र-सहित आपकी आराधना करके सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ४१ ॥

उपयान्त्यर्चयित्वा तु त्वां वै प्राप्तमनोरथाः ।
दिव्यमन्दारमालाभिस्तूर्णं विद्याधरोत्तमाः ॥ ४२ ॥
गुह्याः पितृगणाः सप्त ये दिव्या ये च मानुषाः ।
ते पूजयित्वा त्वामेव गच्छन्त्याशु प्रधानताम् ॥ ४३ ॥
वसवो मरुतो रुद्रा ये च साध्या मरीचिपाः ।
वालखिल्यादयः सिद्धाः श्रेष्ठत्वं प्राणिनां गताः ॥ ४४ ॥

श्रेष्ठ विद्याधरगण दिव्य मन्दार-कुसुमोंकी मालाओंसे आपकी पूजा करके सफलमनोरथ हो तुरंत आपके समीप पहुँच जाते हैं । गुह्यक, सात[2] प्रकारके पितृगण तथा दिव्य मानव (सनकादि) आपकी ही पूजा करके श्रेष्ठ पदको प्राप्त करते हैं । वसुगण, मरुद्गण, रुद्र, साध्य तथा आपकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य आदि सिद्ध महर्षि आपकी ही आराधनासे सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ हुए हैं ॥४२-४४॥

सब्रह्मकेषु लोकेषु सप्तस्वप्यखिलेषु च ।
न तद्भूतमहं मन्ये यदर्कादतिरिच्यते ॥ ४५ ॥
सन्ति चान्यानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
न तु तेषां तथा दीप्तिः प्रभावो वा यथा तव ॥ ४६ ॥

---

१. बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं ।

२. सभापर्वके ११ वें अध्याय श्लोक ४६, ४७ में सात पितरोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य, एकशृङ्ग, चतुर्वेद और कला ।

फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे ।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यं ते भविष्यति ॥ ७२ ॥

राजन् ! यह मेरी दी हुई ताँबेकी बटलोई लो । सुव्रत ! तुम्हारे रसोईघरमें इस पात्रद्वारा फल, मूल, भोजन करनेके योग्य अन्य पदार्थ तथा साग आदि जो चार प्रकारकी भोजन-सामग्री तैयार होगी, वह तबतक अक्षय बनी रहेगी, जबतक द्रौपदी स्वयं भोजन न करके परोसती रहेगी ॥ ७२-७३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे भूयो राज्यमवाप्स्यसि ।

आजसे चौदहवें वर्षमें तुम अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लोगे ॥ ७३½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७४ ॥

इमं स्तवं प्रयतमनाः समाधिना
पठेदिहान्योऽपि वरं समर्थयन् ।
तत् तस्य दद्याच्च रविर्मनीषितं
तदाप्नुयाद् यद्यपि तत् सुदुर्लभम् ॥ ७५ ॥

जो कोई अन्य पुरुष भी मनको संयममें रखकर चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करके इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह यदि कोई अत्यन्त दुर्लभ वर भी माँगे, तो भगवान् सूर्य उसकी उस मनोवाञ्छित वस्तुको दे सकते हैं ॥ ७५ ॥

यश्चेदं धारयेन्नित्यं शृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम् ।
विद्यार्थी लभते विद्यां पुरुषोऽप्यथवा स्त्रियः ॥ ७६ ॥

जो प्रतिदिन इस स्तोत्रको धारण करता अथवा बार-बार सुनता है, वह यदि पुत्रार्थी हो तो पुत्र पाता है, धन चाहता हो तो धन पाता है, विद्याकी अभिलाषा रखता हो तो उसे विद्या प्राप्त होती है और पत्नीकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको पत्नी सुलभ होती है ॥ ७६ ॥

उभे संध्ये पठेन्नित्यं नारी वा पुरुषो यदि ।
आपदं प्राप्य मुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ ७७ ॥

स्त्री हो या पुरुष यदि दोनों संध्याओंके समय इस स्तोत्र-का पाठ करता है, तो आपत्तिमें पड़कर भी उससे मुक्त हो जाता है । बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ७७ ॥

एतद् ब्रह्मा ददौ पूर्वं शक्राय सुमहात्मने ।
शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यस्तु तदनन्तरम् ।
धौम्याद् युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान् कामानवाप्तवान् ॥ ७८ ॥

यह स्तुति सबसे पहले ब्रह्माजीने महात्मा इन्द्रको दी, इन्द्रसे नारदजीने और नारदजीसे धौम्यने इसे प्राप्त किया । धौम्यसे इसका उपदेश पाकर राजा युधिष्ठिरने अपनी सब कामनाएँ प्राप्त कर लीं ॥ ७८ ॥

संग्रामे च जयेन्नित्यं विपुलं चाप्नुयाद् वसु ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं स गच्छति ॥ ७९ ॥

जो इसका अनुष्ठान करता है, वह सदा संग्राममें विजयी होता है, बहुत धन पाता है, सब पापोंसे मुक्त होता और अन्तमें सूर्यलोकको जाता है ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो जलादुत्तीर्य धर्मवित् ।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातॄंश्च परिषस्वजे ॥ ८० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पूर्वोक्त वर पाकर धर्मके ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर गङ्गाजीके जलसे बाहर निकले । उन्होंने धौम्यजीके दोनों चरण पकड़े और भाइयोंको हृदयसे लगा लिया ॥ ८० ॥

द्रौपद्या सह संगम्य वन्द्यमानस्तया प्रभुः ।
महानसे तदानीं तु साधयामास पाण्डवः ॥ ८१ ॥

द्रौपदीने उन्हें प्रणाम किया और वे उससे प्रेमपूर्वक मिले । फिर उसी समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने चूल्हेपर बटलोई रखकर रसोई तैयार करायी ॥ ८१ ॥

संस्कृतं प्रसवं याति स्वल्पमन्नं चतुर्विधम् ।
अक्षय्यं वर्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ॥ ८२ ॥

उसमें तैयार की हुई चार प्रकारकी थोड़ी-सी भी रसोई उस पात्रके प्रभावसे बढ़ जाती और अक्षय हो जाती थी । उसीसे वे ब्राह्मणोंको भोजन कराने लगे ॥ ८२ ॥

भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वानुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञं तु पश्चाद् भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर अपने छोटे भाइयोंको भी भोजन करानेके पश्चात् 'विघस' संज्ञक अवशिष्ट अन्न युधिष्ठिर सबसे पीछे खाते थे ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ।
द्रौपद्यां भुज्यमानायां तदन्नं क्षयमेति च ।
एवं दिवाकरात् प्राप्य दिवाकरसमप्रभः ॥ ८४ ॥
कामान् मनोऽभिलषितान् ब्राह्मणेभ्योऽददात् प्रभुः ।
पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।
यज्ञियार्थाः प्रवर्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिरको भोजन कराकर द्रौपदी शेष अन्न खाती थी । द्रौपदीके भोजन कर लेनेपर उस पात्रका अन्न समाप्त हो जाता था । इस प्रकार सूर्यसे मनोवाञ्छित वर

भगवान् सूर्यका युधिष्ठिरको अक्षयपात्र देना

पाकर उन्हींके समान तेजस्वी प्रभावशाली राजा युधिष्ठिर ब्राह्मणोंको नियमपूर्वक अन्नदान करने लगे। पुरोहितोंको आगे करके उत्तम तिथि, नक्षत्र एवं पर्वोपर विधि और मन्त्रके प्रमाणके अनुसार उनके यज्ञसम्बन्धी कार्य होने लगे ॥८४-८५॥

ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥ ८६ ॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचन कराकर ब्राह्मणसमुदायसे घिरे हुए पाण्डव धौम्यजीके साथ काम्यकवनको चले गये ॥८६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रको हितकी सलाह देना और धृतराष्ट्रका रुष्ट होकर महलमें चला जाना

वैशम्पायन उवाच

वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु
प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः।
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं
सुखासीनो वाक्यमुवाच राजा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डव वनमें चले गये, तब प्रज्ञाचक्षु अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र मन-ही-मन संतप्त हो उठे। उन्होंने अगाधबुद्धि धर्मात्मा विदुरको बुलाकर स्वयं सुखद आसनपर बैठे हुए उनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा
धर्मं च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम्।
समश्च त्वं सम्मतः कौरवाणां
पथ्यं चैषां मम चैव ब्रवीहि ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! तुम्हारी बुद्धि शुक्राचार्यके समान शुद्ध है। तुम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म श्रेष्ठ धर्मको जानते हो। तुम्हारी सबके प्रति समान दृष्टि है और कौरव तथा पाण्डव सभी तुम्हारा सम्मान करते हैं। अतः मेरे तथा इन पाण्डवोंके लिये जो हितकर कार्य हो, वह मुझे बताओ ॥ २ ॥

एवंगते विदुर यदद्य कार्यं
पौराश्च मे कथमस्मान् भजेरन्।
ते चाप्यस्मान् नोद्धरेयुः समूलां-
स्तत्त्वं ब्रूयाः साधु कार्याणि वेत्सि ॥ ३ ॥

विदुर! ऐसी दशामें अब हमारा जो कर्तव्य हो वह बताओ। ये पुरवासी कैसे हमलोगोंसे प्रेम करेंगे। तुम ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे वे पाण्डव हमलोगोंको जड़-मूलसहित उखाड़ न फेंकें। तुम अच्छे कार्योंको जानते हो। अतः हमें ठीक-ठीक कर्तव्यका निर्देश करो ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र
राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।
धर्मे राजन् वर्तमानः स्वशक्त्या
पुत्रान् सर्वान् पाहि पाण्डोः सुतांश्च ॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—नरेन्द्र! धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी प्राप्तिका मूल कारण धर्म ही है। धर्मात्मा पुरुष इस राज्यकी जड़ भी धर्मको ही बतलाते हैं, अतः महाराज! आप धर्मके मार्गपर स्थिर रहकर यथाशक्ति अपने तथा पाण्डुके सब पुत्रोंका पालन कीजिये ॥ ४ ॥

स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां
पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः।
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां
पराजैषीत् सत्यसंधं सुतस्ते ॥ ५ ॥

शकुनि आदि पापात्माओंने द्यूतसभामें उस धर्मके साथ विश्वासघात किया; क्योंकि आपके पुत्रने सत्यप्रतिज्ञ कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिरको बुलाकर उन्हें कपटपूर्वक पराजित किया है ॥ ५ ॥

एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राज-
ञ्छेषस्याहं परिपश्याम्युपायम्।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापा-
न्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु ॥ ६ ॥

कुरुराज! दुरात्माओंद्वारा पाण्डवोंके प्रति किये हुए इस दुर्व्यवहारकी शान्तिका उपाय मैं जानता हूँ, जिससे आपका पुत्र दुर्योधन पापसे मुक्त हो लोकमें भलीभाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करे ॥ ६ ॥

तद् वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां
यत् तद् राजन्नभिसृष्टं त्वयाऽऽसीत्।
एष धर्मः परमो यत् स्वकेन
राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत् ॥ ७ ॥

आपने पाण्डवोंको जो राज्य दिया था, वह सब उन्हें मिल जाना चाहिये। राजाके लिये यह सबसे बड़ा धर्म है कि वह अपने धनसे संतुष्ट रहे। दूसरेके धनपर लोभभरी दृष्टि न डाले ॥७॥

यशो न नश्येज्ज्ञातिभेदश्च न स्याद्
धर्मो न स्यान्नैव चैवं कृते त्वाम्।
एतत् कार्यं तव सर्वप्रधानं
तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ॥ ८ ॥

ऐसा कर लेनेपर आपके यशका नाश नहीं होगा, भाइयोंमें फूट नहीं होगी और आपको धर्मकी भी प्राप्ति होगी। आपके लिये सबसे प्रमुख कार्य यह है कि पाण्डवोंको संतुष्ट करें और शकुनिका तिरस्कार करें ॥ ८ ॥

एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्या-
देतद् राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व।
तथैतदेवं न करोषि राजन्
ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ॥ ९ ॥

राजन्! ऐसा करनेपर भी यदि आपके पुत्रोंका भाग्य शेष होगा तो उनका राज्य उनके पास रह जायगा; अतः आप शीघ्र ही यह काम कर डालिये। महाराज! यदि आप ऐसा न करेंगे तो कौरवकुलका निश्चय ही नाश हो जायगा ॥

न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा
शेषं कुर्याच्छात्रवाणामनीके।
येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो
धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम् ॥ १० ॥
येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा
तेषां लोके किं नु न प्राप्यमस्ति।
उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते
मया यत् ते हितमासीत् तदानीम् ॥ ११ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन अथवा अर्जुन अपने शत्रुओंकी सेनामें किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे। अस्त्रविद्यामें निपुण सव्यसाची अर्जुन जिनके योद्धा हैं, सम्पूर्ण लोकोंका सारभूत गाण्डीव जिनका धनुष है तथा अपने बाहुबलसे सुशोभित होनेवाले भीमसेन जिनकी ओरसे युद्ध करनेवाले हैं, उन पाण्डवोंके लिये संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त न हो सके। आपके पुत्र दुर्योधनके जन्म लेते ही मुझे उस समय जो हितकी बात जान पड़ी, वह मैंने पहले ही बता दी थी ॥ १०-११ ॥

पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्य
हितं परं न च तत् त्वं चकर्थ।
इदं च राजन् हितमुक्तं न चेत् त्व-
मेवं कर्ता परितप्तासि पश्चात् ॥ १२ ॥

मैंने साफ कह दिया था कि आपका यह पुत्र समस्त कुलका अहित करनेवाला है, अतः इसको त्याग दीजिये परंतु आपने मेरी उत्तम और सात्त्विक सलाहके अनुसार कार्य नहीं किया। राजन्! इस समय भी मैंने जो यह आपके हितकी बात बतायी है यदि उसे आप नहीं करेंगे तो आपको बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ १२ ॥

यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते
सम्प्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम्।
तापो न ते भविता प्रीतियोगा-
न्न चेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय ॥ १३॥

यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवोंके साथ एक राज्य बनानेकी बात मान ले तो आपको पश्चात्ताप नहीं होगा, प्रसन्नता ही प्राप्त होगी। यदि दुर्योधन आपकी बात न माने तो समस्त कुलको सुख पहुँचानेके लिये आप अपने उस पुत्रपर नियन्त्रण कीजिये ॥ १३ ॥

दुर्योधनं त्वहितं वै निगृह्य
पाण्डोः पुत्रं कुरुष्वाधिपत्ये।
अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो
धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ॥ १४॥

इस प्रकार अहितकारक दुर्योधनको काबूमें करके आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको राज्यपर अभिषिक्त कर दीजिये; क्योंकि वे अजातशत्रु हैं। उनका किसीसे राग या द्वेष नहीं है। राजन्! वे ही इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करेंगे ॥ १४॥

ततो राजन् पार्थिवाः सर्व एव
वैश्या इवास्माननुपतिष्ठन्तु सद्यः।
दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रः
प्रीत्या राजन् पाण्डुपुत्रान् भजन्तु ॥ १५॥

महाराज! यदि ऐसा हुआ तो भूमण्डलके समस्त राजा वैश्योंकी भाँति उपहार ले हम कौरवोंकी सेवामें शीघ्र उपस्थित होंगे। राजराजेश्वर! दुर्योधन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण प्रेमपूर्वक पाण्डवोंको अपनावें ॥ १५ ॥

दुःशासनो याचतु भीमसेनं
सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च।
युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व
राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ॥ १६॥

दुःशासन भरी सभामें भीमसेन तथा द्रौपदीसे क्षमा माँगे और आप युधिष्ठिरको भलीभाँति सान्त्वना दे सम्मानपूर्वक इस राज्यपर बिठा दीजिये ॥ १६ ॥

त्वया पृष्टः किमहमन्यद् वदेय-
मेतत् कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन् ॥ १७॥

कुरुराज! आपने हितकी बात पूछी है तो मैं इस

सिवा और क्या बताऊँ । यह सब कर लेनेपर आप कृतकृत्य हो जायँगे ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एतद् वाक्यं विदुर यत् ते सभाया-
मिह प्रोक्तं पाण्डवान् प्राप्य मां च ।
हितं तेषामहितं मामकाना-
मेतत् सर्वं मम नावैति चेतः ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुमने यहाँ सभामें पाण्डवोंके तथा मेरे विषयमें जो बात कही है, वह पाण्डवोंके लिये तो हितकर है, पर मेरे पुत्रोंके लिये अहितकारक है; अतः यह सब मेरा मन स्वीकार नहीं करता है ॥ १८ ॥

इदं त्विदानीं गत एव निश्चितं
तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ ।
तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति
कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम् ॥ १९ ॥

इस समय तुम जो कुछ कह रहे हो इससे यह भलीभाँति निश्चय होता है कि तुम पाण्डवोंके हितके लिये ही यहाँ आये थे । तुम्हारे आजके ही व्यवहारसे मैं समझ गया कि तुम मेरे हितैषी नहीं हो । मैं पाण्डवोंके लिये अपने पुत्रोंको कैसे त्याग दूँ ॥ १९ ॥

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा
दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति
को नु ब्रूयात् समतामन्ववेक्ष्य ॥ २० ॥

इसमें संदेह नहीं कि पाण्डव भी मेरे पुत्र हैं, पर दुर्योधन साक्षात् मेरे शरीरसे उत्पन्न हुआ है । समताकी ओर दृष्टि रखते हुए भी कौन किसको ऐसी बातें कहेगा कि तुम दूसरेके हितके लिये अपने शरीरका त्याग कर दो ॥ २० ॥

स मां जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि
मानं च तेऽहमधिकं धारयामि ।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं
सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति ॥ २१ ॥

विदुर ! मैं तुम्हारा अधिक सम्मान करता हूँ; किंतु तुम मुझे सब कुटिलतापूर्ण सलाह दे रहे हो । अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, चले जाओ या रहो । तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । कुलटा स्त्रीको कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह स्वामीको त्याग ही देती है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्य-
दन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन् ।
नेदमस्तीत्यथ विदुरो भाषमाणः
सम्प्राद्रवद् यत्र पार्था बभूवुः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र सहसा उठकर महलके भीतर चले गये । तब विदुरने यह कहकर कि अब इस कुलका नाश अवश्यम्भावी है, जहाँ पाण्डव थे, वहाँ चले गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरवाक्यप्रत्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरवाक्यप्रत्याख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें प्रवेश और विदुरजीका वहाँ जाकर उनसे मिलना और बातचीत करना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः ।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात् कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भरतवंशशिरोमणि पाण्डव वनवासके लिये गङ्गाजीके तटसे अपने साथियोंसहित कुरुक्षेत्रमें गये ॥ १ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां च निषेव्य ते ।
ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥

उन्होंने क्रमशः सरस्वती, दृषद्वती और यमुना नदीका सेवन करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश किया । इस प्रकार वे निरन्तर पश्चिम दिशाकी ओर बढ़ते गये ॥ २ ॥

ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु ।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर सरस्वती-तट तथा मरुभूमि एवं वन्य प्रदेशोंकी यात्रा करते हुए उन्होंने काम्यकवनका दर्शन किया, जो ऋषि-मुनियोंके समुदायको बहुत ही प्रिय था ॥ ३ ॥

तत्र ते न्यवसन् वीरा वने बहुमृगद्विजे ।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्व्यमानाश्च भारत ॥ ४ ॥

भारत ! उस वनमें बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते थे । वहाँ मुनियोंने उन्हें बिठाया और बहुत सान्त्वना दी । फिर वे वीर पाण्डव वहीं रहने लगे ॥ ४ ॥

विदुरस्त्वथ पाण्डूनां सदा दर्शनलालसः ।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ॥ ५ ॥

इधर विदुरजी सदा पाण्डवोंको देखनेके लिये उत्सुक रहा करते थे। वे एकमात्र रथके द्वारा काम्यकवनमें गये, जो वनोचित सम्पत्तियोंसे भरा-पूरा था ॥ ५ ॥

ततो गत्वा विदुरः काम्यकं त-
च्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन।
ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते
सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥ ६ ॥

शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा खींचे जानेवाले रथसे काम्यक वनमें पहुँचकर विदुरजीने देखा धर्मात्मा युधिष्ठिर एकान्त प्रदेशमें द्रौपदी, भाइयों तथा ब्राह्मणोंके साथ बैठे हैं ॥ ६ ॥

ततोऽपश्यद् विदुरं तूर्णमारा-
दभ्यायान्तं सत्यसंधः स राजा।
अथाब्रवीद् भ्रातरं भीमसेनं
किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ॥ ७ ॥

सत्यप्रतिज्ञ राजा युधिष्ठिरने जब बड़ी उतावलीके साथ विदुरजीको अपने निकट आते देखा, तब भाई भीमसेनसे कहा—'ये विदुरजी हमारे पास आकर न जाने क्या कहेंगे ॥ ७ ॥

कच्चिन्नायं वचनात् सौबलस्य
समाह्वाता देवनायोपयातः।
कच्चित् क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि
जेष्यत्यस्मान् पुनरेवाक्षवत्याम् ॥ ८ ॥

'ये शकुनिके कहनेसे हमें फिर जूआ खेलनेके लिये बुलाने तो नहीं आ रहे हैं। कहीं नीच शकुनि हमें फिर द्यूत-सभामें बुलाकर हमारे आयुधोंको तो जीत नहीं लेगा ॥ ८ ॥

समाहूतः केनचिदाद्रवेति
नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम्।
गाण्डीवे च संशयिते कथं नु
राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ॥ ९ ॥

'भीमसेन! आओ, कहकर यदि कोई मुझे (युद्ध या द्यूतके लिये) बुलावे, तो मैं पीछे नहीं हट सकता। ऐसी दशामें यदि हम गाण्डीव धनुष किसी तरह जूएमें हार गये, तो हमारी राज्य-प्राप्ति संशयमें पड़ जायगी' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः
प्रत्यगृह्णन् नृपते सर्व एव।
तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो
यथोचितं पाण्डुपुत्रान् समेयात् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सब पाण्डवोंने उठकर विदुरजीकी अगवानी की। उनके द्वारा किया हुआ यथोचित स्वागत-सत्कार ग्रहण करके अजमीढवंशी विदुर पाण्डवोंसे मिले ॥ १० ॥
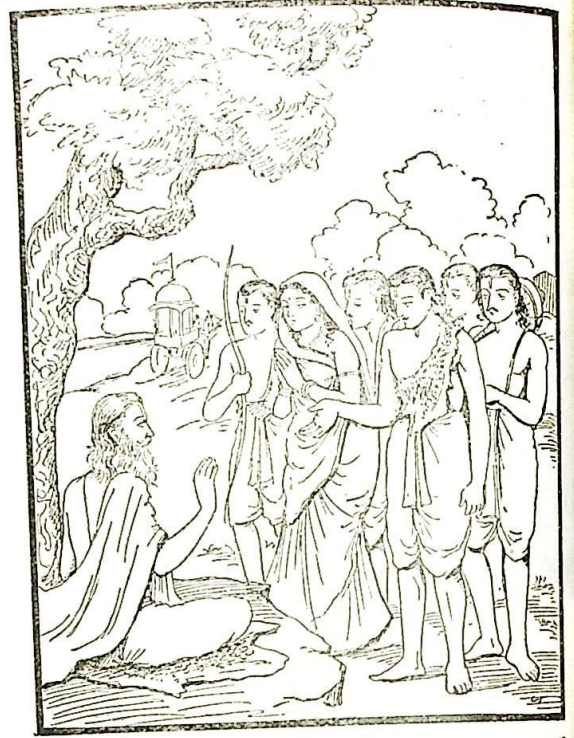
समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभा-
स्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम्।
स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस
यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ॥ ११ ॥

विदुरजीके आदर-सत्कार पानेपर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उनसे वनमें आनेका कारण पूछा। उनके पूछनेपर विदुरने भी अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने जैसा बर्ताव किया था, वह सब विस्तारपूर्वक कह सुनाया ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अवोचन्मां धृतराष्ट्रोऽनुगुप्त-
मजातशत्रो परिगृह्याभिपूज्य।
एवं गते समतामभ्युपेत्य
पथ्यं तेषां मम चैव ब्रवीहि ॥ १२ ॥

विदुरजी बोले—अजातशत्रो! राजा धृतराष्ट्रने मुझे अपना रक्षक समझकर बुलाया और मेरा आदर करके कहा 'विदुर! आजकी परिस्थितिमें समभाव रखकर तुम ऐसे कोई उपाय बताओ, जो मेरे और पाण्डवोंके लिये हितकर हो' ॥ १२ ॥

मयाप्युक्तं यत् क्षेमं कौरवाणां
हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव।
तद् वै तस्मै न रुचामभ्युपैति
ततश्चाहं क्षेममन्यन्न मन्ये ॥ १३ ॥

तब मैंने भी ऐसी बातें बतायीं, जो सर्वथा उचित तथा कौरववंश एवं धृतराष्ट्रके लिये भी हितकर और लाभदायक थीं। वह बात उनको नहीं रुची और मैं उसके सिवा दूसरी कोई बात उचित नहीं समझता था ॥ १३ ॥

परं श्रेयः पाण्डवेया मयोक्तं
न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः।
यथाऽऽतुरस्येव हि पथ्यमन्नं
न रोचते स्मास्य तदुच्यमानम् ॥ १४ ॥

पाण्डवो ! मैंने दोनों पक्षके लिये परम कल्याणकी बात बतायी थी, परंतु अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने मेरी वह बात नहीं सुनी। जैसे रोगीको हितकर भोजन अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई हितकर बात भी पसंद नहीं आती ॥ १४ ॥

न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥

अजातशत्रो ! जैसे श्रोत्रियके घरकी दुष्टा स्त्री श्रेयके मार्गपर नहीं लायी जा सकती, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको कल्याणके मार्गपर लाना असम्भव है। जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई बात निश्चय ही नहीं रुचती ॥ १५ ॥

ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां
न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति।
यथा च पर्णे पुष्करस्यावसिक्तं
जलं न तिष्ठेत् पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ॥ १६ ॥

राजन् ! राजा धृतराष्ट्र कल्याणकारी उपाय नहीं ग्रहण करते हैं, अतः यह निश्चय जान पड़ता है कि कौरवकुलका विनाश अवश्यम्भावी है। 'जैसे कमलके पत्तेपर डाला हुआ जल नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार कही हुई हितकर बात राजा धृतराष्ट्रके मनमें स्थान नहीं पाती है ॥ १६ ॥

ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां
यस्मिन् श्रद्धा भारत तत्र याहि।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं
महीमिमां पालयितुं पुरं वा ॥ १७ ॥

उस समय राजा धृतराष्ट्रने कुपित होकर मुझसे कहा—'भारत ! जिसपर तुम्हारी श्रद्धा हो, वहीं चले जाओ। अब मैं इस राज्य अथवा नगरका पालन करनेके लिये तुम्हारी सहायता नहीं चाहता' ॥ १७ ॥

सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेन्द्र।
तद् वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां
तद् धार्यतां यत् प्रवक्ष्यामि भूयः ॥ १८ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने मुझे त्याग दिया है; अतः मैं तुम्हें उपदेश देनेके लिये आया हूँ। मैंने सभामें जो कुछ कहा था और पुनः इस समय जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब तुम धारण करो ॥ १८ ॥

क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः
क्षमां कुर्वन् कालमुपासते यः।
संवर्धयन् स्तोकमिवाग्निमात्मवान्
स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ॥ १९ ॥

जो शत्रुओंद्वारा दुःसह कष्ट दिये जानेपर भी क्षमा करते हुए अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करता है तथा जिस प्रकार थोड़ी-सी आगको भी लोग घास-फूसके द्वारा प्रज्वलित करके बढ़ा लेते हैं, वैसे ही जो मनको वशमें रखकर अपनी शक्ति और सहायकोंको बढ़ाता है, वह अकेला ही सारी पृथ्वीका उपभोग करता है ॥ १९ ॥

यस्याविभक्तं वसु राजन् सहायै-
स्तस्य दुःखेऽप्यंशभाजः सहायाः।
सहायानामेष संग्रहणेऽभ्युपायः
सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः ॥ २० ॥

राजन् ! जिसका धन सहायकोंके लिये बँटा नहीं है अर्थात् जिसके धनको सहायक भी अपना ही समझकर भोगते हैं, उसके दुःखमें भी वे सब लोग हिस्सा बँटाते हैं। सहायकोंके संग्रहका यही उपाय है। सहायकोंकी प्राप्ति हो जानेपर पृथ्वीकी ही प्राप्ति हो गयी, ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥

सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव विप्रलापं
तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः।
आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य
एवंवृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! व्यर्थकी बकवादसे रहित सत्य बोलना ही श्रेष्ठ है। अपने सहायक भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर समान अन्नका भोजन करना चाहिये। उन सबके आगे अपनी मान-बड़ाई तथा पूजाकी बातें नहीं करनी चाहिये। ऐसा बर्ताव करनेवाला भूपाल सदा उन्नतिशील होता है ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि
परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं
तद् वै वाच्यं तत् करिष्यामि कृत्स्नम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी ! मैं उत्तम बुद्धिका आश्रय ले सतत सावधान रहकर आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा। और भी देश-कालके अनुसार आप जो कर्तव्य उचित समझें वह बतावें। मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरनिर्वासे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरनिर्वासनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयको भेजकर विदुरको वनसे बुलवाना और उनसे क्षमा-प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान् प्रति।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब विदुरजी पाण्डवोंके आश्रमपर चले गये, तब महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ १ ॥

विदुरस्य प्रभावं च संधिविग्रहकारितम्।
विवृद्धिं च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा, विदुर संधि और विग्रह आदिकी नीतिको अच्छी तरह जानते हैं, जिसके कारण उनका बहुत बड़ा प्रभाव है। वे पाण्डवोंके पक्षमें हो गये तो भविष्यमें उनका महान् अभ्युदय होगा ॥ २ ॥

स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥ ३ ॥

विदुरका स्मरण करके वे मोहित-से हो गये और सभाभवनके द्वारपर आकर सब राजाओंके देखते-देखते अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात्।
समीपोपस्थितं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४॥

फिर होशमें आनेपर वे पृथ्वीसे उठ खड़े हुए और समीप आये हुए संजयसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद् धर्म इवापरः।
तस्य स्मृत्याद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ५॥

'संजय ! विदुर मेरे भाई और सुहृद् हैं। वे साक्षात् दूसरे धर्मके समान हैं। उनकी याद आनेसे आज मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण-सा होने लगा है ॥ ५ ॥

तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै।
इति ब्रुवन् स नृपतिः कृपणं पर्यदेवयत् ॥ ६ ॥

'तुम मेरे धर्मज्ञ भ्राता विदुरको शीघ्र यहाँ बुला लाओ।' ऐसा कहते हुए राजा धृतराष्ट्र दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ६ ॥

पश्चात्तापाभिसंतप्तो विदुरस्मारमोहितः।
भ्रातृस्नेहादिदं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

महाराज धृतराष्ट्र विदुरकी याद आनेसे मोहित हो पश्चात्तापसे खिन्न हो उठे और भ्रातृस्नेहवश संजयसे पुनः इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

गच्छ संजय जानीहि भ्रातरं विदुरं मम।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ॥ ८ ॥

'संजय ! जाओ, मेरे भाई विदुरका पता लगाओ। मुझ पापीने क्रोधवश उन्हें निकाल दिया। वे जीवित तो हैं न?

न हि तेन मम भ्रात्रा सुसूक्ष्ममपि किंचन।
व्यलीकं कृतपूर्वं वै प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥ ९ ॥

'अपरिमित बुद्धिवाले मेरे उन विद्वान् भाईने पहले कभी कोई छोटा-सा भी अपराध नहीं किया है ॥ ९ ॥

स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान्।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ तं गच्छानय संजय ॥ १० ॥

'बुद्धिमान् संजय ! मुझसे परम मेधावी विदुरका बड़ा अपराध हुआ। तुम जाकर उन्हें ले आओ, नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा।'

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च।
संजयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत् काम्यकं प्रति ॥ ११ ॥
सोऽचिरेण समासाद्य तद् वनं यत्र पाण्डवाः।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥
विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः।
भ्रातृभिश्चाभिसंगुप्तं देवैरिव पुरंदरम् ॥ १३ ॥

राजाका यह वचन सुनकर संजयने उनका आदर करते हुए 'बहुत अच्छा' कहकर काम्यकवनको प्रस्थान किया। जहाँ पाण्डव रहते थे, उस वनमें शीघ्र ही पहुँचकर संजयने देखा, राजा युधिष्ठिर मृगचर्म धारण करके विदुरजी तथा सहस्रों ब्राह्मणोंके साथ बैठे हुए हैं और देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति अपने भाइयोंसे सुरक्षित हैं ॥ ११–१३ ॥

युधिष्ठिरमुपागम्य पूजयामास संजयः।
भीमार्जुनयमांश्चापि तद्युक्तं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरके पास पहुँचकर संजयने उनका सम्मान किया।

फिर भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवने संजयका यथोचित सत्कार किया ॥ १४ ॥

राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च संजयः।
शशंसागमने हेतुमिदं चैवाब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

राजा युधिष्ठिरके कुशल-प्रश्न करनेके पश्चात् जब संजय सुखपूर्वक बैठ गया, तब अपने आनेका कारण बताते हुए उसने इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

संजय उवाच

राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् ॥ १६ ॥

संजयने कहा—विदुरजी ! अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्र आपको स्मरण करते हैं । आप जल्दी चलकर उनसे मिलिये और उन्हें जीवनदान दीजिये ॥ १६ ॥

सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान् पाण्डवान् कुरुनन्दनान्।
नियोगाद् राजसिंहस्य गन्तुमर्हसि सत्तम ॥ १७ ॥

साधुशिरोमणे ! आप कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंसे आदरपूर्वक विदा लेकर महाराजके आदेशसे शीघ्र उनके पास चलें ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान् स्वजनवल्लभः।
युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद् गजाह्वयम् ॥ १८ ॥
तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धर्मज्ञ दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! स्वजनोंके परम प्रिय बुद्धिमान् विदुरजीसे जब संजयने इस प्रकार कहा, तब वे युधिष्ठिरकी अनुमति लेकर फिर हस्तिनापुरमें आये । वहाँ महातेजस्वी अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने उनसे कहा—'धर्मज्ञ विदुर ! तुम आ गये, यह मेरे बड़े सौभाग्यकी बात है । अनघ ! यह भी मेरे सौभाग्यकी बात है कि तुम मुझे भूले नहीं ॥

अद्य रात्रौ दिवा चाहं त्वत्कृते भरतर्षभ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ॥ २० ॥

'भरतकुलभूषण ! मैं आज दिन-रात तुम्हारे लिये जागते रहनेके कारण अपने शरीरकी विचित्र दशा देख रहा हूँ' ॥

सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्धन्याघ्राय चैव ह।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मयानघ ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने विदुरको अपने हृदयसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघते हुए कहा—'निष्पाप

विदुर ! मैंने तुमसे जो अप्रिय बात कह दी है, उसके लिये मुझे क्षमा करो' ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

क्षान्तमेव मया राजन् गुरुर्मे परमो भवान्।
एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वद्दर्शनपरायणः ॥ २२ ॥
भवन्ति हि नरव्याघ्र पुरुषा धर्मचेतसः।
दीनाभिपातिनो राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥ २३ ॥

विदुरने कहा—राजन् ! मैंने तो सब क्षमा कर ही दिया है । आप मेरे परम गुरु हैं । मैं शीघ्रतापूर्वक आपके दर्शनके लिये आया हूँ । नरश्रेष्ठ ! धर्मात्मा पुरुष दीन जनोंकी ओर अधिक झुकते हैं । आपको इसके लिये मनमें विचार नहीं करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत।
दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाद्य तान् प्रति ॥ २४ ॥

भारत ! मेरे लिये जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही आपके भी । परंतु पाण्डव इन दिनों दीन दशामें हैं, अतः इनके प्रति मेरे हृदयका झुकाव हो गया ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ द्वौ महाद्युती।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों महातेजस्वी भाई विदुर और धृतराष्ट्र एक-दूसरेसे अनुनय-विनय करके अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरप्रत्यागमने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरप्रत्यागमनविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कर्णकी सलाह, पाण्डवोंका वध करनेके लिये उनका वनमें जानेकी तैयारी तथा व्यासजीका आकर उनको रोकना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम्।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्यतप्यत दुर्मतिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुर आ गये और राजा धृतराष्ट्रने उन्हें सान्त्वना देकर रख लिया, यह सुनकर दुष्ट बुद्धिवाला धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधन संतप्त हो उठा॥ १॥

स सौबलेयमानाय्य कर्णदुःशासनौ तथा।
अब्रवीद् वचनं राजा प्रविश्याबुद्धिजं तमः॥ २॥

उसने शकुनि, कर्ण और दुःशासनको बुलाकर अज्ञान-जनित मोहमें मग्न हो इस प्रकार कहा—॥ २॥

एष प्रत्यागतो मन्त्री धृतराष्ट्रस्य धीमतः।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद् विद्वान् हिते रतः॥ ३॥

'बुद्धिमान् पिताजीका यह मन्त्री विदुर फिर लौट आया। विदुर विद्वान् होनेके साथ ही पाण्डवोंका सुहृद् और उन्हींके हितसाधनमें संलग्न रहनेवाला है॥ ३॥

यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नापकर्षति।
पाण्डवानयने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम॥ ४॥

'यह पिताजीके विचारको पुनः पाण्डवोंके लौटा लानेकी ओर जबतक नहीं खींचता, तभीतक मेरे हितसाधनके विषयमें तुमलोग कोई उत्तम सलाह दो॥ ४॥

अथ पश्याम्यहं पार्थान् प्राप्तानिह कथंचन।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरम्बुर्निरवग्रहः॥ ५॥

'यदि मैं किसी प्रकार पाण्डवोंको यहाँ आया देख लूँगा, तो जलका भी परित्याग करके स्वेच्छासे अपने शरीरको सुखा डालूँगा॥ ५॥

विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम्।
करिष्ये न हि तानृद्धान् पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे॥ ६॥

'मैं जहर खा लूँगा, फाँसी लगा लूँगा, अपने आपको ही शस्त्रसे मार दूँगा अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा; परंतु पाण्डवोंको फिर बढ़ते या फलते-फूलते नहीं देख सकूँगा'॥ ६॥

शकुनिरुवाच

किं बालिशमतिं राजन्नास्थितोऽसि विशाम्पते।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति॥ ७॥

शकुनि बोला—राजन्! तुम भी क्या नादान बच्चोंके-से विचार रखते हो? पाण्डव प्रतिज्ञा करके वनमें गये हैं, वे उस प्रतिज्ञाको तोड़कर लौट आवें, ऐसा कभी नहीं होगा

सत्यवाक्यस्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ।
पितुस्ते वचनं तात न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित्॥ ८

भरतवंशशिरोमणे! सब पाण्डव सत्य वचनका पा करनेमें संलग्न हैं। तात! वे तुम्हारे पिताकी बात क स्वीकार नहीं करेंगे॥ ८॥

अथवा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम्।
निरस्य समयं सर्वे पणोऽस्माकं भविष्यति॥ ९

अथवा यदि वे तुम्हारे पिताकी बात मान लेंगे अं प्रतिज्ञा तोड़कर इस नगरमें आ जायँगे, तो हमारा व्यव इस प्रकार होगा॥ ९॥

सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्तिनः।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः॥ १०

हम सब लोग राजाकी आज्ञाका पालन करते हु मध्यस्थ हो जायँगे और छिपे-छिपे पाण्डवोंके बहुत छिद्र देखते रहेंगे॥ १०॥

दुःशासन उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि मातुल।
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्हि रोचते॥ ११

दुःशासनने कहा—महाबुद्धिमान् मामाजी! आप जै कहते हैं, वही मुझे भी ठीक जान पड़ता है। आपके मुख जो विचार प्रकट होता है, वह मुझे सदा अच्छा लगता है।

कर्ण उवाच

काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन तवेप्सितम्।
ऐकमत्यं हि नो राजन् सर्वेषामेव लक्ष्यते॥ १२

कर्ण बोला—दुर्योधन! हम सब लोग तुम्हारी अभि लषित कामनाकी पूर्तिके लिये सचेष्ट हैं। राजन्! इस विषय हम सभीका एक मत दिखायी देता है॥ १२॥

नागमिष्यन्ति ते धीरा अकृत्वा कालसंविदम्।
आगमिष्यन्ति चेन्मोहात् पुनर्द्यूतेन ताञ्जय॥ १३

धीरबुद्धि पाण्डव निश्चित समयकी अवधिको पूर्ण कि बिना यहाँ नहीं आयँगे और यदि वे मोहवश आ भी जायँ, तो तुम पुनः जूएके द्वारा उन्हें जीत लेना॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
नातिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत स पराङ्मुखः॥ १४

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णके ऐसा कहनेपर उस समय राजा दुर्योधनको अधिक प्रसन्नता नहीं हुई। उसने तुरंत ही अपना मुँह फेर लिया ॥ १४ ॥

उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे।
रोषाद् दुःशासनं चैव सौबलं च तमेव च ॥ १५ ॥
उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना।
अथो मम मतं यत् तु तन्निबोधत भूमिपाः॥ १६ ॥

तब उसके आशयको समझकर कर्णने रोषसे अपनी सुन्दर आँखें फाड़कर दुःशासन, शकुनि और दुर्योधनकी ओर देखते हुए स्वयं ही उत्साहमें भरकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कहा—'भूमिपालो! इस विषयमें मेरा जो मत है, उसे सुन लो ।१५-१६।

प्रियं सर्वे करिष्यामो राज्ञः किङ्करपाणयः।
न चास्य शक्नुमः स्थातुं प्रिये सर्वे ह्यतन्द्रिताः ॥१७ ॥

'हम सब लोग राजा दुर्योधनके किंकर और भुजाएँ हैं; अतः हम सब मिलकर इनका प्रिय कार्य करेंगे; परंतु हम आलस्य छोड़कर इनके प्रियसाधनमें लग नहीं पाते॥१७॥

वयं तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः।
गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान् वनगोचरान् ॥ १८ ॥

'मेरी राय यह है कि हम कवच पहनकर अपने-अपने रथपर आरूढ़ हो अस्त्र-शस्त्र लेकर वनवासी पाण्डवोंको मारनेके लिये एक साथ उनपर धावा करें ॥ १८ ॥

तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम्।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम् ॥ १९ ॥

'जब वे सभी मरकर शान्त हो जायँ और अज्ञात गतिको अर्थात् परलोकको पहुँच जायँ, तब धृतराष्ट्रके पुत्र तथा हम सब लोग सारे झगड़ोंसे दूर हो जायँगे ॥ १९ ॥

यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः।
यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ॥ २० ॥

'वे जबतक क्लेशमें पड़े हैं, जबतक शोकमें डूबे हुए हैं और जबतक मित्रों एवं सहायकोंसे वञ्चित हैं, तभीतक युद्धमें जीते जा सकते हैं, मेरा तो यही मत है' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः।
बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ॥ २१ ॥

कर्णकी यह बात सुनकर सबने बार-बार उसकी सराहना की और कर्णकी बातके उत्तरमें सबके मुखसे यही निकला—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धा रथैः सर्वे पृथक्पृथक्।
निर्ययुः पाण्डवान् हन्तुं सहिताः कृतनिश्चयाः ॥ २२ ॥

इस प्रकार आपसमें बातचीत करके रोष और जोशमें भरे हुए वे सब पृथक्-पृथक् रथोंपर बैठकर पाण्डवोंके वधका निश्चय करके एक साथ नगरसे बाहर निकले ॥ २२ ॥

तान् प्रस्थितान् परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ २३ ॥

उन्हें वनकी ओर प्रस्थान करते जान शक्तिशाली महर्षि शुद्धात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास दिव्य दृष्टिसे सब कुछ देखकर सहसा वहाँ आये ॥ २३ ॥

प्रतिषिध्याथ तान् सर्वान् भगवाँल्लोकपूजितः।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरम् ॥ २४ ॥

उन लोकपूजित भगवान् व्यासने उन सबको रोका और सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रके पास शीघ्र आकर कहा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासागमने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासजीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

व्यासजीका धृतराष्ट्रसे दुर्योधनके अन्यायको रोकनेके लिये अनुरोध

व्यास उवाच

धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ निबोध वचनं मम।
वक्ष्यामि त्वां कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम् ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र! तुम मेरी बात सुनो, मैं तुम्हें समस्त कौरवोंके हितकी उत्तम बात बताता हूँ ॥

न मे प्रियं महाबाहो यद् गताः पाण्डवा वनम्।
निकृत्या निकृताश्चैव दुर्योधनपुरोगमैः ॥ २ ॥

महाबाहो! पाण्डवलोग जो वनमें भेजे गये हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगा है। दुर्योधन आदिने उन्हें छलपूर्वक जूएमें हराया है ॥ २ ॥

ते स्मरन्तः परिक्लेशान् वर्षे पूर्णे त्रयोदशे।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ॥ ३ ॥

भारत! वे तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर अपनेको दिये हुए क्लेश याद करके कुपित हो कौरवोंपर विष उगलेंगे अर्थात् विषके समान घातक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करेंगे ॥ ३ ॥

तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः।
पाण्डवान् नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ॥ ४ ॥

ऐसा जानते हुए भी तुम्हारा यह पापात्मा एवं मूर्ख पुत्र क्यों सदा रोषमें भरा रहकर राज्यके लिये पाण्डवोंका वध करना चाहता है? ॥ ४ ॥

वार्यतां साध्वयं मूढः शमं गच्छतु ते सुतः।
वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन् प्राणान् विमोक्ष्यति॥ ५ ॥

तुम इस मूढ़को रोको। तुम्हारा यह पुत्र शान्त हो जाय। यदि इसने वनवासी पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छा की, तो यह स्वयं ही अपने प्राणोंको खो बैठेगा ॥ ५ ॥

यथा हि विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम्।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधुर्भवानपि॥ ६ ॥

जैसे ज्ञानी विदुर, भीष्म, मैं, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य हैं, वैसे ही साधुस्वभाव तुम भी हो ॥ ६ ॥

विग्रहो हि महाप्राज्ञ स्वजनेन विगर्हितः।
अधर्म्यमयशस्यं च मा राजन् प्रतिपद्यताम्॥ ७ ॥

महाप्राज्ञ ! स्वजनोंके साथ कलह अत्यन्त निन्दित माना गया है। वह अधर्म एवं अयश बढ़ानेवाला है; अतः राजन् ! तुम स्वजनोंके साथ कलहमें न पड़ो ॥ ७ ॥

समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान् प्रति भारत।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन् महान्तमनयं स्पृशेत्॥ ८॥

भारत ! पाण्डवोंके प्रति इस दुर्योधनका जैसा विचार है, यदि उसकी उपेक्षा की गयी—उसका शमन न किया गया, तो उसका वह विचार महान् अत्याचारकी सृष्टि कर सकता है ॥

अथवायं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवासहायवान्॥ ९ ॥

अथवा तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र अकेला ही दूसरे किसी सहायकको लिये बिना पाण्डवोंके साथ वनमें जाय ॥ ९ ॥

ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः।
यदि स्यात् कृतकार्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर॥ १० ॥

मनुजेश्वर ! वहाँ पाण्डवोंके संसर्गमें रहनेसे तुम्हारे पुत्रके प्रति उनके हृदयमें स्नेह हो जाय, तो तुम आज ही कृतकृत्य हो जाओगे ॥ १० ॥

अथवा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते।
श्रूयते तन्महाराज नामृतस्यापसर्पति॥ ११ ॥
कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणोऽथ विदुरोऽपि वा।
भवान् वात्र क्षमं कार्यं पुरा वोऽर्थोऽभिवर्धते॥ १२ ॥

किंतु महाराज ! जन्मके समय किसी वस्तुका जो स्वभाव बन जाता है, वह दूर नहीं होता। भले ही वह अमृत ही क्यों न हो ? यह बात मेरे सुननेमें आयी है। अथवा इस विषयमें भीष्म, द्रोण, विदुर या तुम्हारी क्या सम्मति है ? यहाँ जो उचित हो, वह कार्य पहले करना चाहिये, उसीसे तुम्हारे प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा सुरभि और इन्द्रके उपाख्यानका वर्णन तथा उनका पाण्डवोंके प्रति दया दिखलाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन् नाहमप्येतद् रोचये द्यूतसम्भवम्।
मन्ये तद्विधिनाऽऽकृष्य कारितोऽस्मीति वै मुने॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—भगवन् ! यह जूएका खेल मुझे भी पसंद नहीं था। मुने ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि विधाताने मुझे बलपूर्वक खींचकर इस कार्यमें लगा दिया ॥ १ ॥

नैतद् रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च।
गान्धारी नेच्छति द्यूतं तत्र मोहात् प्रवर्तितम्॥ २ ॥

भीष्म, द्रोण और विदुरको भी यह द्यूतका आयोजन अच्छा नहीं लगता था। गान्धारी भी नहीं चाहती थी कि जूआ खेला जाय; परंतु मैंने मोहवश सबको जूएमें लगा दिया ॥ २ ॥

परित्यक्तुं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम्।
पुत्रस्नेहेन भगवञ्जानन्नपि प्रियव्रत॥ ३ ॥

भगवन् ! प्रियव्रत ! मैं यह जानता हूँ कि दुर्योधन अविवेकी है, तो भी पुत्रस्नेहके कारण मैं उसका त्याग नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते सत्यमाह यथा भवान्।
दृढं विद्मः परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते॥ ४ ॥

व्यासजी बोले--राजन् विचित्रवीर्यनन्दन ! तुम ठीक कहते हो, हम अच्छी तरह जानते हैं कि पुत्र परम श्रेष्ठ वस्तु है। पुत्रसे बढ़कर संसारमें और कुछ नहीं है ॥ ४ ॥

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतान्मन्यते परम्॥ ५ ॥

सुरभिने पुत्रके लिये आँसू बहाकर इन्द्रको भी यह बात समझायी थी, जिससे वे अन्य समृद्धिशाली पदार्थोंसे सम्पन्न होनेपर भी पुत्रसे बढ़कर दूसरी किसी वस्तुको नहीं मानते हैं ॥ ५ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशाम्पते॥ ६ ॥

जनेश्वर ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक परम उत्तम इतिहास सुनाता हूँ; जो सुरभि तथा इन्द्रके संवादके रूपमें है ॥ ६ ॥

त्रिविष्टपगता राजन् सुरभी प्रारुदत् किल।
गवां माता पुरा तात तामिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥७॥

राजन् ! पहलेकी बात है, गोमाता सुरभि स्वर्गलोकमें जाकर फूट-फूटकर रोने लगी । तात ! उस समय इन्द्रको उसपर बड़ी दया आयी ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच

किमिदं रोदिषि शुभे कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम्।
मानुषेष्वथ वा गोषु नैतदल्पं भविष्यति ॥ ८ ॥

इन्द्रने पूछा—शुभे ! तुम क्यों इस तरह रो रही हो ? देवलोकवासियोंकी कुशल तो है न ? मनुष्यों तथा गौओंमें तो सब लोग कुशलसे हैं न ? तुम्हारा यह रोदन किसी अल्प कारणसे नहीं हो सकता ? ॥ ८ ॥

सुरभिरुवाच

विनिपातो न वः कश्चिद् दृश्यते त्रिदशाधिप।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक ॥ ९ ॥

सुरभिने कहा—देवेश्वर ! आपलोगोंकी अवनति नहीं दिखायी देती । इन्द्र ! मुझे तो अपने पुत्रके लिये शोक हो रहा है, इसीसे रोती हूँ ॥ ९ ॥

पश्यैनं कर्षकं क्षुद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम्।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन च पीडितम् ॥ १० ॥

देखो, इस नीच किसानको जो मेरे दुर्बल बेटेको बार-बार कोड़ेसे पीट रहा है और वह हलसे जुतकर अत्यन्त पीड़ित हो रहा है ॥ १० ॥

निषीदमानं सोत्कण्ठं वध्यमानं सुराधिप।
कृपाविष्टास्मि देवेन्द्र मनश्चोद्विजते मम।
एकस्तत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ॥ ११ ॥
अपरोऽप्यबलप्राणः कृशो धमनिसंततः।
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ॥ १२ ॥
वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः।
नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ॥ १३ ॥

सुरेश्वर ! वह तो विश्रामके लिये उत्सुक होकर बैठ रहा है और वह किसान उसे डंडे मारता है । देवेन्द्र ! यह देखकर मुझे अपने बच्चेके प्रति बड़ी दया हो आयी है और मेरा मन उद्विग्न हो उठा है । वहाँ दो बैलोंमेंसे एक तो बलवान् है, जो भारयुक्त जुएको खींच सकता है; परंतु दूसरा निर्बल है, प्राणशून्य-सा जान पड़ता है । वह इतना दुबला-पतला हो गया है कि उसके सारे शरीरमें फैली हुई नाड़ियाँ दीख रही हैं। वह बड़े कष्टसे उस भारयुक्त जूएको खींच पाता है । वासव ! मुझे उसीके लिये शोक हो रहा है। इन्द्र! देखो-देखो, चाबुकसे मार-मारकर उसे बार-बार पीड़ा दी जा रही है, तो भी उस जुएके भारको वहन करनेमें वह असमर्थ हो रहा है ।११-१३।

ततोऽहं तस्य शोकार्ता विरौमि भृशदुःखिता।
अश्रूण्यावर्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ॥ १४ ॥

यही देखकर मैं शोकसे पीड़ित हो अत्यन्त दुखी हो गयी हूँ और करुणामग्न हो दोनों नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई रो रही हूँ ॥ १४ ॥

शक्र उवाच

तव पुत्रसहस्रेषु पीड्यमानेषु शोभने।
किं कृपायितवत्यत्र पुत्र एकत्र हन्यति ॥ १५ ॥

इन्द्रने कहा—कल्याणी ! तुम्हारे तो सहस्रों पुत्र इसी प्रकार पीड़ित हो रहे हैं, फिर तुमने एक ही पुत्रके मार खानेपर यहाँ इतनी करुणा क्यों दिखायी ? ॥ १५ ॥

सुरभिरुवाच

यदि पुत्रसहस्राणि सर्वत्र समतैव मे।
दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा ॥ १६ ॥

सुरभि बोली—देवेन्द्र ! यदि मेरे सहस्रों पुत्र हैं, तो मैं उन सबके प्रति समान भाव ही रखती हूँ; परंतु दीन-दुखी पुत्रके प्रति अधिक दया उमड़ आती है ॥ १६ ॥

व्यास उवाच

तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः।
जीवितेनापि कौरव्य मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ॥ १७ ॥

व्यासजी कहते हैं—कुरुराज ! सुरभिकी यह बात सुनकर इन्द्र बड़े विस्मित हो गये । तबसे वे पुत्रको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानने लगे ॥ १७ ॥

प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम्।
कर्षकस्याचरन् विघ्नं भगवान् पाकशासनः ॥ १८ ॥

उस समय वहाँ पाकशासन भगवान् इन्द्रने किसानके कार्यमें विघ्न डालते हुए सहसा भयंकर वर्षा की ॥ १८ ॥

तद् यथा सुरभिः प्राह समवेतास्तु ते तथा।
सुतेषु राजन् सर्वेषु हीनेष्वभ्यधिका कृपा ॥ १९ ॥

इस प्रसङ्गमें सुरभिने जैसा कहा है, वह ठीक है, कौरव और पाण्डव सभी मिलकर तुम्हारे ही पुत्र हैं। परंतु राजन् ! सब पुत्रोंमें जो हीन हों, दयनीय दशामें पड़े हों, उन्हींपर अधिक कृपा होनी चाहिये ॥ १९ ॥

यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक।
विदुरश्च महाप्राज्ञः स्नेहादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

वत्स ! जैसे पाण्डु मेरे पुत्र हैं, वैसे ही तुम भी हो, उसी प्रकार महाज्ञानी विदुर भी हैं । मैंने स्नेहवश ही तुमसे ये बातें कही हैं ॥ २० ॥

चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च भारत ।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः ॥ २१ ॥

भारत ! दीर्घकालसे तुम्हारे एक सौ एक पुत्र हैं; किंतु पाण्डुके पाँच ही पुत्र देखे जाते हैं। वे भी भोले-भाले, छल-कपटसे रहित हैं और अत्यन्त दुःख उठा रहे हैं ॥ २१ ॥

कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्धेयुरित्यपि ।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परितप्यते ॥ २२ ॥

'वे कैसे जीवित रहेंगे और कैसे वृद्धिको प्राप्त होंगे' इस प्रकार कुन्तीके उन दीन पुत्रोंके प्रति सोचते हुए मनमें बड़ा संताप होता है ॥ २२ ॥

यदि पार्थिव कौरव्याञ्जीवमानानिहेच्छसि ।
दुर्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः ॥ २३ ॥

राजन् ! यदि तुम चाहते हो कि समस्त कौरव यहाँ जीवित रहें, तो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन पाण्डवोंसे मेल करके शान्तिपूर्वक रहे ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि सुरभ्युपाख्याने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें सुरभि-उपाख्यानविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

व्यासजीका जाना, मैत्रेयजीका धृतराष्ट्र और दुर्योधनसे पाण्डवोंके प्रति सद्भावका अनुरोध तथा दुर्योधनके अशिष्ट व्यवहारसे रुष्ट होकर उसे शाप देना

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि नो मुने ।
अहं चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महाप्राज्ञ मुने ! आप जैसा कहते हैं, यही ठीक है। मैं भी इसे ही ठीक मानता हूँ तथा ये सब राजालोग भी इसीका अनुमोदन करते हैं ॥ १ ॥

भवांश्च मन्यते साधु यत् कुरूणां महोदयम् ।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने ॥ २ ॥

मुने ! आप भी वही उत्तम मानते हैं, जो कुरुवंशके महान् अभ्युदयका कारण है। मुने ! यही बात विदुर, भीष्म और द्रोणाचार्यने भी मुझे कही है ॥ २ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरव्येषु दया यदि ।
अन्वशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम ॥ ३ ॥

यदि आपका मुझपर अनुग्रह है और यदि कौरवकुलपर आपकी दया है तो आप मेरे दुरात्मा पुत्र दुर्योधनको स्वयं ही शिक्षा दीजिये ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

अयमायाति वै राजन् मैत्रेयो भगवानृषिः ।
अन्विष्य पाण्डवान् भ्रातृनिहैत्यस्मद्दिदृक्षया ॥ ४ ॥

व्यासजीने कहा—राजन् ! ये महर्षि भगवान् मैत्रेय आ रहे हैं। पाँचों पाण्डवबन्धुओंसे मिलकर अब ये हमलोगोंसे मिलनेके लिये यहाँ आते हैं ॥ ४ ॥

एष दुर्योधनं पुत्रं तव राजन् महानृषिः ।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य च ॥ ५ ॥

महाराज ! ये महर्षि ही इस कुलकी शान्तिके लिये तुम्हारे पुत्र दुर्योधनको यथायोग्य शिक्षा देंगे ॥ ५ ॥

ब्रूयाद् यदेष कौरव्य तत् कार्यमविशङ्कया ।
अक्रियायां तु कार्यस्य पुत्रं ते शप्स्यते रुषा ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! मैत्रेय जो कुछ कहें, उसे निःशङ्क होकर करना चाहिये। यदि उनके बताये हुए कार्यकी अवहेलना की गयी तो वे कुपित होकर तुम्हारे पुत्रको शाप दे देंगे ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत ।
पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर व्यासजी चले गये और मैत्रेयजी आते हुए दिखायी दिये। राजा धृतराष्ट्रने पुत्रसहित उनकी अगवानी की और स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ॥ ७ ॥

अर्घ्याद्याभिः क्रियाभिर्वै विश्रान्तं मुनिसत्तमम् ।
प्रश्रयेणाब्रवीद् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ८ ॥

पाद्य, अर्घ्य आदि उपचारोंद्वारा पूजित हो जब मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय विश्राम कर चुके, तब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने नम्रतापूर्वक पूछा— ॥ ८ ॥

सुखेनागमनं कच्चिद् भगवन् कुरुजाङ्गलान् ।
कच्चित् कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ॥ ९ ॥

'भगवन् ! इस कुरुदेशमें आपका आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है न ? वीर भ्राता पाँचों पाण्डव तो कुशलसे हैं न ?

समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चिच्च भरतर्षभाः ।
कच्चित् कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति ॥ १० ॥

'क्या वे भरतश्रेष्ठ पाण्डव अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहना चाहते हैं ? क्या कौरवोंमें उत्तम भ्रातृभाव अखण्ड बना रहेगा ?' ॥ १० ॥

मैत्रेय उवाच

तीर्थयात्रामनुक्रामन् प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलान् ।
यदृच्छया धर्मराजं दृष्टवान् काम्यके वने ॥ ११ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! मैं तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे घूमता हुआ अकस्मात् कुरुजाङ्गल देशमें चला आया हूँ । काम्यकवनमें धर्मराज युधिष्ठिरसे भी मेरी भेंट हुई थी ॥ ११ ॥

तं जटाजिनसंवीतं तपोवननिवासिनम् ।
समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! जटा और मृगचर्म धारण करके तपोवनमें निवास करनेवाले उन महात्मा धर्मराजको देखनेके लिये वहाँ बहुत-से मुनि पधारे थे ॥ १२ ॥

तत्राश्रौषं महाराज पुत्राणां तव विभ्रमम् ।
अनयं द्यूतरूपेण महाभयमुपस्थितम् ॥ १३ ॥

महाराज ! वहीं मैंने सुना कि तुम्हारे पुत्रोंकी बुद्धि भ्रान्त हो गयी है । वे द्यूतरूपी अनीतिमें प्रवृत्त हो गये और इस प्रकार जूएके रूपमें उनके ऊपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्यधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो ॥ १४ ॥

यह सुनकर मैं कौरवोंकी दशा देखनेके लिये तुम्हारे पास आया हूँ । राजन् ! तुम्हारे ऊपर सदासे ही मेरा स्नेह और प्रेम अधिक रहा है ॥ १४ ॥

नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योन्येन ते पुत्रा विरुध्यन्ते कथंचन ॥ १५ ॥

महाराज ! तुम्हारे और भीष्मके जीते-जी यह उचित नहीं जान पड़ता कि तुम्हारे पुत्र किसी प्रकार आपसमें विरोध करें ॥ १५ ॥

मेढीभूतः स्वयं राजन् निग्रहे प्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पद्यन्तमुपेक्षसे ॥ १६ ॥

महाराज ! तुम स्वयं इन सबको बाँधकर नियन्त्रणमें रखनेके लिये खम्भेके समान हो; फिर पैदा होते हुए इस घोर अन्यायकी क्यों उपेक्षा कर रहे हो ॥ १६ ॥

दस्यूनामिव यद् वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ।
तेन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागमे ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हारी सभामें डाकुओंकी भाँति जो बर्ताव किया गया है, उसके कारण तुम तपस्वी मुनियोंके समुदायमें शोभा नहीं पा रहे हो ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महर्षि भगवान् मैत्रेय अमर्षशील राजा दुर्योधनकी ओर मुड़कर उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥ १८ ॥

मैत्रेय उवाच

दुर्योधन महाबाहो निबोध वदतां वर ।
वचनं मे महाभाग ब्रुवतो यद्धितं तव ॥ १९ ॥

मैत्रेयजीने कहा—महाबाहु दुर्योधन ! तुम वक्ताओंमें श्रेष्ठ हो; मेरी एक बात सुनो । महाभाग ! मैं तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ ॥ १९ ॥

मा द्रुहः पाण्डवान् राजन् कुरुष्व प्रियमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणां च लोकस्य च नरर्षभ ॥ २० ॥

राजन् ! तुम पाण्डवोंसे द्रोह न करो । नरश्रेष्ठ ! अपना, पाण्डवोंका, कुरुकुलका तथा सम्पूर्ण जगत्का प्रिय साधन करो ॥

ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ सब पाण्डव शूरवीर, पराक्रमी और युद्ध-कुशल हैं । उन सबमें दस हजार हाथियोंका बल है । उनका शरीर वज्रके समान दृढ़ है ॥ २१ ॥

सत्यव्रतधराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ॥ २२ ॥
हिडिम्बबकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ।

वे सब-के-सब सत्यव्रतधारी और अपने पौरुषपर अभिमान रखनेवाले हैं । इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले देवद्रोही हिडिम्ब आदि राक्षसोंका तथा राक्षसजातीय किर्मीरका वध भी उन्होंने ही किया है ॥ २२½ ॥

इतः प्रद्रवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ॥ २३ ॥
आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
तं भीमः समरश्लाघी बलेन बलिनां वरः ॥ २४ ॥
जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ।
पश्य दिग्विजये राजन् यथा भीमेन पातितः ॥ २५ ॥
जरासंधो महेष्वासो नागायुतबलो युधि ।
सम्बन्धी वासुदेवश्च श्यालाः सर्वे च पार्षताः ॥२६ ॥

यहाँसे रातमें जब वे महात्मा पाण्डव चले जा रहे थे, उस समय उनका मार्ग रोककर भयंकर और पर्वतके समान विशालकाय किर्मीर उनके सामने खड़ा हो गया । युद्धकी श्लाघा रखनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उस राक्षसको बलपूर्वक पकड़कर पशुकी तरह वैसे ही मार डाला, जैसे व्याघ्र छोटे मृगको मार डालता है । राजन् ! देखो, दिग्विजयके समय भीमसेनने उस महान् धनुर्धर राजा जरासंध-को भी युद्धमें मार गिराया, जिसमें दस हजार हाथियों-का बल था । (यह भी स्मरण रखना चाहिये कि) वसुदेव-

नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उनके सम्बन्धी हैं तथा द्रुपदके सभी पुत्र उनके साले हैं ॥ २३–२६ ॥

कस्तान् युधि समासीत जरामरणवान् नरः ।
तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ॥ २७ ॥

जरा और मृत्युके वशमें रहनेवाला कौन मनुष्य युद्धमें उन पाण्डवोंका सामना कर सकता है ! भरतकुलभूषण ! ऐसे महापराक्रमी पाण्डवोंके साथ तुम्हें शान्तिपूर्वक मिलकर ही रहना चाहिये ॥ २७ ॥

कुरु मे वचनं राजन् मा मन्युवशमन्वगाः ।

राजन् ! तुम मेरी बात मानो; क्रोधके वशमें न होओ ॥ २७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशाम्पते ॥ २८ ॥
ऊरुं गजकराकारं करेणाभिजघान सः ।
दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनोल्लिखन् महीम् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मैत्रेयजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय दुर्योधनने मुसकराकर हाथीके सूँड़के समान अपनी जाँघको हाथसे ठोंका और पैरसे पृथ्वीको कुरेदने लगा ॥ २८-२९ ॥

न किंचिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किंचिदवाङ्मुखः ।
तमशुश्रूषमाणं तु विलिखन्तं वसुंधराम् ॥ ३० ॥
दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन् मैत्रेयं कोप आविशत् ।
स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥

उस दुर्बुद्धिने मैत्रेयजीको कुछ भी उत्तर न दिया । वह अपने मुँहको कुछ नीचा किये चुपचाप खड़ा रहा । राजन् ! मैत्रेयजीने देखा, दुर्योधन सुनना नहीं चाहता, वह पैरोंसे धरतीको कुरेद रहा है । यह देख उनके मनमें क्रोध जाग उठा । फिर तो वे मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय कोपके वशीभूत हो गये ॥ ३०-३१ ॥

विधिना सम्प्रणुदितः शापायास्य मनो दधे ।
ततः स वार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः ।
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद् दुष्टचेतसम् ॥ ३२ ॥

विधातासे प्रेरित होकर उन्होंने दुर्योधनको शाप देनेका विचार किया । तदनन्तर मैत्रेयने क्रोधसे लाल आँखें करके जलका आचमन किया और उस दुष्ट चित्तवाले धृतराष्ट्रपुत्रको इस प्रकार शाप दिया—॥ ३२ ॥

यस्मात् त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि ।
तस्मादस्याभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥ ३३ ॥

'दुर्योधन ! तू मेरा अनादर करके मेरी बात मानना

नहीं चाहता; अतः तू इस अभिमानका तुरंत फल पा ले ॥ ३३ ॥

त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत् ।
तत्र भीमो गदाघातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ॥ ३४ ॥

'तेरे द्रोहके कारण बड़ा भारी युद्ध छिड़ेगा, उसमें बलवान् भीमसेन अपनी गदाकी चोटसे तेरी जाँघ तोड़ डालेंगे' ॥ ३४ ॥

इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिं नैतदेवं भवेदिति ॥ ३५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महाराज धृतराष्ट्रने मुनिको प्रसन्न किया और कहा—'भगवन् ! ऐसा न हो' ॥ ३५ ॥

मैत्रेय उवाच

शमं यास्यति चेत् पुत्रस्तव राजन् यदा तदा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ॥ ३६ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! जब तुम्हारा पुत्र शान्ति धारण करेगा (पाण्डवोंसे वैर-विरोध न करके मेल-मिलाप कर लेगा), तब यह शाप इसपर लागू न होगा । तात ! यदि इसने विपरीत बर्ताव किया, तो यह शाप इसे अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

विलक्षयंस्तु राजेन्द्रो दुर्योधनपिता तदा ।
मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब दुर्योधनके पिता महाराज धृतराष्ट्रने भीमसेनके बलका विशेष परिचय

पानेके लिये मैत्रेयजीसे पूछा—'मुने ! भीमने किर्मीरको कैसे मारा ?' ॥ ३७ ॥

मैत्रेय उवाच

नाहं वक्ष्यामि ते भूयो न ते शुश्रूषते सुतः ।
एष ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ॥ ३८ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! तुम्हारा पुत्र मेरी बात सुनना नहीं चाहता, अतः मैं तुमसे इस समय फिर कुछ नहीं कहूँगा । ये विदुरजी मेरे चले जानेपर वह सारा प्रसंग तुम्हें बतायेंगे ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथाऽऽगतम् ।
किर्मीरवधसंविग्नो बहिर्दुर्योधनो ययौ ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर मैत्रेयजी जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । किर्मीरवधका समाचार सुनकर उद्विग्न हो दुर्योधन भी बाहर निकल गया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि मैत्रेयशापे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें मैत्रेयशापविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(किर्मीरवधपर्व)

एकादशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा किर्मीरके वधकी कथा

धृतराष्ट्र उवाच

किर्मीरस्य वधं क्षत्तः श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।
रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत् समागमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! मैं किर्मीरवधका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ, कहो । उस राक्षसके साथ भीमसेनकी मुठभेड़ कैसे हुई ? ॥ १ ॥

विदुर उवाच

शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुषकर्मणः ।
श्रुतपूर्वं मया तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मानवशक्तिसे अतीत कर्म करनेवाले भीमसेनके इस भयानक कर्मको आप सुनिये, जिसे मैंने उन पाण्डवोंके कथाप्रसङ्गमें (ब्राह्मणोंसे) बार-बार सुना है ॥ २ ॥

इतः प्रयाता राजेन्द्र पाण्डवा द्यूतनिर्जिताः ।
जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नाम तद् वनम् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! पाण्डव जूएमें पराजित होकर जब यहाँसे गये, तब तीन दिन और तीन रातमें काम्यकवनमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

रात्रौ निशीथे त्वाभीले गतेऽर्धसमये नृप ।
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥ ४ ॥
तद् वनं तापसा नित्यं गोपाश्च वनचारिणः ।
दूरात् परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात् किल ॥ ५ ॥

आधी रातके भयंकर समयमें, जब कि भयानक कर्म करनेवाले नरभक्षी राक्षस विचरते रहते हैं, तपस्वी मुनि और वनचारी गोपगण भी उस राक्षसके भयसे उस वनको दूरसे ही त्याग देते थे ॥ ४-५ ॥

तेषां प्रविशतां तत्र मार्गमावृत्य भारत ।
दीप्ताक्षं भीषणं रक्षः सोल्मुकं प्रत्यपद्यत ॥ ६ ॥

भारत ! उस वनमें प्रवेश करते ही वह राक्षस उनका मार्ग रोककर खड़ा हो गया । उसकी आँखें चमक रही थीं । वह भयानक राक्षस मशाल लिये आया था ॥ ६ ॥

बाहू महान्तौ कृत्वा तु तथाऽऽस्यं च भयानकम् ।
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरूद्वहाः ॥ ७ ॥

अपनी दोनों भुजाओंको बहुत बड़ी करके मुँहको भयानक रूपसे फैलाकर वह उसी मार्गको घेरकर खड़ा हो गया, जिससे वे कुरुवंशशिरोमणि पाण्डव यात्रा कर रहे थे ॥ ७ ॥

स्पष्टाष्टदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ।
सार्करश्मितडिच्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ॥ ८ ॥

उसकी आठ दाढ़ें स्पष्ट दिखायी देती थीं, आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं एवं सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए और प्रज्वलित-से जान पड़ते थे । उसे देखकर ऐसा मालूम होता था, मानो सूर्यकी किरणों, विद्युन्मण्डल और बकपङ्क्तियोंके साथ मेघ शोभा पा रहा हो ॥ ८ ॥

सृजन्तं राक्षसीं मायां महानादनिनादितम् ।
मुञ्चन्तं विपुलान् नादान् सतोयमिव तोयदम् ॥ ९ ॥

वह भयंकर गर्जनाके साथ राक्षसी मायाकी सृष्टि कर रहा था । सजल जलधरके समान जोर-जोरसे सिंहनाद करता था ॥ ९ ॥

तस्य नादेन संत्रस्ताः पक्षिणः सर्वतोदिशम् ।
विमुक्तनादाः सम्पेतुः स्थलजा जलजैः सह ॥ १० ॥

उसकी गर्जनासे भयभीत हुए स्थलचर पक्षी जलचर पक्षियोंके साथ चींचीं करते हुए सब दिशाओंमें भाग चले ॥

सम्प्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम् ।
तद् वनं तस्य नादेन सम्प्रस्थितमिवाभवत् ॥ ११ ॥

भागते हुए मृग, भेड़िये, भैंसे तथा रीछोंसे भरा हुआ वह वन उस राक्षसकी गर्जनासे ऐसा हो गया, मानो वह वन ही भाग रहा हो ॥ ११ ॥

तस्योरुवाताभिहतास्ताम्रपल्लवबाहवः ।
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्ति पादपान् ॥ १२ ॥

उसकी जाँघोंकी हवाके वेगसे आहत हो ताम्रवर्णके पल्लवरूपी बाँहोंद्वारा सुशोभित दूरकी लताएँ भी मानो वृक्षोंसे लिपटी जाती थीं ॥ १२ ॥

तस्मिन् क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः ।
रजसा संवृतं तेन नष्टज्योतिरभून्नभः ॥ १३ ॥

इसी समय बड़ी प्रचण्ड वायु चलने लगी । उसकी उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित हो आकाशके तारे भी अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः ।
पञ्चानामिन्द्रियाणां तु शोकावेश इवातुलः ॥ १४ ॥

जैसे पाँचों इन्द्रियोंको अकस्मात् अतुलित शोकावेश प्राप्त हो जाय, उसी प्रकार पाँचों पाण्डवोंका वह तुलनारहित महान् शत्रु सहसा उनके पास आ पहुँचा; पर पाण्डवोंको उस राक्षसका पता नहीं था ॥ १४ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवान् दूरात् कृष्णाजिनसमावृतान् ।
आवृणोत् तद्वनद्वारं मैनाक इव पर्वतः ॥ १५ ॥

उसने दूरसे ही पाण्डवोंको कृष्ण मृगचर्म धारण किये आते देख मैनाक पर्वतकी भाँति उस वनके प्रवेश-द्वारको घेर लिया ॥ १५ ॥

तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना ।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ॥ १६ ॥

उस अदृष्टपूर्व राक्षसके निकट पहुँचकर कमललोचना कृष्णाने भयभीत हो अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥ १६ ॥

दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा ।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाकुलतां गता ॥ १७ ॥

दुःशासनके हाथोंसे खुले हुए उसके केश सब ओर बिखरे हुए थे । वह पाँच पर्वतोंके बीचमें पड़ी हुई नदीकी भाँति व्याकुल हो उठी ॥ १७ ॥

मोमुह्यमानां तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः ।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ॥ १८ ॥

उसे मूर्छित होती हुई देख पाँचों पाण्डवोंने सहारा देकर उसी तरह थाम लिया, जैसे विषयोंमें आसक्त हुई इन्द्रियाँ तत्सम्बन्धी अनुरक्तिको धारण किये रहती हैं ॥ १८ ॥

अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम् ।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक्प्रयोजितैः ॥ १९
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्यवान् ।
स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥ २०
काममूर्तिधरः क्रूरः कालकल्पो व्यदृश्यत ।
तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ॥ २१

तदनन्तर वहाँ प्रकट हुई अत्यन्त भयानक रा... मायाको देख शक्तिशाली धौम्य मुनिने अच्छी तरह प्रयो... लाये हुए राक्षसविनाशक विविध मन्त्रोंद्वारा पाण्ड... देखते-देखते उस मायाका नाश कर दिया । माया नष्ट ... ही वह अत्यन्त बलवान् एवं इच्छानुसार रूप धारण क... वाला क्रूर राक्षस क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखता हु... कालके समान दिखायी देने लगा । उस समय परम बुद्धि... राजा युधिष्ठिरने उससे पूछा—॥ १९—२१ ॥

को भवान् कस्य वा किं ते क्रियतां कार्यमुच्यताम् ।
प्रत्युवाचाथ तद् रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २२

'तुम कौन हो, किसके पुत्र हो अथवा तुम्हारा कौ... सा कार्य सम्पादन किया जाय ? यह सब बताओ ।' तब ... राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ २२ ॥

अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इति विश्रुतः ।
वनेऽस्मिन् काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ॥ २३

'मैं बकका भाई हूँ, मेरा नाम किर्मीर है, इस नि... काम्यकवनमें निवास करता हूँ । यहाँ मुझे किसी प्रका... चिन्ता नहीं है ॥ २३ ॥

युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन् ।
के यूयमभिसम्प्राप्ता भक्ष्यभूता ममान्तिकम् ।
युधि निर्जित्य वः सर्वान् भक्षयिष्ये गतज्वरः ॥ २४

'यहाँ आये हुए मनुष्योंको युद्धमें जीतकर सदा उन्हीं... खाया करता हूँ । तुमलोग कौन हो ? जो स्वयं ही ... आहार बननेके लिये मेरे निकट आ गये ? मैं तुम सब... युद्धमें परास्त करके निश्चिन्त हो अपना आ... बनाऊँगा' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः ।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ॥ २५

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! उस दुरात्मा... बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उसे गोत्र एवं नाम आदि ... बातोंका परिचय दिया ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ॥ २६

हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हूँ । सम्भव है, मेरा नाम तुम्हारे कानोंमें भी पड़ा हो । इस समय मेरा राज्य शत्रुओंने जूएमें हरण कर लिया है । अतः मैं भीमसेन, अर्जुन आदि सब भाइयोंके साथ वनमें रहनेका निश्चय करके तुम्हारे निवासस्थान इस घोर काम्यकवनमें आया हूँ ॥ २६-२७ ॥

विदुर उवाच

किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ॥ २८ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! तब किर्मीरने युधिष्ठिरसे कहा—'आज सौभाग्यवश देवताओंने यहाँ मेरे बहुत दिनोंके मनोरथकी पूर्ति कर दी ॥ २८ ॥

भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ।
चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनं चासादयाम्यहम् ॥ २९ ॥

'मैं प्रतिदिन हथियार उठाये भीमसेनका वध करनेके लिये सारी पृथ्वीपर विचरता था; किंतु यह मुझे मिल नहीं रहा था ॥ २९ ॥

सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा काङ्क्षितश्चिरम् ।
अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ॥ ३० ॥
वैत्रकीयवने राजन् ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ।
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ॥ ३१ ॥

'आज सौभाग्यवश यह स्वयं मेरे यहाँ आ पहुँचा । भीम मेरे भाईका हत्यारा है, मैं बहुत दिनोंसे इसकी खोजमें था । राजन् ! इसने (एकचक्रा नगरीके पास) वैत्रकीयवनमें ब्राह्मणका कपटवेष धारण करके वेदोक्त मन्त्ररूप विद्याबलका आश्रय ले मेरे प्यारे भाई बकासुरका वध किया था; वह इसका अपना बल नहीं था ॥ ३०-३१ ॥

हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ।
हतो दुरात्मनानेन स्वसा चास्य हृता पुरा ॥ ३२ ॥

'इसी प्रकार वनमें रहनेवाले मेरे प्रिय मित्र हिडिम्बको भी इस दुरात्माने मार डाला और उसकी बहिनका अपहरण कर लिया । ये सब बहुत पहलेकी बातें हैं ॥ ३२ ॥

सोऽयमभ्यागतो मूढो ममेदं गहनं वनम् ।
प्रचारसमयेऽस्माकमर्धरात्रे स्थिते स मे ॥ ३३ ॥

'वही यह मूढ़ भीमसेन हमलोगोंके घूमने-फिरनेकी वेलामें आधीरातके समय मेरे इस गहन वनमें आ गया है ॥ ३३ ॥

अद्यास्य यातयिष्यामि तद् वैरं चिरसम्भृतम् ।
तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ॥ ३४ ॥

'आज इससे मैं उस पुराने वैरका बदला लूँगा और इसके प्रचुर रक्तसे बकासुरका तर्पण करूँगा ॥ ३४ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ॥ ३५ ॥

'आज मैं राक्षसोंके लिये कण्टकरूप इस भीमसेनको मारकर अपने भाई तथा मित्रके ऋणसे उऋण हो परम शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ ३५ ॥

यदि तेन पुरा मुक्तो भीमसेनो बकेन वै ।
अद्यैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

'युधिष्ठिर ! यदि पहले बकासुरने भीमसेनको छोड़ दिया, तो आज मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे खा जाऊँगा ॥ ३६ ॥

एनं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ।
सम्भक्ष्य जरयिष्यामि यथागस्त्यो महासुरम् ॥ ३७ ॥

'जैसे महर्षि अगस्त्यने वातापिनामक महान् राक्षसको खाकर पचा लिया, उसी प्रकार मैं भी इस महाबली भीमको मारकर खा जाऊँगा और पचा लूँगा' ॥ ३७ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसंधो युधिष्ठिरः ।
नैतदस्तीति सक्रोधो भर्त्सयामास राक्षसम् ॥ ३८ ॥

उसके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा एवं सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिरने कुपित हो उस राक्षसको फटकारते हुए कहा—'ऐसा कभी नहीं हो सकता' ॥ ३८ ॥

ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ।
दशव्याममथोद्विद्धं निष्पत्रमकरोत् तदा ॥ ३९ ॥

तदनन्तर महाबाहु भीमसेनने बड़े वेगसे हिलाकर एक दस व्याम * लम्बे वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ॥ ३९ ॥

चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ।
निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ॥ ४० ॥

इधर विजयी अर्जुनने भी पलक मारते-मारते अपने उस गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी, जिसे वज्रको भी पीस डालनेका गौरव प्राप्त था ॥ ४० ॥

निवार्य भीमो जिष्णुं तं तद् रक्षो मेघनिःस्वनम् ।
अभिद्रुत्याब्रवीद् वाक्यं तिष्ठ तिष्ठेति भारत ॥ ४१ ॥

भारत ! भीमसेनने अर्जुनको रोक दिया और मेघके समान गर्जना करनेवाले उस राक्षसपर आक्रमण करते हुए कहा—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वैनमतिक्रुद्धः कक्ष्यामुत्पीड्य पाण्डवः ।
निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटो बली ॥ ४२ ॥

---

*दोनों भुजाओंको दोनों ओर फैलानेपर एक हाथकी अँगुलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी अँगुलियोंके सिरेतक जितनी दूरी होती है, उसे 'व्याम' कहते हैं । यही पुरुषप्रमाण है । इसकी लम्बाई लगभग $3\frac{1}{2}$ हाथकी होती है ।

तमभ्यधावद् वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा ।
यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्धनि ॥ ४३ ॥
पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव ।
असम्भ्रान्तं तु तद् रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए बलवान् पाण्डु-नन्दन भीमने वस्त्रसे अच्छी तरह अपनी कमर कस ली और हाथसे हाथ रगड़कर दाँतोंसे ओठ चबाते हुए वृक्षको ही आयुध बनाकर बड़े वेगसे उसकी तरफ दौड़े और जैसे इन्द्र वज्रका प्रहार करते हैं, उसी प्रकार यमदण्डके समान उस भयंकर वृक्षको राक्षसके मस्तकपर उन्होंने बड़े जोरसे दे मारा। तो भी वह निशाचर युद्धमें अविचलभावसे खड़ा दिखायी दिया ॥ ४२-४४॥

चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव ।
तदुदस्तमलातं तु भीमः प्रहरतां वरः ॥ ४५ ॥
पदा सव्येन चिक्षेप तद् रक्षः पुनराव्रजत् ।
किर्मीरश्चापि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ॥ ४६ ॥
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्यधावत ।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ॥ ४७ ॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा स्त्रीकाङ्क्षिणोः पुरा ।

तत्पश्चात् उसने भी प्रज्वलित वज्रके समान जलता हुआ काठ भीमके ऊपर फेंका, परंतु योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमने उस जलते काठको अपने बाँये पैरसे मारकर इस तरह फेंका कि वह पुनः उस राक्षसपर ही जा गिरा। फिर तो किर्मीरने भी सहसा एक वृक्ष उखाड़ लिया और क्रोधमें भरे हुए दण्डपाणि यमराजकी भाँति उस युद्धमें पाण्डुकुमार भीमपर आक्रमण किया। जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी अभिलाषा रखनेवाले वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें भारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार उन दोनोंका वह वृक्ष-युद्ध वनके वृक्षोंका विनाशक था ॥ ४५-४७½ ॥

शीर्षयोः पतिता वृक्षा बिभिदुर्नैकधा तयोः ॥ ४८ ॥
यथैवोत्पलपत्राणि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा ।

जैसे दो मतवाले गजराजोंके मस्तकपर पड़े हुए कमल-पत्र क्षणभरमें छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं, वैसे ही उन दोनोंके मस्तकपर पड़े हुए वृक्षोंके अनेक टुकड़े हो जाते थे ॥ ४८½ ॥

मुञ्जवज्जर्जरीभूता बहवस्तत्र पादपाः ॥ ४९ ॥
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने ।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्मुहूर्तं भरतर्षभ ।
राक्षसानां च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५० ॥

वहाँ उस महान् वनमें बहुत-से वृक्ष मूँजकी भाँति जर्जर हो गये थे। वे फटे चीथड़ोंकी तरह इधर-उधर फैले हुए सुशोभित होते थे। भरतश्रेष्ठ! राक्षसराज किर्मीर और मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेनका वह वृक्ष-युद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ॥ ४९-५० ॥

ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः ।
प्राहिणोद् राक्षसः क्रुद्धो भीमश्च न चचाल ह ॥ ५१ ॥

तदनन्तर राक्षसने कुपित हो एक पत्थरकी चट्टान युद्धमें खड़े हुए भीमसेनपर चलायी। भीम उसके [illegible] जडवत् हो गये ॥ ५१ ॥

तं शिलाताडनजडं पर्यधावत राक्षसः ।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ५[२] ॥

वे शिलाके आघातसे जडवत् हो रहे थे। उस अव[सर] वह राक्षस भीमसेनकी ओर उसी तरह दौड़ा जैसे [राहु] अपनी भुजाओंसे सूर्यकी किरणोंका निवारण करते हुए [उन] पर आक्रमण करता है ॥ ५२ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि चकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५[३] ॥

वे दोनों वीर परस्पर भिड़ गये और दोनों दो[नोंको] खींचने लगे। दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति परस्पर भिड़े [हुए] उन दोनों योद्धाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५३ ॥

तयोरासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः ।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५[४] ॥

नख और दाढ़ोंसे ही आयुधका काम लेनेवाले उन्मत्त व्याघ्रोंकी भाँति उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर [और] घमासान युद्ध छिड़ा हुआ था ॥ ५४ ॥

दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
कृष्णानयनदृष्टश्च व्यवर्धत वृकोदरः ॥ ५[५] ॥

दुर्योधनके द्वारा प्राप्त हुए तिरस्कारसे तथा अ[पने] बाहुबलसे भीमसेनका शौर्य एवं अभिमान जाग उठा [था,] इधर द्रौपदी भी प्रेमपूर्ण दृष्टिसे उनकी ओर देख रही [थी;] अतः वे उस युद्धमें उत्तरोत्तर उत्साहित हो रहे थे ॥ ५५ ॥

अभिपद्य च बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्गमिव मातङ्गः प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ५६ ॥

उन्होंने अमर्षमें भरकर सहसा आक्रमण करके दो[नों] भुजाओंसे उस राक्षसको उसी तरह पकड़ लिया, जैसे मतवा[ला] गजराज गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले दूसरे हाथी[से] भिड़ जाता है ॥ ५६ ॥

स चाप्येनं ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
तमाक्षिपद् भीमसेनो बलेन बलिनां वरः ॥ ५७ ॥

उस बलवान् राक्षसने भी भीमसेनको दोनों भुजाओं[से] पकड़ लिया; तब बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उसे बलपूर्[वक] दूर फेंक दिया ॥ ५७ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा ।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ५८ ॥
अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृह्य मध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥ ५९ ॥

युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँ[स] फटनेके समान भयंकर शब्द हो रहा था। जैसे प्रच[ण्ड]

वायु अपने वेगसे वृक्षको झकझोर देती है, उसी प्रकार भीमसेनने बलपूर्वक उछलकर उसकी कमर पकड़ ली और उस राक्षसको बड़े वेगसे घुमाना आरम्भ किया ॥ ५८-५९ ॥

स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥ ६० ॥

बलवान् भीमकी पकड़में आकर वह दुर्बल राक्षस अपनी शक्तिके अनुसार उनसे छूटनेकी चेष्टा करने लगा। उसने भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको इधर-उधर खींचा ॥ ६० ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलक्ष्य वृकोदरः ।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ६१ ॥

तदनन्तर उसे थका हुआ देख भीमसेनने अपनी दोनों भुजाओंसे उसे उसी तरह कस लिया, जैसे पशुको डोरीसे बाँध देते हैं ॥ ६१ ॥

विनदन्तं महानादं भिन्नभेरीस्वनं बली ।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ६२ ॥

राक्षस किर्मीर फूटे हुए नगारेकी-सी आवाजमें बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने और छटपटाने लगा। बलवान् भीम उसे देरतक घुमाते रहे, इससे वह मूर्छित हो गया ॥ ६२ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः ।
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत् ॥ ६३ ॥

उस राक्षसको विषादमें डूबा हुआ जान पाण्डुनन्दन भीमने दोनों भुजाओंसे वेगपूर्वक दबाते हुए पशुकी तरह उसे मारना आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
पीडयामास पाणिभ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः ॥ ६४ ॥

भीमने उस राक्षसके कटिप्रदेशको अपने घुटनेसे दबाकर दोनों हाथोंसे उसका गला मरोड़ दिया ॥ ६४ ॥
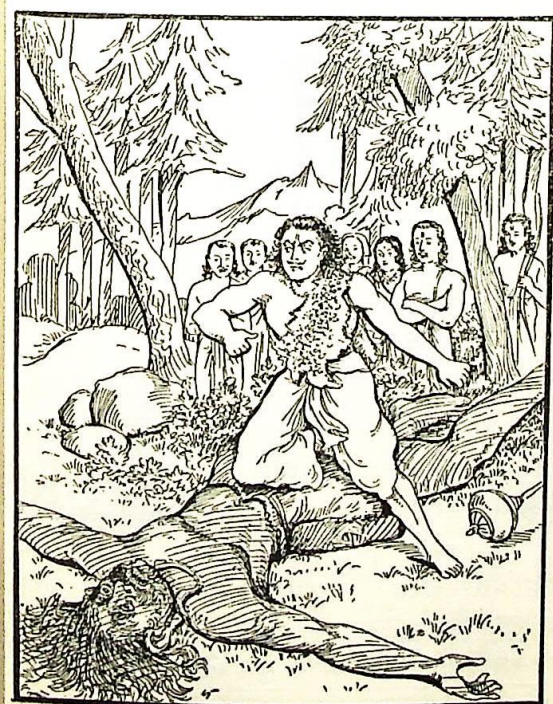
अथ जर्जरसर्वाङ्गं व्यावृत्तनयनोल्बणम् ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ६५ ॥

किर्मीरका सारा अङ्ग जर्जर हो गया और उसकी आँखें घूमने लगीं, इससे वह और भी भयंकर प्रतीत होता था। भीमने उसी अवस्थामें उसे पृथ्वीपर घुमाया और यह बात कही-- ॥ ६५ ॥

हिडिम्बबकयोः पाप न त्वमश्रुप्रमार्जनम् ।
करिष्यसि गतश्चापि यमस्य सदनं प्रति ॥ ६६ ॥

'ओ पापी! अब तू यमलोकमें जाकर भी हिडिम्ब और बकासुरके आँसू न पोंछ सकेगा' ॥ ६६ ॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं राक्षसं क्रोधपरीतचेताः ।
विस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ६७ ॥

ऐसा कहकर क्रोधसे भरे हृदयवाले नरवीर भीमने उस राक्षसको, जिसके वस्त्र और आभूषण खिसककर इधर-उधर गिर गये थे और चित्त भ्रान्त हो रहा था, प्राण निकल जानेपर छोड़ दिया ॥ ६७ ॥

तस्मिन् हते तोयदतुल्यरूपे
कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः ।
भीमं प्रशस्याथ गुणैरनेकै-
र्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ॥ ६८ ॥

उस राक्षसका रूप-रंग मेघके समान काला था। उसके मारे जानेपर राजकुमार पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और भीमसेनके अनेक गुणोंकी प्रशंसा करते हुए द्रौपदीको आगे करके वहाँसे द्वैतवनकी ओर चल दिये ॥ ६८ ॥

विदुर उवाच

एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप ।
भीमेन वचनात् तस्य धर्मराजस्य कौरव ॥ ६९ ॥

विदुरजी कहते हैं--नरेश्वर! इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भीमसेनने किर्मीरको युद्धमें मार गिराया ॥

ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ॥ ७० ॥

तदनन्तर विजयी एवं धर्मज्ञ पाण्डुकुमार उस वनको निष्कण्टक (राक्षसरहित) बनाकर द्रौपदीके साथ वहाँ रहने लगे ॥ ७० ॥

समाश्वास्य च ते सर्वे द्रौपदीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ॥ ७१ ॥

भरतकुलके भूषणरूप उन सभी वीरोंने द्रौपदीको आश्वासन देकर प्रसन्नचित्त हो प्रेमपूर्वक भीमसेनकी सराहना की ॥ ७१ ॥

भीमबाहुबलोत्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः।
विविशुस्ते वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ७२ ॥

भीमसेनके बाहुबलसे पिसकर जब वह राक्षस नष्ट हो गया, तब उस अकण्टक एवं कल्याणमय वनमें उन सभी वीरोंने प्रवेश किया ॥ ७२ ॥

स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ॥ ७३ ॥

मैंने महान् वनमें जाते और आते समय रास्तेमें मरकर गिरे हुए उस भयानक एवं दुष्टात्मा राक्षसके शवको अपनी आँखों देखा था, जो भीमसेनके बलसे मारा गया था ॥७३॥

तत्राश्रौषमहं चैतत् कर्म भीमस्य भारत।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्रासन् समागताः ॥ ७४ ॥

भारत! मैंने वनमें उन ब्राह्मणोंके मुखसे, जो वहाँ आये हुए थे, भीमसेनके इस महान् कर्मका वर्णन सुना ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसां वरम्।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासार्तवत् तदा ॥ ७५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राक्षसप्रवर किर्मीरका युद्धमें मारा जाना सुनकर राजा धृतराष्ट्र किसी भारी चिन्तामें डूब गये और शोकातुर मनुष्यकी भाँति लम्बी साँस खींचने लगे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि किर्मीरवधपर्वणि विदुरवाक्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत किर्मीरवधपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(अर्जुनाभिगमनपर्व)

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन और द्रौपदीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति, द्रौपदीका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने प्रति किये गये अपमान और दुःखका वर्णन और भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं धृष्टद्युम्नका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

भोजाः प्रव्रजिताञ्छ्रुत्वा वृष्णयश्चान्धकैः सह।
पाण्डवान् दुःखसंतप्तान् समाजग्मुर्महावने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सुना कि पाण्डव अत्यन्त दुःखसे संतप्त हो राजधानीसे निकलकर चले गये, तब वे उनसे मिलनेके लिये महान् वनमें गये ॥ १ ॥

पाञ्चालस्य च दायादो धृष्टकेतुश्च चेदिपः।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥ २ ॥
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान् क्रोधामर्षसमन्विताः।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान् किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥ ३ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, चेदिराज धृष्टकेतु तथा महापराक्रमी लोकविख्यात केकयराजकुमार सभी भाई क्रोध और अमर्षमें भरकर धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करते हुए कुन्तीकुमारोंसे मिलनेके लिये वनमें गये और आपसमें इस प्रकार कहने लगे, 'हमें क्या करना चाहिये' ॥ २-३ ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः।
परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठं विषण्णः केशवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके वे सभी क्षत्रियशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण विषादग्रस्त हो कुरुप्रवर युधिष्ठिरको नमस्कार करके इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

वासुदेव उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजाओ ! जान पड़ता है, यह पृथ्वी दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासन—इन सबके रक्तका पान करेगी ॥ ५ ॥

एतान् निहत्य समरे ये च तस्य पदानुगाः।
तांश्च सर्वान् विनिर्जित्य सहितान् सनराधिपान् ॥ ६ ॥
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
निकृत्योपचरन् वध्य एष धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

युद्धमें इनको और इनके सब सेवकोंको अन्य राजाओं सहित परास्त करके हम सब लोग धर्मराज युधिष्ठिरको पुनः चक्रवर्ती नरेशके पदपर अभिषिक्त करें। जो दूसरेके साथ छल-कपट अथवा धोखा करके सुख भोग रहा हो, उसे मार डालना चाहिये, यह सनातन धर्म है ॥ ६-७ ॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम् ।
अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तमिव प्रजाः ॥ ८ ॥
संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फाल्गुनः ।
कीर्तयामास कर्माणि सत्यकीर्तेर्महात्मनः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीपुत्रोंके अपमानसे भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे कुपित हो उठे, मानो वे समस्त प्रजाको जलाकर भस्म कर देंगे। उन्हें इस प्रकार क्रोध करते देख अर्जुनने उन्हें शान्त किया और उन सत्यकीर्ति महात्माद्वारा पूर्व शरीरोंमें किये हुए कर्मोंका कीर्तन आरम्भ किया ॥ ८-९ ॥

पुरुषस्याप्रमेयस्य सत्यस्यामिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्यामी, अप्रमेय, सत्यस्वरूप, अमिततेजस्वी, प्रजापतियोंके भी पति, सम्पूर्ण लोकोंके रक्षक तथा परम बुद्धिमान् श्रीविष्णु ही हैं (अर्जुनने उनकी इस प्रकार स्तुति की) ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

दश वर्षसहस्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः ।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें गन्धमादन पर्वतपर आपने यत्रसायंगृह[1] मुनिके रूपमें दस हजार वर्षोंतक विचरण किया है अर्थात् नारायणऋषिके रूपमें निवास किया है ॥११॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा ॥ १२ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें कभी इस धराधाममें अवतीर्ण हो आपने ग्यारह हजार वर्षोंतक केवल जल पीकर रहते हुए पुष्करतीर्थमें निवास किया है ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन ।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ॥ १३ ॥

मधुसूदन ! आप विशालापुरीके बदरिकाश्रममें दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये केवल वायुका आहार करते हुए सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़े रहे हैं ॥ १३ ॥

अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसंततः ।
आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ १४ ॥

कृष्ण ! आप सरस्वती नदीके तटपर उत्तरीय वस्त्रतकका त्याग करके द्वादशवार्षिक यज्ञ करते समयतक शरीरसे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । आपके सारे शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं ॥ १४ ॥

प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम् ।
तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥ १५ ॥
अतिष्ठस्त्वमथैकेन पादेन नियमस्थितः ।
लोकप्रवृत्तिहेतुस्त्वमिति व्यासो ममाब्रवीत् ॥ १६ ॥

गोविन्द ! आप पुण्यात्मा पुरुषोंके निवासयोग्य प्रभासतीर्थमें जाकर लोगोंको तपमें प्रवृत्त करनेके लिये शौच-संतोषादि नियमोंमें स्थित हो महातेजस्वी स्वरूपसे एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक एक ही पैरसे खड़े रहे । ये सब बातें मुझसे श्रीव्यासजीने बतायी हैं ॥ १५-१६ ॥

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव ।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ॥ १७ ॥

केशव ! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं ॥ १७ ॥

निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।
प्रथमोत्पतितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः ॥ १८ ॥

आप भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर अदितिके दोनों मणिमय कुण्डलोंको ले आये थे एवं आपने ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले यज्ञके उपयुक्त घोड़ेकी रचना की थी ॥१८॥

कृत्वा तत् कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्यदानवान्॥ १९ ॥

सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पानेवाले आप लोकेश्वर प्रभुने वह कर्म करके सामना करनेके लिये आये हुए समस्त दैत्यों और दानवोंका युद्धस्थलमें वध किया ॥ १९ ॥

ततः सर्वेश्वरत्वं च सम्प्रदाय शचीपतेः ।
मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ॥ २० ॥

महाबाहु केशव ! तदनन्तर शचीपतिको सर्वेश्वरपद प्रदान करके आप इस समय मनुष्योंमें प्रकट हुए हैं ॥२०॥

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप ।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥ २१ ॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

परंतप ! पुरुषोत्तम ! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए । ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचरगुरु तथा सृष्टिकर्ता एवं अजन्मा आप ही हैं ॥

परायणं देवमूर्धा क्रतुभिर्मधुसूदन ।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने ॥ २३ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आपने चैत्ररथवनमें अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । आप सबके उत्तम आश्रय, देवशिरोमणि और महातेजस्वी हैं ॥ २३ ॥

---

[1] यत्रसायंगृह मुनि वे होते हैं, जो जहाँ सायंकाल हो जाता है, वहीं घरकी तरह रातभर निवास करते हैं ।

शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन ।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि भागशः ॥ २४ ॥

जनार्दन ! उस समय आपने प्रत्येक यज्ञमें पृथक्-पृथक् एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणाके रूपमें दीं ॥ २४ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ॥ २५ ॥

यदुनन्दन ! आप अदितिके पुत्र हो, इन्द्रके छोटे भाई होकर सर्वव्यापी विष्णुके नामसे विख्यात हैं ॥ २५ ॥

शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परंतप ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा ॥ २६ ॥

परंतप श्रीकृष्ण ! आपने वामनावतारके समय छोटे-से बालक होकर भी अपने तेजसे तीन डगोंद्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक—तीनोंको नाप लिया ॥ २६ ॥

सम्प्राप्य दिवमाकाशमादित्यस्यन्दने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन् भास्करं स्वेन तेजसा ॥ २७ ॥

भूतात्मन् ! आपने सूर्यके रथपर स्थित हो द्युलोक और आकाशमें व्याप्त होकर अपने तेजसे भगवान् भास्करको भी अत्यन्त प्रकाशित किया है ॥ २७ ॥

प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ।
अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः ॥ २८ ॥

विभो ! आपने सहस्रों अवतार धारण किये हैं और उन अवतारोंमें सैकड़ों असुरोंका, जो अधर्ममें रुचि रखनेवाले थे, वध किया है ॥ २८ ॥

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ २९ ॥

आपने मुर दैत्यके लोहमय पाश काट दिये, निसुन्द और नरकासुरको मार डाला और पुनः प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सकुशल यात्रा करने योग्य बना दिया ॥ २९ ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
जरासंधश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥ ३० ॥

भगवन् ! आपने जारूथी नगरीमें आहुति, क्राथ, साथियोंसहित शिशुपाल, जरासंध, शैब्य और शतधन्वाको परास्त किया ॥ ३० ॥

तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार मेघके समान घर्घर शब्द करनेवाले सूर्य-तुल्य तेजस्वी रथके द्वारा कुण्डिनपुरमें जाकर आपने रुक्मीको युद्धमें जीता और भोजवंशकी कन्या रुक्मिणीको अपनी पटरानीके रूपमें प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश्च कसेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम् ॥ ३२ ॥

प्रभो ! आपने क्रोधसे इन्द्रद्युम्नको मारा और यवन कसेरुमान् एवं सौभपति शाल्वको भी यमलोक पहुँचा साथ ही शाल्वके सौभ विमानको भी छिन्न-भिन्न करके गिरा दिया ॥ ३२ ॥

एवमेते युधि हता भूयश्चान्याञ्शृणुष्व ह ।
इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इन पूर्वोक्त राजाओंको आपने युद्धमें है। अब आपके द्वारा मारे हुए औरोंके भी नाम सुनि इरावतीके तटपर आपने कार्तवीर्य अर्जुनके सदृश भोजको युद्धमें मार गिराया ॥ ३३ ॥

गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ।
तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ॥ ३४ ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ।

गोपति और तालकेतु—ये दोनों भी आपके ही मारे गये। जनार्दन ! भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न तथा मुनियोंकी प्रिय अपने अधीन की हुई पुण्यमयी नगरीको आप अन्तमें समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥ ३४½ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन ॥
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजु ॥ ३५ ॥
आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत ॥ ३६ ॥

मधुसूदन ! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मत्सर है, न असत्य है, न निर्दयता ही है। दाशार्ह ! फिर कठोरता तो हो ही कैसे सकती है? अच्युत ! महलके मध्य बैठे और अपने तेजसे उद्भासित हुए आपके पास सम्पूर्ण ऋषियोंने अभयकी याचना की ॥ ३५-३६ ॥

युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ।
आत्मन्येवात्मसात् कृत्वा जगदासीः परंतप ॥ ३७ ॥

परंतप मधुसूदन ! प्रलयकालमें समस्त भूतोंका करके इस जगत्को स्वयं ही अपने भीतर रखकर आप ही रहते हैं ॥ ३७ ॥

युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत ।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ॥ ३८ ॥

वार्ष्णेय ! सृष्टिके प्रारम्भकालमें आपके नाभिकमल चराचरगुरु ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिनका रचा हुआ यह जगत् है ॥ ३८ ॥

तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः ॥ ३९ ॥

ललाटाज्जातवाञ्छम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ॥ ४० ॥

जब ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उस समय दो भयंकर दानव मधु और कैटभ उनके प्राण लेनेको उद्यत हो गये। उनका यह अत्याचार देखकर क्रोधमें भरे हुए आप श्रीहरिके ललाट-से भगवान् शंकरका प्रादुर्भाव हुआ, जिनके हाथोंमें त्रिशूल शोभा पा रहा था। उनके तीन नेत्र थे। इस प्रकार वे दोनों देव ब्रह्मा और शिव आपके ही शरीरसे उत्पन्न हुए हैं॥

त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत् ।
तथा नारायण पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ४१ ॥
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने ।
नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ॥ ४२ ॥
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ॥ ४३ ॥

वे दोनों आपकी ही आज्ञाका पालन करनेवाले हैं, यह बात मुझे नारदजीने बतलायी थी। नारायण श्रीकृष्ण! इसी प्रकार पूर्वकालमें चैत्ररथवनके भीतर आपने प्रचुर दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेक यज्ञों तथा महासत्रका अनुष्ठान किया था। भगवान् पुण्डरीकाक्ष! आप महान् बलवान् हैं। बलदेवजी आपके नित्य सहायक हैं। आपने बचपनमें ही जो-जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पुरुषोंने न तो किया है और न करेंगे। आप ब्राह्मणोंके साथ कुछ कालतक कैलास पर्वतपर भी रहे हैं॥ ४१—४३॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत् ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णके आत्मस्वरूप पाण्डुनन्दन अर्जुन उन महात्मासे ऐसा कहकर चुप हो गये। तब भगवान् जनार्दनने कुन्तीकुमारसे इस प्रकार कहा—॥ ४४॥

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥ ४५ ॥

'पार्थ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है। जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है॥

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥ ४६ ॥

'दुर्धर्ष वीर! तुम नर हो और मैं नारायण श्रीहरि हूँ। इस समय हम दोनों नर-नारायण ऋषि ही इस लोकमें आये हैं॥ ४६॥

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

'कुन्तीकुमार! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ। भरतश्रेष्ठ! हम दोनोंका भेद जाना नहीं जा सकता'॥ ४७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना ।
तस्मिन् वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु ॥ ४८ ॥
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता ।
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभिः सह ।
अभिगम्याब्रवीत् क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रोषावेशसे भरे हुए राजाओंकी मण्डलीमें उस वीरसमुदायके मध्य महात्मा केशवके ऐसा कहनेपर धृष्टद्युम्न आदि भाइयोंसे घिरी और कुपित हुई पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी भाइयोंके साथ बैठे हुए शरणागतवत्सल श्रीकृष्णके पास जा उनकी शरणकी इच्छा रखती हुई उनसे बोली॥ ४८-४९॥

द्रौपद्युवाच

पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम् ।
स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ५० ॥

द्रौपदीने कहा—प्रभो! ऋषिलोग प्रजासृष्टिके प्रारम्भ-कालमें एकमात्र आपको ही सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा एवं प्रजा-पति कहते हैं। महर्षि असित-देवलका यही मत है॥ ५०॥

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन ।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥ ५१ ॥

दुर्द्धर्ष मधुसूदन! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं और आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन परशुरामका कथन है॥ ५१॥

ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ।
सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ५२

पुरुषोत्तम! कश्यपजीका कहना है कि महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं। सत्यसे प्रकट हुए यज्ञ भी आप ही हैं॥ ५२॥

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भूतभावन भूतेश्वर! आप साध्य देवताओं तथा कल्याण-कारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं। नारदजीने आपके विषयमें यही विचार प्रकट किया है॥ ५३॥

ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ॥ ५४ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार आप ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र आदि देवताओंसे बारम्बार क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ५४ ॥

द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५५ ॥

प्रभो ! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है। ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं। आप सनातन पुरुष हैं ॥ ५५ ॥

विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः ॥ ५६ ॥

विद्या और तपस्यासे सम्पन्न तथा तपके द्वारा शोधित अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानसे तृप्त महर्षियोंमें आप ही परम श्रेष्ठ हैं ॥ ५६ ॥

राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥ ५७ ॥

पुरुषोत्तम ! युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले, सब धर्मोंसे सम्पन्न पुण्यात्मा राजर्षियोंके आप ही आश्रय हैं। आप ही प्रभु (सबके स्वामी), आप ही विभु (सर्वव्यापी) और आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। आप ही विविध प्राणियोंके रूपमें नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे हैं ॥ ५७ ॥

लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥

लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य सब आपमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ५८ ॥

मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५९ ॥

महाबाहो ! भूलोकके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा सम्पूर्ण जगत्का कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५९ ॥

सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन ।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ६० ॥

मधुसूदन ! मैं आपके प्रति प्रेम होनेके कारण आपसे अपना दुःख निवेदन करूँगी; क्योंकि दिव्य और मानव जगत्में जितने भी प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर आप ही हैं ॥

कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ॥ ६१ ॥

भगवन् कृष्ण ! मेरे-जैसी स्त्री जो कुन्तीपुत्रोंकी पत्नी, आपकी सखी और धृष्टद्युम्न-जैसे वीरकी बहिन हो, क्या किसी तरह सभामें (केश पकड़कर) घसीटकर लायी जा सकती है ? ॥ ६१ ॥

स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता ।
एकवस्त्रा विकृष्टास्मि दुःखिता कुरुसंसदि ॥ ६२ ॥

मैं रजस्वला थी, मेरे कपड़ोंपर रक्तके छींटे लगे थे, शरीरपर एक ही वस्त्र था और लज्जा एवं भयसे मैं थर-थर काँप रही थी। उस दशामें मुझ दुःखिनी अबलाको कौरवोंकी सभामें घसीटकर लाया गया था ॥ ६२ ॥

राज्ञां मध्ये सभायां तु रजसातिपरिप्लुता ।
दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्राः प्राहसन् पापचेतसः ॥ ६३ ॥

भरी सभामें राजाओंकी मण्डलीके बीच अत्यन्त रजस्राव होनेके कारण मैं रक्तसे भींगी जा रही थी। उस अवस्थामें मुझे देखकर धृतराष्ट्रके पापात्मा पुत्रोंने जोर-जोरसे हँसकर मेरी हँसी उड़ायी ॥ ६३ ॥

दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन ।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेषु च वृष्णिषु ॥ ६४ ॥

मधुसूदन ! पाण्डवों, पाञ्चालों और वृष्णिवंशी वीरोंके जीते-जी धृतराष्ट्रके पुत्रोंने दासीभावसे मेरा उपभोग करनेकी इच्छा प्रकट की ॥ ६४ ॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्र-वधू हूँ, तो भी उनके सामने ही बलपूर्वक दासी बनायी गयी ॥

गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान् महाबलान् ।
यत्क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ६६ ॥

मैं तो संग्राममें श्रेष्ठ इन महाबली पाण्डवोंकी ही निन्दा करती हूँ; जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नीको शत्रुओंद्वारा सतायी जाती हुई देख रहे थे ॥ ६६ ॥

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च गाण्डिवम् ।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ॥ ६७ ॥

जनार्दन ! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है, जो उन नराधमोंद्वारा मुझे अपमानित होती देखकर भी सहन करते रहे ॥ ६७ ॥

शाश्वतोऽयं धर्मपथः सद्भिराचरितः सदा ।
यद् भार्यां परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पबला अपि ॥ ६८ ॥

सत्पुरुषोंद्वारा सदा आचरणमें लाया हुआ यह धर्मका सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नीकी रक्षा करते हैं ॥ ६८ ॥

भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ ६९ ॥

पत्नीकी रक्षा करनेसे अपनी संतान सुरक्षित होती है और संतानकी रक्षा होनेपर अपने आत्माकी रक्षा होती है

आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत ।
भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ॥ ७० ॥

अपना आत्मा ही स्त्रीके गर्भसे जन्म लेता है; इसीलिये वह जाया कहलाती है । पत्नीको भी अपने पतिकी रक्षा इसीलिये करनी चाहिये कि यह किसी प्रकार मेरे उदरसे जन्म ग्रहण करे ॥ ७० ॥

नन्विमे शरणं प्राप्तं न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नान्वपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ७१ ॥

ये अपनी शरणमें आनेपर कभी किसीका भी त्याग नहीं करते; किंतु इन्हीं पाण्डवोंने मुझ शरणागत अबलापर तनिक भी दया नहीं की ॥ ७१ ॥

पञ्चभिः पतिभिर्जाताः कुमारा मे महौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्यास्मि जनार्दन ॥ ७२ ॥

जनार्दन ! इन पाँच पतियोंसे उत्पन्न हुए मेरे महाबली पाँच पुत्र हैं । उनकी देखभालके लिये भी मेरी रक्षा आवश्यक थी ॥ ७२ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिश्च शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ ७३ ॥
कनिष्ठाच्छ्रुतकर्मा च सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण तादृशास्ते महारथाः ॥ ७४ ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और छोटे पाण्डव सहदेवसे श्रुतकर्माका जन्म हुआ है । ये सभी कुमार सच्चे पराक्रमी हैं । श्रीकृष्ण ! आपका पुत्र प्रद्युम्न जैसा शूरवीर है, वैसे ही वे मेरे महारथी पुत्र भी हैं ॥ ७३-७४ ॥

नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ॥ ७५ ॥

ये धनुर्विद्यामें श्रेष्ठ तथा शत्रुओंद्वारा युद्धमें अजेय हैं तो भी दुर्बल धृतराष्ट्र-पुत्रोंका अत्याचार कैसे सहन करते हैं ? ॥ ७५ ॥

अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।
सभायां परिकृष्टाहमेकवस्त्रा रजस्वला ॥ ७६ ॥

अधर्मसे सारा राज्य हरण कर लिया गया, सब पाण्डव दास बना दिये गये और मैं एकवस्त्रधारिणी रजस्वला होनेपर भी सभामें घसीटकर लायी गयी ॥ ७६ ॥

नाधिज्यमपि यच्छक्यं कर्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्रार्जुनभीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन ॥ ७७ ॥

मधुसूदन ! अर्जुनके पास जो गाण्डीव धनुष है, उसपर अर्जुन, भीम अथवा आपके सिवा दूसरा कोई प्रत्यञ्चा भी नहीं चढ़ा सकता (तो भी ये मेरी रक्षा न कर सके) ॥

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च पौरुषम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७८ ॥

कृष्ण ! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके पुरुषार्थको भी धिक्कार है, जिसके होते हुए दुर्योधन इतना बड़ा अत्याचार करके दो घड़ी भी जीवित रह रहा है ॥ ७८ ॥

य एतानाक्षिपद् राष्ट्रात् सह मात्राविहिंसकान् ।
अधीयानान् पुरा बालान् व्रतस्थान् मधुसूदन ॥ ७९ ॥

मधुसूदन ! पहले बाल्यावस्थामें, जब कि पाण्डव ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए अध्ययनमें लगे थे, किसीकी हिंसा नहीं करते थे, जिस दुष्टने इन्हें इनकी माताके साथ राज्यसे बाहर निकाल दिया था ॥ ७९ ॥

भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद् विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भूतं लोमहर्षणम् ॥ ८० ॥

जिस पापीने भीमसेनके भोजनमें नूतन, तीक्ष्ण, परिमाणमें अधिक एवं रोमाञ्चकारी कालकूट नामक विष डलवा दिया था ॥ ८० ॥

तज्जीर्णमविकारेण सहान्नेन जनार्दन ।
सशेषत्वान्महाबाहो भीमस्य पुरुषोत्तम ॥ ८१ ॥

महाबाहु नरश्रेष्ठ जनार्दन ! भीमसेनकी आयु शेष थी, इसीलिये वह घातक विष अन्नके साथ ही पच गया और उसने कोई विकार नहीं उत्पन्न किया (इस प्रकार उस दुर्योधनके अत्याचारोंको कहाँतक गिनाया जाय) ॥ ८१ ॥

प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बद्ध्वैनं कृष्ण गङ्गायां प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ ८२ ॥

श्रीकृष्ण ! प्रमाणकोटि तीर्थमें, जब भीमसेन विश्वस्त होकर सो रहे थे, उस समय दुर्योधनने इन्हें बाँधकर गङ्गामें फेंक दिया और स्वयं चुपचाप राजधानीमें लौट आया ॥ ८२ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

जब इनकी आँख खुली तो ये महाबली महाबाहु भीमसेन सारे बन्धनोंको तोड़कर जलसे ऊपर उठे ॥ ८३ ॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैर्भीमसेनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ ८४ ॥

इनके सारे अङ्गोंमें विषैले काले सर्पोंसे डँसवाया; परंतु शत्रुहन्ता भीमसेन मर न सके ॥ ८४ ॥

प्रतिबुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान् सर्पानपोथयत् ।
सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥ ८५ ॥

जागनेपर कुन्तीनन्दन भीमने सब सर्पोंको उठा-उठाकर पटक दिया । दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको भी उलटे हाथसे मार डाला ॥ ८५ ॥

पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद् बालकान् वारणावते ।
शयानानार्यया सार्धं को नु तत् कर्तुमर्हति ॥ ८६ ॥

इतना ही नहीं, वारणावतमें आर्या कुन्तीके साथमें ये बालक पाण्डव सो रहे थे; उस समय उसने घरमें आग लगवा दी। ऐसा दुष्कर्म दूसरा कौन कर सकता है ? ॥ ८६ ॥

यत्रार्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
महद् व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ॥ ८७ ॥

उस समय वहाँ आर्या कुन्ती भयभीत हो रोती हुई पाण्डवोंसे इस प्रकार बोलीं—'मैं बड़े भारी संकटमें पड़ी, आगसे घिर गयी ॥ ८७ ॥

हा हतास्मि कुतो न्वद्य भवेच्छान्तिरिहानलात् ।
अनाथा विनशिष्यामि बालकैः पुत्रकैः सह ॥ ८८ ॥

'हाय ! हाय ! मैं मारी गयी; अब इस आगसे कैसे शान्ति प्राप्त होगी ? मैं अनाथकी तरह अपने बालक पुत्रोंके साथ नष्ट हो जाऊँगी' ॥ ८८ ॥

तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः ।
आर्यामाश्वासयामास भ्रातॄंश्चापि वृकोदरः ॥ ८९ ॥
वैनतेयो यथा पक्षी गरुत्मान् पततां वरः ।
तथैवाभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ॥ ९० ॥

उस समय वहाँ वायुके समान वेग और पराक्रमवाले महाबाहु भीमसेनने आर्या कुन्ती तथा भाइयोंको आश्वासन देते हुए कहा—'पक्षियोंमें श्रेष्ठ विनतानन्दन गरुड जैसे उड़ा करते हैं, उसी प्रकार मैं भी तुम सबको लेकर यहाँसे चल दूँगा। अतः तुम्हें यहाँ तनिक भी भय नहीं है' ॥८९-९०॥

आर्यामङ्केन वामेन राजानं दक्षिणेन च ।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ॥ ९१ ॥
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान् ।
भ्रातॄनार्यां च बलवान् मोक्षयामास पावकात्॥ ९२ ॥

ऐसा कहकर पराक्रमी एवं बलवान् भीमने आर्या कुन्तीको बायें अङ्कमें, धर्मराजको दाहिने अङ्कमें, नकुल और सहदेवको दोनों कंधोंपर तथा अर्जुनको पीठपर चढ़ा लिया और सबको लिये-दिये सहसा वेगसे उछलकर इन्होंने उस भयंकर अग्निसे भाइयों तथा माताकी रक्षा की * ॥९१-९२॥

ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे सह मात्रा यशस्विनः ।
अभ्यगच्छन्महारण्ये हिडिम्बवनमन्तिकात् ॥ ९३ ॥

फिर वे सब यशस्वी पाण्डव माताके साथ रातमें ही वहाँसे चल दिये और हिडिम्ब-वनके पास एक भारी वनमें जा पहुँचे ॥

श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः ।
सुप्तांश्चैनानभ्यगच्छद्धिडिम्बा नाम राक्षसी ॥ ९४ ॥

वहाँ मातासहित ये दुखी पाण्डव थककर सो गये। सो जानेपर इनके निकट हिडिम्बा नामक राक्षसी आयी ॥९४॥

सा दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सुप्तान् मात्रा सह क्षितौ।
हृच्छयेनाभिभूतात्मा भीमसेनमकामयत् ॥ ९५ ॥

मातासहित पाण्डवोंको वहाँ धरतीपर सोते देख कामसे पीड़ित हो उस राक्षसीने भीमसेनकी कामना की ॥ ९५ ॥

भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततोऽबला ।
पर्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ॥ ९६ ॥

भीमके पैरोंको अपनी गोदमें लेकर वह कल्याणमयी अबला अपने कोमल हाथोंसे प्रसन्नतापूर्वक दबाने लगी ॥९६॥

तामबुध्यदमेयात्मा बलवान् सत्यविक्रमः ।
पर्यपृच्छत तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते ॥ ९७ ॥

उसका स्पर्श पाकर बलवान् सत्यपराक्रमी तथा अमेयात्मा भीमसेन जाग उठे । जागनेपर उन्होंने पूछा—'सुन्दरी ! तुम यहाँ क्या चाहती हो ?' ॥ ९७ ॥

एवमुक्ता तु भीमेन राक्षसी कामरूपिणी ।
भीमसेनं महात्मानमाह चैवमनिन्दिता ॥ ९८ ॥

इस प्रकार पूछनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली उस अनिन्द्य सुन्दरी राक्षसकन्याने महात्मा भीमसे कहा—॥९८॥

पलायध्वमितः क्षिप्रं मम भ्रातैष वीर्यवान् ।
आगमिष्यति वो हन्तुं तस्माद् गच्छत मा चिरम् ॥ ९९ ॥

'आपलोग यहाँसे जल्दी भाग जायँ, मेरा यह बलवान् भाई हिडिम्ब आपको मारनेके लिये आयेगा; अतः आपलोग जल्दी चले जाइये, देर न कीजिये' ॥ ९९ ॥

अथ भीमोऽभ्युवाचैनां साभिमानमिदं वचः ।
नोद्विजेयमहं तस्मान्निहनिष्येऽहमागतम् ॥ १०० ॥

यह सुनकर भीमने अभिमानपूर्वक कहा—'मैं उस राक्षससे नहीं डरता । यदि यहाँ आयगा, तो मैं ही उसे मार डालूँगा' ॥ १०० ॥

तयोः श्रुत्वा तु संजल्पमागच्छद् राक्षसाधमः ।
भीमरूपो महानादान् विसृजन् भीमदर्शनः ॥ १०१ ॥

उन दोनोंकी बातचीत सुनकर वह भीम रूपधारी भयंकर एवं नीच राक्षस बड़े जोरसे गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ॥ १०१ ॥

---

* आदिपर्वके १४७वें अध्यायके लाक्षागृहदाहप्रसङ्गमें बतलाया है कि 'भीमसेनने माताको तो कंधेपर चढ़ा लिया और नकुल-सहदेवको गोदमें उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे ।' इस कथनसे द्रौपदीके वचन भिन्न हैं; क्योंकि द्रौपदीका उस समय विवाह नहीं हुआ था, अतः द्रौपदी इस बातको ठीक-ठीक नहीं जानती थी, इसीसे वह लोगोंके मुखसे सुनी-सुनायी बात अनुमानसे कह रही है; अतः लाक्षागृहदाहके प्रसङ्गकी बात ही ठीक है ।

राक्षस उवाच

केन सार्धं कथयसि आनयैनं ममान्तिकम् ।
हिडिम्बे भक्षयिष्यामो न चिरं कर्तुमर्हसि ॥१०२॥

राक्षस बोला—हिडिम्बे ! तू किससे बात कर रही है ? लाओ इसे मेरे पास । हमलोग खायँगे । अब तुम्हें देर नहीं करनी चाहिये ॥ १०२ ॥

सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी ।
नैनमैच्छत् तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ॥१०३॥

मनस्विनी एवं अनिन्दिता हिडिम्बाने स्नेहयुक्त हृदयके कारण दयावश यह क्रूरतापूर्ण संदेश भीमसेनसे कहना उचित न समझा ॥ १०३ ॥

स नादान् विनदन् घोरान् राक्षसः पुरुषादकः।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ॥१०४॥

इतनेहीमें वह नरभक्षी राक्षस घोर गर्जना करता हुआ बड़े वेगसे भीमसेनकी ओर दौड़ा ॥ १०४ ॥

तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता बली ।
अगृह्णात् पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः ॥१०५॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम् ।
संहत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत् सहसा करम् ॥१०६॥

क्रोधमें भरे हुए उस बलवान् राक्षसने बड़े वेगसे निकट जाकर अपने हाथसे भीमसेनका हाथ पकड़ लिया । भीमसेनके हाथका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान था । उनका शरीर भी वैसा ही सुदृढ़ था । राक्षसने भीमसेनसे भिड़कर उनके हाथको सहसा झटक दिया ॥

गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनस्य रक्षसा ।
नामृष्यत महाबाहुस्तत्राक्रुध्यद् वृकोदरः ॥१०७॥

राक्षसने भीमसेनके हाथको अपने हाथसे पकड़ लिया; यह बात महाबाहु भीमसेन नहीं सह सके । वे वहीं कुपित हो गये ॥ १०७ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः ।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥१०८॥

उस समय सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता भीमसेन और हिडिम्बमें इन्द्र और वृत्रासुरके समान भयानक एवं घमासान युद्ध होने लगा ॥ १०८ ॥

विक्रीड्य सुचिरं भीमो राक्षसेन सहानघ ।
निजघान महावीर्यस्तं तदा निर्बलं बली ॥१०९॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! महापराक्रमी और बलवान् भीमसेनने उस राक्षसके साथ बहुत देरतक खिलवाड़ करके उसके निर्बल हो जानेपर उसे मार डाला ॥ १०९ ॥

हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह ।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः॥११०॥

इस प्रकार हिडिम्बको मारकर हिडिम्बाको आगे किये भीमसेन अपने भाइयोंके साथ आगे बढ़े । उसी हिडिम्बासे घटोत्कचका जन्म हुआ ११० ॥

ततः सम्प्राद्रवन् सर्वे सह मात्रा परंतपाः ।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ॥१११॥

तदनन्तर सब परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आगे बढ़े । ब्राह्मणोंसे घिरे हुए ये लोग एकचक्रा नगरीकी ओर चल दिये ॥ १११ ॥

प्रस्थाने व्यास एषां च मन्त्री प्रियहिते रतः ।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः संशितव्रताः ॥११२॥

उस यात्रामें इनके प्रिय एवं हितमें लगे हुए व्यासजी ही इनके परामर्शदाता हुए । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उन्हींकी सम्मतिसे एकचक्रा पुरीमें गये ॥ ११२ ॥

तत्राप्यासादयामासुर्बकं नाम महाबलम् ।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव सम्मितम् ॥११३॥

वहाँ जानेपर भी इन्हें नरभक्षी राक्षस महाबली बकासुर मिला । वह भी हिडिम्बके ही समान भयंकर था ॥ ११३ ॥

तं चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरतां वरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ॥११४॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीम उस भयंकर राक्षसको मारकर अपने सब भाइयोंके साथ मेरे पिता द्रुपदकी राजधानीमें गये ॥

लब्धाहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना ।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ॥११५॥

श्रीकृष्ण ! जैसे आपने भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीको जीता था, उसी प्रकार मेरे पिताकी राजधानीमें रहते समय सव्यसाची अर्जुनने मुझे जीता ॥ ११५ ॥

एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताहं मधुसूदन ।
स्वयंवरे महत् कर्म कृत्वा न सुकरं परैः ॥११६॥

मधुसूदन ! स्वयंवरमें, जो महान् कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर था, वह करके भारी युद्धमें भी अर्जुनने मुझे जीत लिया था ॥

एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमाना सुदुःखिता ।
निवसाम्यार्यया हीना कृष्ण धौम्यपुरःसरा ॥११७॥

परंतु आज मैं इन सबके होते हुए भी अनेक प्रकारके क्लेश भोगती और अत्यन्त दुःखमें डूबी रहकर अपनी सास कुन्तीसे अलग हो धौम्यजीको आगे रखकर वनमें निवास करती हूँ ॥ ११७ ॥

त इमे सिंहविक्रान्ता वीर्येणाभ्यधिकाः परैः ।
विहीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपेक्षन्त मां कथम् ॥११८॥

ये सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव बल-वीर्यमें शत्रुओंसे बढ़े-चढ़े हैं, इनसे सर्वथा हीन कौरव मुझे भरी सभामें कष्ट दे रहे थे, तो भी इन्होंने क्यों मेरी उपेक्षा की ? ॥ ११८ ॥

एतादृशानि दुःखानि सहन्ती दुर्बलीयसाम्।
दीर्घकालं प्रदीतास्मि पापानां पापकर्मणाम् ॥११९॥

पापकर्मोंमें लगे हुए अत्यन्त दुर्बल पापी शत्रुओंके दिये हुए ऐसे-ऐसे दुःख मैं सह रही हूँ और दीर्घ-कालसे चिन्ताकी आगमें जल रही हूँ ॥ ११९ ॥

कुले महति जातास्मि दिव्येन विधिना किल।
पाण्डवानां प्रिया भार्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः॥१२०॥

यह प्रसिद्ध है कि मैं दिव्य विधिसे एक महान् कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी और महाराज पाण्डुकी पुत्रवधू हूँ ॥ १२० ॥

कचग्रहमनुप्राप्ता सास्मि कृष्ण वरा सती।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन ॥१२१॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मैं श्रेष्ठ और सती-साध्वी होती हुई भी इन पाँचों पाण्डवोंके देखते-देखते केश पकड़कर घसीटी गयी ॥ १२१ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना।
पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ॥१२२॥

ऐसा कहकर मृदुभाषिणी द्रौपदी कमलकोशके समान कान्तिमान् एवं कोमल हाथसे अपना मुँह ढककर फूट-फूटकर रोने लगी ॥ १२२ ॥

स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुबिन्दुभिः ॥१२३॥

पाञ्चालराजकुमारी कृष्णा अपने कठोर, उभरे हुए, शुभलक्षण तथा सुन्दर स्तनोंपर दुःखजनित अश्रुबिन्दुओंकी वर्षा करने लगी ॥ १२३ ॥

चक्षुषी परिमार्जन्ती निःश्वसन्ती पुनः पुनः।
बाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥१२४॥

कुपित हुई द्रौपदी बार-बार सिसकती और आँसू पोंछती हुई आँसूभरे कण्ठसे बोली--॥ १२४ ॥

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ॥१२५॥

'मधुसूदन ! मेरे लिये न पति हैं, न पुत्र हैं, न बान्धव हैं, न भाई हैं, न पिता हैं और न आप ही हैं ॥ १२५ ॥

ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत्।
न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत् प्राहसत् तदा ॥१२६॥

'क्योंकि आप सब लोग, नीच मनुष्योंद्वारा जो मेरा अपमान हुआ था, उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, मानो इसके लिये आपके हृदयमें तनिक भी दुःख नहीं है। उस समय कर्णने जो मेरी हँसी उड़ायी थी, उससे उत्पन्न हुआ दुःख मेरे हृदयसे दूर नहीं होता है ॥ १२६ ॥

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः।
सम्बन्धाद् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव॥१२७॥

'श्रीकृष्ण ! चार कारणोंसे आपको सदा मेरी रक्षा करनी चाहिये। एक तो आप मेरे सम्बन्धी हैं, दूसरे अग्निकुण्डमें उत्पन्न होनेके कारण मैं गौरवशालिनी हूँ, तीसरे आपकी सच्ची सखी हूँ और चौथे आप मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हैं' ॥१२७॥

वैशम्पायन उवाच

अथ तामब्रवीत् कृष्णस्तस्मिन् वीरसमागमे।

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने वीरोंके उस समुदायमें द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ १२७½ ॥

वासुदेव उवाच

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि।
बीभत्सुशरसंछन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान् ॥१२८॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः॥१२९॥

श्रीकृष्ण बोले—भाविनि ! तुम जिनपर क्रुद्ध हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी अपने प्राणप्यारे पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न और खूनसे लथपथ हो मरकर धरतीपर पड़ा देख इसी प्रकार रोयेंगी। पाण्डवोंके हितके लिये जो कुछ भी सम्भव है, वह सब करूँगा, शोक न करो ॥ १२८-१२९ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ॥१३०॥
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ।
तच्छ्रुत्वा द्रौपदी वाक्यं प्रतिवाक्यमथाच्युतात् ॥१३१॥
साचीकृतमवेक्षत् सा पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ।
आबभाषे महाराज द्रौपदीमर्जुनस्तदा ॥१३२॥

मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी । कृष्णे ! आसमान फट पड़े, हिमालय पर्वत विदीर्ण हो जाय, पृथ्वीके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ और समुद्र सूख जाय, किंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती । द्रौपदीने अपनी बातोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे ऐसी बातें सुनकर तिरछी चितवनसे अपने मँझले पति अर्जुनकी ओर देखा । महाराज ! तब अर्जुनने द्रौपदीसे कहा—॥ १३०-१३२ ॥

मा रोदीः शुभताम्राक्षि यदाह मधुसूदनः ।
तथा तद् भविता देवि नान्यथा वरवर्णिनि ॥१३३॥

'लालिमायुक्त सुन्दर नेत्रोंवाली देवि ! वरवर्णिनि ! रोओ मत । भगवान् मधुसूदन जो कुछ कह रहे हैं, वह अवश्य होकर रहेगा; टल नहीं सकता' ॥ १३३ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम् ।
दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनंजयः ॥१३४॥
रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म रणे स्वसः ।
अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजे ॥१३५॥

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन ! मैं द्रोणको मार डालूँगा, शिखण्डी भीष्मका वध करेंगे, भीमसेन दुर्योधनको मार गिरायेंगे और अर्जुन कर्णको यमलोक भेज देंगे । भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामका आश्रय पाकर हमलोग युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हैं । इन्द्र भी हमें रणमें परास्त नहीं कर सकते । फिर धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३४-१३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेऽभिमुखा वीरा वासुदेवमुपास्थिताः ।
तेषां मध्ये महाबाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥१३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृष्टद्युम्नके ऐसा कहनेपर वहाँ बैठे हुए वीर भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे । उनके बीचमें बैठे हुए महाबाहु केशवने उनसे ऐसा कहा ॥ १३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपद्याश्वासने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-आश्वासनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका जूएके दोष बताते हुए पाण्डवोंपर आयी हुई विपत्तिमें अपनी अनुपस्थितिको कारण मानना

वासुदेव उवाच

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप ।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् संनिहितः पुरा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! यदि मैं पहले द्वारकामें या उसके निकट होता तो आप इस भारी संकटमें नहीं पड़ते ॥ १ ॥

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ।
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ॥ २ ॥

दुर्जय वीर ! अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, राजा दुर्योधन तथा अन्य कौरवोंके बिना बुलाये भी मैं उस द्यूतसभामें आता और जूएके अनेक दोष दिखाकर उसे रोकनेकी चेष्टा करता ॥

भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ।
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ॥ ३ ॥
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ।
तत्राचक्षमहं दोषान् यैर्भवान् व्यतिरोपितः ॥ ४ ॥

प्रभो ! मैं आपके लिये भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक तथा राजा धृतराष्ट्रको बुलाकर कहता—'कुरुवंशके महाराज ! आपके पुत्रोंको जूआ नहीं खेलना चाहिये ।' राजन् ! मैं द्यूतसभामें जूएके उन दोषोंको स्पष्टरूपसे बताता, जिनके कारण आपको अपने राज्यसे वञ्चित होना पड़ा है ॥ ३-४ ॥

वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात् प्रभ्रंशितः पुरा।
अतर्कितविनाशश्च देवनेन विशाम्पते ॥ ५ ॥

तथा जिन दोषोंने पूर्वकालमें वीरसेनपुत्र महाराज नलको राजसिंहासनसे च्युत किया। नरेश्वर! जूआ खेलनेसे सहसा ऐसा सर्वनाश उपस्थित हो जाता है, जो कल्पनामें भी नहीं आ सकता ॥ ५ ॥

सातत्यं च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥ ६ ॥

इसके सिवा उससे सदा जूआ खेलनेकी आदत बन जाती है। यह सब बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ ॥ ६ ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम्।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः।
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ८ ॥

स्त्रियोंके प्रति आसक्ति, जूआ खेलना, शिकार खेलनेका शौक और मद्यपान—ये चार प्रकारके भोग कामनाजनित दुःख बताये गये हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने धन-ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है। शास्त्रोंके निपुण विद्वान् सभी परिस्थितियोंमें इन चारोंको निन्दनीय मानते हैं; परंतु द्यूतक्रीडाको तो जूएके दोष जाननेवाले लोग विशेषरूपसे निन्दनीय समझते हैं ॥

एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च।
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥ ९ ॥
एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गिकटुकोदयम्।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिकासुतम् ॥ १० ॥

जूएसे एक ही दिनमें सारे धनका नाश हो जाता है। साथ ही जूआ खेलनेसे उसके प्रति आसक्ति होनी निश्चित है। समस्त भोग-पदार्थोंका बिना भोगे ही नाश हो जाता है और बदलेमें केवल कटुवचन सुननेको मिलते हैं। कुरुनन्दन! ये तथा और भी बहुत-से दोष हैं, जो जूएके प्रसंगसे कटु परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं। महाबाहो! मैं धृतराष्ट्रसे मिलकर जूएके ये सभी दोष बतलाता ॥ १० ॥

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद् वचनं मम।
अनामयं स्याद् धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन ॥ ११ ॥

कुरुवर्धन! मेरे इस प्रकार समझाने-बुझानेपर यदि वे मेरी बात मान लेते, तो कौरवोंमें शान्ति बनी रहती और धर्मका भी पालन होता ॥ ११ ॥

न चेत् स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥ १२ ॥

राजेन्द्र! भरतश्रेष्ठ! यदि वे मेरे मधुर एवं हितकर वचनको सुनकर उसे न मानते, तो मैं उन्हें बलपूर्वक रोक देता ॥ १२ ॥

अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः।
सभासदोऽनुवर्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥ १३ ॥

यदि वहाँ सुहृद्‌नामधारी शत्रु अन्यायका आश्रय ले इस धृतराष्ट्रका साथ देते, तो मैं उन सभासद जुआरियोंको मार डालता ॥ १३ ॥

असांनिध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत् तदा।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ! मैं उन दिनों आनर्तदेशमें ही नहीं था, इसीलिये आपलोगोंपर यह द्यूतजनित संकट आ गया ॥ १४ ॥

सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद् यथातथम् ॥ १५ ॥

कुरुप्रवर पाण्डुनन्दन! जब मैं द्वारकामें आया, तब सात्यकिसे आपके संकटमें पड़नेका यथावत् समाचार सुना ॥ १५ ॥

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशाम्पते ॥ १६ ॥

राजेन्द्र! वह सुनते ही मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और प्रजेश्वर! मैं तुरंत ही आपसे मिलनेके लिये चला आया ॥ १६ ॥

अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ।
सोऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः ॥ १७ ॥

भरतकुलभूषण! अहो! आप सब लोग बड़ी कठिनाईमें पड़ गये हैं। मैं तो आपको सब भाइयोंसहित विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि वासुदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें वासुदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

द्यूतके समय न पहुँचनेमें श्रीकृष्णके द्वारा शाल्वके साथ युद्ध करने और सौभ विमानसहित उसे नष्ट करनेका संक्षिप्त वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

असांनिध्यं कथं कृष्ण तवासीद् वृष्णिनन्दन।
क चासीद् विप्रवासस्ते किं चाकार्षीः प्रवासतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—वृष्णिकुलको आनन्दित करनेवाले

श्रीकृष्ण ! जब यहाँ द्यूतक्रीडाका आयोजन हो रहा था, उस समय तुम द्वारकामें क्यों अनुपस्थित रहे ? उन दिनों तुम्हारा निवास कहाँ था और उस प्रवासके द्वारा तुमने कौन-सा कार्य सिद्ध किया ? ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ ।
निहन्तुं कौरवश्रेष्ठ तत्र मे शृणु कारणम् ॥ २ ॥
महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः ।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ॥ ३ ॥
यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ राजसूयेऽर्हणां प्रति ।
स रोषवशमापन्नो नामृष्यत दुरात्मवान् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
उपायाद् द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! कुरुकुलभूषण ! मैं उन दिनों शाल्वके सौभ नामक नगराकार विमानको नष्ट करनेके लिये गया हुआ था । इसका क्या कारण था, वह बतलाता हूँ, सुनिये । भरतश्रेष्ठ ! आपके राजसूययज्ञमें अग्रपूजाके प्रश्नको लेकर जो क्रोधके वशीभूत हो इस कार्यको नहीं सह सका था और इसीलिये जिस दुरात्मा महातेजस्वी महाबाहु एवं महायशस्वी दमघोषनन्दन वीर राजा शिशुपालको मैंने मार डाला था; उसकी मृत्युका समाचार सुनकर शाल्व प्रचण्ड रोषसे भर गया । भारत ! मैं तो यहाँ हस्तिनापुरमें था और वह हमलोगोंसे सूनी द्वारकापुरीमें जा पहुँचा ॥ २–५ ॥

स तत्र योधितो राजन् कुमारैर्वृष्णिपुङ्गवैः ।
आगतः कामगं सौभमारुह्यैव नृशंसवत् ॥ ६ ॥

राजन् ! वहाँ वृष्णिवंशके श्रेष्ठ कुमारोंने उसके साथ युद्ध किया । वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभनामक विमानपर बैठकर आया और क्रूर मनुष्यकी भाँति यादवोंकी हत्या करने लगा ॥

ततो वृष्णिप्रवीरांस्तान् बालान् हत्वा बहूंस्तदा ।
पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामास दुर्मतिः ॥ ७ ॥

उस खोटी बुद्धिवाले शाल्वने वृष्णिवंशके बहुतेरे बालकोंका वध करके नगरके सब बगीचोंको उजाड़ डाला ॥

उक्तवांश्च महाबाहो क्वासौ वृष्णिकुलाधमः ।
वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ॥ ८ ॥

महाबाहो ! उसने यादवोंसे पूछा—'वह वृष्णिकुलका कलङ्क मन्दात्मा वसुदेवपुत्र वासुदेव कहाँ है ? ॥ ८ ॥

तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयितास्म्यहम् ।
आनर्ताः सत्यमाख्यात तत्र गन्तास्मि यत्र सः ॥ ९ ॥
तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिषूदनम् ।
अहत्वा न निवर्तिष्ये सत्येनायुधमालभे ॥ १० ॥

'उसे युद्धकी बड़ी इच्छा रहती है, आज उसके घमंडको मैं चूर कर दूँगा । आनर्तनिवासियो ! सच-सच बतला दो । वह कहाँ है ? जहाँ होगा, वहीं जाऊँगा और कंस तथा केशीका संहार करनेवाले उस कृष्णको मारकर ही लौटूँगा । मैं अपने अस्त्र-शस्त्रोंको छूकर सत्यकी सौगन्ध खाता हूँ कि अब कृष्णको मारे बिना नहीं लौटूँगा' ॥ ९-१० ॥

क्वासौ क्वासाविति पुनस्तत्र तत्र प्रधावति ।
मया किल रणे योद्धुं काङ्क्षमाणः स सौभराट् ॥ ११ ॥

सौभविमानका स्वामी शाल्व संग्रामभूमिमें मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर चारों ओर दौड़ता और सबसे यही पूछता था कि 'वह कहाँ है, कहाँ है ?' ॥ ११ ॥

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम् ।
शिशुपालवधामर्षाद् गमयिष्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥
मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः ।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीपते ॥ १३ ॥

राजन् ! साथ ही वह यह भी कहता था कि 'आज उस नीच पापाचारी और विश्वासघाती कृष्णको शिशुपालवधके अमर्षके कारण मैं यमलोक भेज दूँगा । उस पापीने मेरे भाई राजा शिशुपालको मार गिराया है, अतः मैं भी उसका वध करूँगा ॥

भ्राता बालश्च राजा च न च संग्राममूर्धनि ।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ॥ १४ ॥

'मेरा भाई शिशुपाल अभी छोटी अवस्थाका था, दूसरे वह राजा था, तीसरे युद्धके मुहानेपर खड़ा नहीं था, चौथे असावधान था, ऐसी दशामें उस वीरकी जिसने हत्या की है, उस जनार्दनको मैं अवश्य मारूँगा' ॥ १४ ॥

एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः ।
कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन ! महाराज ! इस प्रकार शिशुपालके लिये विलाप करके मुझपर आक्षेप करता हुआ वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा आकाशमें ठहरा हुआ था ॥ १५ ॥

तमश्रौषमहं गत्वा यथावृत्तः स दुर्मतिः ।
मयि कौरव्य दुष्टात्मा मार्तिकावतको नृपः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यहाँसे द्वारका जानेपर मैंने, मार्तिकावतक देशके निवासी दुष्टात्मा एवं दुर्बुद्धि राजा शाल्वने मेरे प्रति जो दुष्टतापूर्ण बर्ताव किया था (आक्षेपपूर्ण बातें कही थीं), वह सब कुछ सुना ॥ १६ ॥

ततोऽहमपि कौरव्य रोषव्याकुलमानसः ।
निश्चित्य मनसा राजन् वधायास्य मनो दधे ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! तब मेरा मन भी रोषसे व्याकुल हो उठा । राजन् ! फिर मन-ही-मन कुछ निश्चय करके मैंने शाल्वके वधका विचार किया ॥ १७ ॥

आनर्तेषु विमर्दं च क्षेपं चात्मनि कौरव ।
प्रवृद्धमवलेपं च तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ १८ ॥
ततः सौभवधायाहं प्रतस्थे पृथिवीपते ।
स मया सागरावर्ते दृष्ट आसीत् परीप्सता ॥ १९ ॥

कुरुप्रवर ! पृथ्वीपते ! उसने आनर्त देशमें जो महान् संहार मचा रखा था, वह मुझपर जो आक्षेप करता था तथा उस पापाचारीका घमंड जो बहुत बढ़ गया था, वह सब सोचकर मैं सौभनगरका नाश करनेके लिये प्रस्थित हुआ । मैंने सब ओर उसकी खोज की तो वह मुझे समुद्रके एक द्वीपमें दिखायी दिया ॥ १८-१९ ॥

ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्यमहं नृप ।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ॥ २० ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर मैंने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाकर शाल्वको समरभूमिमें बुलाया और स्वयं भी युद्धके लिये उपस्थित हुआ ॥

तन्मुहूर्तमभूद् युद्धं तत्र मे दानवैः सह ।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ॥ २१ ॥

वहाँ सौभ-निवासी दानवोंके साथ दो घड़ीतक मेरा युद्ध हुआ और मैंने सबको वशमें करके पृथ्वीपर मार गिराया ॥

एतत् कार्यं महाबाहो येनाहं नागमं तदा ।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतं चाविनयोत्थितम् ।
द्रुतमागतवान् युष्मान् द्रष्टुकामः सुदुःखितान् ॥ २२ ॥

महाबाहो ! यही कार्य उपस्थित हो गया था, जिससे मैं उस समय न आ सका । लौटनेपर ज्यों ही सुना कि हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी उद्दण्डताके कारण जूआ खेला गया (और पाण्डव उसमें सब कुछ हारकर वनको चले गये); त्यों ही अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए आपलोगोंको देखनेके लिये तुरंत यहाँ चला आया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

सौभ-नाशकी विस्तृत कथाके प्रसङ्गमें द्वारकामें युद्धसम्बन्धी रक्षात्मक तैयारियोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

वासुदेव महाबाहो विस्तरेण महामते ।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! वसुदेवनन्दन ! महामते ! तुम सौभ-विमानके नष्ट होनेका समाचार विस्तारपूर्वक कहो । मैं तुम्हारे मुखसे इस प्रसङ्गको सुनते-सुनते तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृप ।
उपायाद् भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महाबाहो ! नरेश्वर ! भरतश्रेष्ठ ! श्रुतश्रवा*के पुत्र शिशुपालके मारे जानेका समाचार सुनकर शाल्वने द्वारकापुरीपर चढ़ाई की ॥ २ ॥

अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन ।
शाल्वो वैहायसं चापि तत् पुरं व्यूह्य विष्ठितः ॥ ३ ॥

पाण्डुनन्दन ! उस दुष्टात्मा शाल्वने सेनाद्वारा द्वारकापुरीको सब ओरसे घेर लिया था । वह स्वयं आकाशचारी विमान सौभपर व्यूहरचनापूर्वक विराजमान हो रहा था ॥ ३ ॥

तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम् ।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्तत ॥ ४ ॥

उसीपर रहकर राजा शाल्व द्वारकापुरीके लोगोंसे यु...

* श्रुतश्रवा शिशुपालकी माताका नाम है । यह वसुदेवजीकी बहिन थी ।

करता था। वहाँ भारी युद्ध छिड़ा हुआ था और उसमें सभी दिशाओंसे अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहार हो रहे थे ॥ ४ ॥

पुरी समन्ताद् विहिता सपताका सतोरणा।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा ॥ ५ ॥

द्वारकापुरीमें सब ओर पताकाएँ फहरा रही थीं। ऊँचे-ऊँचे गोपुर वहाँ चारों दिशाओंमें सुशोभित थे। जगह-जगह सैनिकोंके समुदाय युद्धके लिये प्रस्तुत थे। सैनिकोंके आत्म-रक्षापूर्वक युद्धकी सुविधाके लिये स्थान-स्थानपर बुर्ज बने हुए थे। युद्धोपयोगी यन्त्र वहाँ बैठाये गये थे तथा सुरङ्गद्वारा नये-नये मार्ग निकालनेके काममें भी बहुत-से लोग जुटे हुए थे॥

सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुरा।
सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ॥ ६ ॥

सड़कोंपर लोहेके विषाक्त काँटे अदृश्यरूपसे बिछाये गये थे। अट्टालिकाओं और गोपुरोंमें पर्याप्त अन्नका संग्रह किया गया था। शत्रुपक्षके प्रहारोंको रोकनेके लिये जगह-जगह मोर्चेबन्दी की गयी थी। शत्रुओंके चलाये हुए जलते गोले और अलात (प्रज्वलित लौहमय अस्त्र) को भी विफल करके नीचे गिरा देनेवाली शक्तियाँ सुसज्जित थीं ॥ ६ ॥

सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ सभेरीपणवानका।
सतोमराङ्कुशा राजन् सशतघ्नीकलाङ्गला ॥ ७ ॥
सभुशुण्ड्यश्मगुडका सायुधा सपरश्वधा।
लोहचर्मवती चापि साग्निः सगुडशृङ्गिका ॥ ८ ॥

अस्त्रोंसे भरे हुए मिट्टी और चमड़ेके असंख्य पात्र रखे गये थे। भरतश्रेष्ठ! ढोल, नगारे और मृदंग आदि जुझाऊ बाजे भी बज रहे थे। राजन्! तोमर, अंकुश, शतघ्नी, लाङ्गल, भुशुण्डी, पत्थरके गोले, अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र, फरसे, बहुत-सी सुदृढ़ ढालें और गोला-बारूदसे भरी हुई तोपें यथास्थान तैयार रखी गयी थीं ॥ ७-८ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना सुयुक्ता भरतर्षभ।
रथैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ ९ ॥
पुरुषैः कुरुशार्दूल समर्थैः प्रतिवारणे।
अतिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥ १० ॥
मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिभिः सा सुरक्षिता।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्च सपताकिभिः ॥ ११ ॥
आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ १२ ॥

भरतकुलभूषण! शास्त्रोक्त विधिसे द्वारकापुरीको रक्षाके सभी उत्तम उपायोंसे सम्पन्न किया गया था। कुरुश्रेष्ठ! शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ गद, साम्ब और उद्धव आदि अनेक वीर पुरुष नाना प्रकारके बहुसंख्यक रथोंद्वारा पुरीकी रक्षामें दत्तचित थे। जो अत्यन्त विख्यात कुलोंमें उत्पन्न थे तथा युद्धके अवसरोंपर जिनके बल-वीर्यका परिचय मिल चुका था, ऐसे वीर रक्षक मध्यम गुल्म (नगरके मध्यवर्ती दुर्ग) में स्थित हो पुरीकी पूर्णतः रक्षा कर रहे थे। सबको प्रमादसे बचानेवाले उग्रसेन और उद्धव आदिने शत्रुओंके गुल्मोंको नष्ट करनेकी शक्ति रखनेवाले घुड़सवारोंके हाथमें झंडे देकर समूचे नगरमें यह घोषणा करा दी थी कि किसीको भी मद्यपान नहीं करना चाहिये ॥ ९—१२ ॥

प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः।
इति कृत्वाप्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥१३॥

क्योंकि मदिरासे उन्मत्त हुए लोगोंपर राजा शाल्व घातक प्रहार कर सकता है। यह सोचकर वृष्णि और अन्धकवंशके सभी योद्धा पूरी सावधानीके साथ युद्धमें डटे हुए थे ॥ १३ ॥

आनर्ताश्च तथा सर्वे नटा नर्तकगायनाः।
बहिर्निर्वासिताः क्षिप्रं रक्षद्भिर्वित्तसंचयम् ॥ १४ ॥

धनसंग्रहकी रक्षा करनेवाले यादवोंने आनर्तदेशीय नटों, नर्तकों तथा गायकोंको शीघ्र ही नगरसे बाहर कर दिया था ॥ १४ ॥

संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः।
परिखाश्चापि कौरव्य कालैः सुनिचिताः कृताः ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन! द्वारकापुरीमें आनेके लिये जो पुल मार्गमें पड़ते थे, वे सब तोड़ दिये गये। नौकाएँ रोक दी गयी थीं और खाइयोंमें काँटे बिछा दिये गये थे ॥ १५ ॥

उदपानाः कुरुश्रेष्ठ तथैवाप्यम्बरीषकाः।
समन्तात् क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! द्वारकापुरीके चारों ओर एक कोसतकके चारों ओरके कुएँ इस प्रकार जलशून्य कर दिये गये थे मानो भाड़ हों और उतनी दूरकी भूमि भी लौहकण्टक आदिसे व्याप्त कर दी गयी थी ॥ १६ ॥

प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम्।
प्रकृत्या चायुधोपेतं विशेषेण तदानघ ॥ १७ ॥

निष्पाप नरेश! द्वारका एक तो स्वभावसे ही दुर्गम्य, सुरक्षित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न है, तथापि उस समय इसकी विशेष व्यवस्था कर दी गयी थी ॥ १७ ॥

सुरक्षितं सुगुप्तं च सर्वायुधसमन्वितम् ।
तत् पुरं भरतश्रेष्ठ यथेन्द्रभवनं तथा ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! द्वारकानगर इन्द्रभवनकी भाँति ही सुरक्षित, सुगुप्त और सम्पूर्ण आयुधोंसे भरा-पूरा है ॥ १८ ॥

न चामुद्रोऽभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते ।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ॥ १९ ॥

राजन् ! सौभनिवासियोंके साथ युद्ध होते समय वृष्णि और अन्धकवंशी वीरोंके उस नगरमें कोई भी राजमुद्रा (पास) के बिना न तो बाहर निकाल सकता था और न बाहरसे नगरके भीतर ही आ सकता था ॥ १९ ॥

अनुरथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव ।
बलं बभूव राजेन्द्र प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २० ॥

कुरुनन्दन राजेन्द्र ! वहाँ प्रत्येक सड़क और चौराहेपर बहुत-से हाथीसवार और घुड़सवारोंसे युक्त विशाल सेना उपस्थित रहती थी ॥ २० ॥

दत्तवेतनभक्तं च दत्तायुधपरिच्छदम् ।
कृतोपधानं च तदा बलमासीन्महाभुज ॥ २१ ॥

महाबाहो ! उस समय सेनाके प्रत्येक सैनिकको पूरा वेतन और भत्ता चुका दिया गया था। सबको नये हथियार और पोशाकें दी गयी थीं और उन्हें पुरस्कार आदि देकर उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त लिया गया था ॥ २१ ॥

न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चातिक्रान्तवेतनी ।
नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टपराक्रमः ॥ २२ ॥

कोई भी सैनिक ऐसा नहीं था, जिसे सोने-चाँदीके ताँबा आदि वेतनके रूपमें दिया जाता हो अथवा जिसे पर न वेतन प्राप्त हुआ हो । किसी भी सैनिकको दया सेनामें भर्ती नहीं किया गया था तथा कोई भी ऐसा न जिसका पराक्रम बहुत दिनोंसे देखा न गया हो ॥ २२ ॥

एवं सुविहिता राजन् द्वारका भूरिदक्षिणा ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ॥ २३ ॥

कमलनयन राजन् ! जिसमें बहुत-से दक्ष मनु निवास करते थे, उस द्वारकानगरीकी रक्षाके लिये इस प्रकार व्यवस्था की गयी थी । वह राजा उग्रसेनके द्वारा भलीभाँ सुरक्षित थी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

शाल्वकी विशाल सेनाके आक्रमणका यादवसेनाद्वारा प्रतिरोध, साम्बद्वारा क्षेमवृद्धिकी पराजय, वेगवान्‌का वध तथा चारुदेष्णद्वारा विविन्ध्य दैत्यका वध एवं प्रद्युम्नद्वारा सेनाको आश्वासन

वासुदेव उवाच

तां तूपयातो राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजेन्द्र ! सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व अपनी बहुत बड़ी सेनाके साथ, जिसमें हाथीसवारों तथा पैदलोंकी संख्या अधिक थी, द्वारकापुरीपर चढ़ आया और उसके निकट आकर ठहरा ॥ १ ॥

समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता ॥ २ ॥

जहाँ अधिक जलसे भरा हुआ जलाशय था, वहीं समतल भूमिमें उसकी सेनाने पड़ाव डाला । उसमें हाथीसवार, घुड़सवार, रथी और पैदल चारों प्रकारके सैनिक थे । स्वयं राजा शाल्व उसका संरक्षक था ॥ २ ॥

वर्जयित्वा श्मशानानि देवताऽऽयतनानि च ।
वल्मीकांश्चैत्यवृक्षांश्च तन्निविष्टमभूद् बलम् ॥ ३ ॥

श्मशानभूमि, देवमन्दिर, बाँबी और चैत्यवृक्षको छोड़ सभी स्थानोंमें उसकी सेना फैलकर ठहरी हुई थी ॥ ३ ॥

अनीकानां विभागेन पन्थानः संवृताऽभवन् ।
प्रवणाय च नैवासञ्छाल्वस्य शिविरे नृप ॥ ४ ॥

सेनाओंके विभागपूर्वक पड़ाव डालनेसे सारे रास्ते घि गये थे । राजन् ! शाल्वके शिविरमें प्रवेश करनेका कोई मा नहीं रह गया था ॥ ४ ॥

सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
रथनागाश्वकलिलं पदातिध्वजसंकुलम् ॥ ५

तुष्टपुष्टबलोपेतं वीरलक्षणलक्षितम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं विचित्ररथकार्मुकम् ॥ ६ ॥
संनिवेश्य च कौरव्य द्वारकायां नरर्षभ ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ ! राजा शाल्वकी वह सेना सब प्रकारके आयुधोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें निपुण, रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई तथा पैदल सिपाहियों और ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी । उसका प्रत्येक सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं बलवान् था । सबमें वीरोचित लक्षण दिखायी देते थे । उस सेनाके सिपाही विचित्र ध्वजा तथा कवच धारण करते थे । उनके रथ और धनुष भी विचित्र थे । कुरुनन्दन ! द्वारकाके समीप उस सेनाको ठहराकर राजा शाल्वने उसे वेगपूर्वक द्वारकाकी ओर बढ़ाया, मानो पक्षिराज गरुड़ अपने लक्ष्यकी ओर उड़े जा रहे हों ॥ ५–७ ॥

तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा ।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ८ ॥

शाल्वराजकी उस सेनाको आती देख उस समय वृष्णि-कुलको आनन्दित करनेवाले कुमार नगरसे बाहर निकलकर युद्ध करने लगे ॥ ८ ॥

असहन्तोऽभियानं तच्छाल्वराजस्य कौरव ।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ९ ॥
ते रथैर्दंशिताः सर्वे विचित्राभरणध्वजाः ।
संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! शाल्वराजके उस आक्रमणको वे सहन न कर सके । चारुदेष्ण, साम्ब और महारथी प्रद्युम्न—ये सब कवच, विचित्र आभूषण तथा ध्वजा धारण करके रथोंपर बैठकर शाल्वराजके अनेक श्रेष्ठ योद्धाओंके साथ भिड़ गये ॥९-१०॥

गृहीत्वा कार्मुकं साम्बः शाल्वस्य सचिवं रणे ।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ॥ ११ ॥

हर्षमें भरे हुए साम्बने धनुष धारण करके शाल्वके मन्त्री तथा सेनापति क्षेमवृद्धिके साथ युद्ध किया ॥ ११ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत् ।
मुमोच भरतश्रेष्ठ यथा वर्षं सहस्रदृक् ॥ १२ ॥
तद् बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज हिमवानिव निश्चलः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जाम्बवतीकुमारने उसके ऊपर भारी बाणवर्षा की, मानो इन्द्र जलकी वर्षा कर रहे हों । महाराज ! सेनापति क्षेमवृद्धिने साम्बकी उस भयंकर बाणवर्षाको हिमालयकी
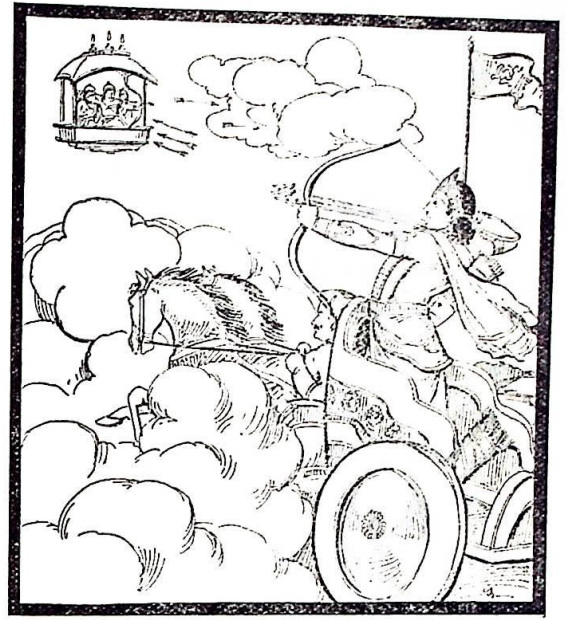
भाँति अविचल रहकर सहन किया ॥ १२-१३ ॥

ततः साम्बाय राजेन्द्र क्षेमवृद्धिरपि स्वयम् ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर क्षेमवृद्धिने स्वयं भी साम्बके ऊपर मायानिर्मित बाणोंकी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥ १४ ॥

ततो मायामयं जालं माययैव विदीर्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याभ्यवर्षत ॥ १५ ॥

साम्बने उस मायामय बाणजालको मायासे ही छिन्न-भिन्न करके क्षेमवृद्धिके रथपर सहस्रों बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥१५॥

ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ॥ १६ ॥

साम्बने सेनापति क्षेमवृद्धिको अपने बाणोंसे घायल कर दिया । वह साम्बकी बाणवर्षासे पीड़ित हो शीघ्रगामी अश्वोंकी सहायतासे (लड़ाईका मैदान छोड़कर) भाग गया ॥ १६ ॥

तस्मिन् विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याथ चमूपतौ ।
वेगवान् नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद् बली ॥ १७ ॥

शाल्वके क्रूर सेनापति क्षेमवृद्धिके भाग जानेपर वेगवान् नामक बलवान् दैत्यने मेरे पुत्रपर आक्रमण किया ॥ १७ ॥

अभिपन्नस्तु राजेन्द्र साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगं वेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! वृष्णिवंशका भार वहन करनेवाला वीर साम्ब वेगवान्के वेगको सहन करते हुए धैर्यपूर्वक उसका सामना करने लगा ॥ १८ ॥

स वेगवति कौन्तेय साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविद्ध्य सत्यविक्रमः ॥ १९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सत्यपराक्रमी वीर साम्बने अपनी वेगशालिनी गदाको बड़े वेगसे घुमाकर वेगवान् दैत्यके सिरपर दे मारा ॥ १९ ॥

तया त्वभिहतो राजन् वेगवान्न्यपतद् भुवि ।
वातरुग्ण इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥ २० ॥

राजन् ! उस गदासे आहत होकर वेगवान् इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो जीर्ण हुई जड़वाला पुराना वृक्ष हवाके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो ॥ २० ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे ।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥ २१ ॥

गदासे घायल हुए उस वीर महादैत्यके मारे जानेपर मेरा पुत्र साम्ब शाल्वकी विशाल सेनामें घुसकर युद्ध करने लगा ॥

चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः ।
महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ॥ २२ ॥

महाराज ! चारुदेष्णके साथ महारथी एवं महान् धनुर्धर विविन्ध्य नामक दानव शाल्वकी आज्ञासे युद्ध कर रहा था ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः ।
वृत्रवासवयो राजन् यथा पूर्वं तथाभवत् ॥ २३ ॥

राजन् ! तदनन्तर चारुदेष्ण और विविन्ध्यमें वैसा ही भयंकर युद्ध होने लगा, जैसा पहले इन्द्र और वृत्रासुरमें हुआ था ॥ २३ ॥

अन्योन्यस्याभिसंक्रुद्धावन्योन्यं जघ्नतुः शरैः ।
विनदन्तौ महारावान् सिंहाविव महाबलौ ॥ २४ ॥

वे दोनों एक-दूसरेपर कुपित हो बाणोंसे परस्पर आघात कर रहे थे और महाबली सिंहोंकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करते थे ॥ २४ ॥

रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम् ।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रुनाशनम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर रुक्मिणीनन्दन चारुदेष्णने अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी शत्रुनाशक बाणको महान् (दिव्य) अस्त्रसे अभिमन्त्रित करके अपने धनुषपर संधान किया ॥ २५ ॥

स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः ।
चिक्षेप मे सुतो राजन् स गतासुरथापतत् ॥ २६ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् मेरे उस महारथी पुत्रने क्रोधमें भरकर विविन्ध्यपर वह बाण चलाया । उसके लगते ही विविन्ध्य प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २६ ॥

विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् ।
कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥ २७

विविन्ध्यको मारा गया और सेनाको तहस-नहस देख शाल्व इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा वहाँ आया ॥ २७ ॥

ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद् बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं नृपते तदा ॥ २८

महाबाहु नरेश्वर ! उस समय सौभ विमानपर बैठे शाल्वको देखकर द्वारकाकी सारी सेना भयसे व्या हो उठी ॥ २८ ॥

ततो निर्याय कौरव्य अवस्थाप्य च तद् बलम् ।
आनर्तानां महाराज प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ २९

महाराज कुरुनन्दन ! तब प्रद्युम्नने निक आनर्तवासियोंकी उस सेनाको धीरज बँधाया और प्रकार कहा—॥ २९ ॥

सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात् सौभं सराजकम् ॥ ३०

'यादवो ! आप सब लोग (चुपचाप) खड़े रहें मेरे पराक्रमको देखें; मैं किस प्रकार युद्धमें राजा शाल्वके सौभ विमानकी गतिको रोक देता हूँ ॥ ३० ॥

अहं सौभपतेः सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजविनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः ॥ ३१

'यदुवंशियो ! मैं अपने धनुर्दण्डसे छूटे हुए लोहेके सर्प बाणोंद्वारा सौभपति शाल्वकी सेनाको अभी नष्ट किये देता

आश्वसध्वं न भीः कार्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाभिपन्नो दुष्टात्मा ससौभो विनशिष्यति ॥ ३२

'आप धैर्य धारण करें, भयभीत न हों, सौभराज नष्ट हो रहा है । दुष्टात्मा शाल्व मेरा सामना होते ही विमानसहित नष्ट हो जायगा' ॥ ३२ ॥

एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन ।
विष्ठितं तद् बलं वीर युयुधे च यथासुखम् ॥ ३३

वीर पाण्डुनन्दन ! हर्षमें भरे हुए प्रद्युम्नके ऐसा क पर वह सारी सेना स्थिर हो पूर्ववत् प्रसन्नता और उत्सा साथ युद्ध करने लगी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

बृहदारण्यकोपनिषद्

(मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १३८४, सुन्दर ६ तिरंगे चित्र, हाथकर्घेसे बने कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य ५।।) मात्र। डाकखर्च २।≈)।

बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयिब्राह्मणके अन्तर्गत है। कलेवरकी दृष्टिसे यह समस्त उपनिषदोंकी अपेक्षा 'बृहत्' है तथा अरण्य (वन) में अध्ययन की जानेके कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं। इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका नाम बृहदारण्यक हुआ है यह बात भगवान् भाष्यकारने ग्रन्थके आरम्भमें ही कही है। वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य अर्थतः भी इसकी बृहत्ता स्वीकार करते हैं—'बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम्।' (सं० वा० ९) भाष्यकारने भी जैसा विशद और विवेचनापूर्ण भाष्य बृहदारण्यकपर लिखा है, वैसा किसी दूसरी उपनिषद्पर नहीं लिखा। उपनिषद्-भाष्योंमें इसे हम उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति कह सकते हैं।

इस उपनिषद्की प्रतिपादन-शैली बहुत ही सुव्यवस्थित और युक्तियुक्त है। इसमें कुल छः अध्याय हैं। इसमें दो-दो अध्यायोंके मधु, याज्ञवल्कीय और खिलसंज्ञक तीन काण्ड हैं। इनमेंसे मधु और खिल काण्डोंमें प्रधानतया उपासनाका तथा याज्ञवल्कीयकाण्डमें ज्ञानका विवेचन हुआ है। भाष्यकारने इसकी व्याख्या करते हुए अपना हृदय खोलकर रख दिया है। ग्रन्थमें देवताओंका उद्गीथके द्वारा असुरोंका पराभव करना, गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी-संवाद, जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद, आत्माका स्वरूप, उसकी प्राप्तिके साधन, आत्मज्ञानकी स्थिति, प्रजापतिका देव, मनुष्य और असुरोंके प्रति उपदेश, प्राणोपासना, गायत्री-उपासना आदि अनेक सुन्दर-सुन्दर विषय हैं। ग्रन्थके अन्तमें मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दे दी गयी है।

सं० १९९९ में पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। पुनः कई कठिनाइयोंके कारण दूसरा संस्करण प्रकाशित न हो सका। अब यह ३००० प्रतियोंका नया संस्करण छापा गया है। पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने यहाँके विक्रेतासे पूछ लेना चाहिये; जिससे भारी डाकखर्चकी बचत होगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

मासिक महाभारतका प्रथम अङ्क समाप्त हो गया है—

उसके पुनर्मुद्रणमें लगभग तीन महीनेका समय लग सकता है, अतः नये बननेवाले ग्राहकोंको प्रथम अङ्क तैयार होनेपर ही जा सकेगा। कृपापूर्वक धैर्य रक्खें।

व्यवस्थापक—मासिक महाभारत, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारत
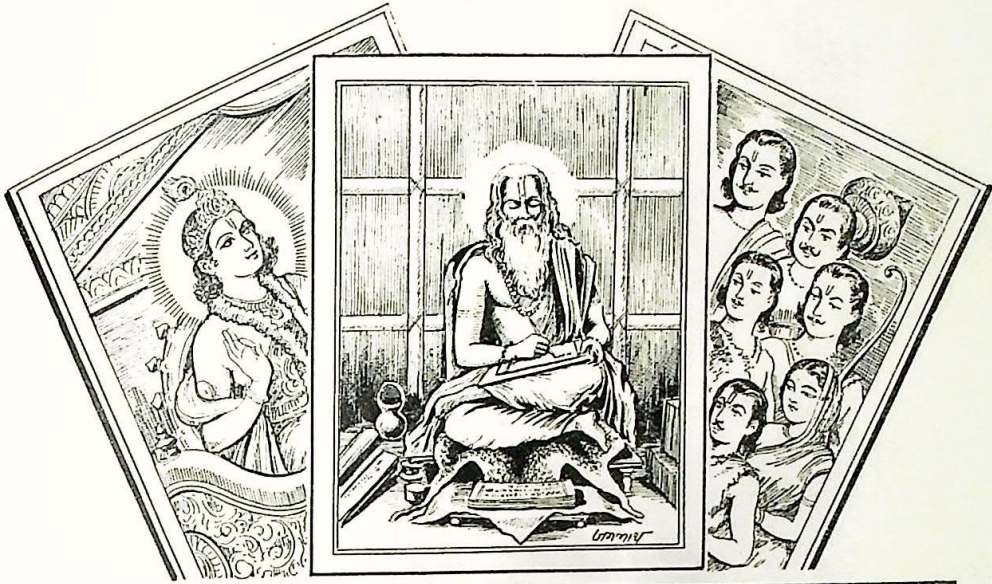
संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

वर्ष १

संख्या ६

गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ }
गोरखपुर, चैत्र २०१२, अप्रैल १९५६
{ संख्या ६
पूर्ण संख्या ६

वेद और महाभारतके परमतत्त्व श्रीकृष्ण

तत्त्वं हरिः श्रुतिगिरां न परं गतिर्वो
नान्यः शरण्य इति वेदविदां मनीषा ।
सर्वात्मना हरिरतोऽर्च्य उदारशीलो
ध्येयोऽवबोध्य इति भारतभाव इष्टः ॥

वेद-वाणीके परम तत्त्व श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही हैं, दूसरा कोई नहीं है । वे ही आपके परम आश्रय हैं, उनके सिवा दूसरा कोई शरण देनेवाला नहीं है; यह वेदवेत्ताओं-का निश्चय है । अतः उदार स्वभाववाले भगवान् श्रीकृष्ण ही सब प्रकारसे पूजनीय, चिन्तनीय तथा जानने योग्य हैं । यही महाभारतका अभीष्ट तात्पर्य है ।

(महाभारत, तात्पर्यप्रकाश)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीकृष्णके द्वारा द्रौपदीको आश्वासन

सप्तदशोऽध्यायः

प्रद्युम्न और शाल्वका घोर युद्ध

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान् भरतर्षभ ।
दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम् ॥ १ ॥
उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
उत्पतद्भिरिवाकाशं तैर्हयैरन्वयात् परान् ॥ २ ॥
विक्षिपन् नादयंश्चापि धनुः श्रेष्ठं महाबलः ।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यादवोंसे ऐसा कहकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न एक सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हुए, जिसमें बख्तर पहनाये हुए घोड़े जुते थे। उन्होंने अपनी मकरचिह्नित ध्वजाको ऊँचा किया, जो मुँह बाये हुए कालके समान प्रतीत होती थी। उनके रथके घोड़े ऐसे चलते थे, मानो आकाशमें उड़े जा रहे हों। ऐसे अश्वोंसे जुते हुए रथके द्वारा महाबली प्रद्युम्नने शत्रुओंपर आक्रमण किया। वे अपने श्रेष्ठ धनुषको बारंबार खींचकर उसकी टंकार फैलाते हुए आगे बढ़े। उन्होंने पीठपर तरकस और कमरमें तलवार बाँध ली थी। उनमें शौर्य भरा था और उन्होंने गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहन रक्खे थे ॥ १—३ ॥

स विद्युच्छुरितं चापं विहरन् वै तलात् तलम् ।
मोहयामास दैतेयान् सर्वान् सौभनिवासिनः ॥ ४ ॥

वे अपने धनुषको एक हाथसे दूसरे हाथमें ले लिया करते थे। उस समय वह धनुष बिजलीके समान चमक रहा था। उन्होंने उस धनुषके द्वारा सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त दैत्योंको मूर्च्छित कर दिया ॥ ४ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं संदधानस्य चासकृत् ।
नान्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शात्रवान् रणे ॥ ५ ॥

वे बारंबार धनुषको खींचते, उसपर बाण रखते और उसके द्वारा शत्रुसैनिकोंको युद्धमें मार डालते थे। उनकी उक्त क्रियाओंमें किसीको थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ५ ॥

मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य
चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य ।
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य
शुश्राव लोकोऽद्भुतवीर्यमग्र्यम् ॥ ६ ॥

उनके मुखका रंग तनिक भी नहीं बदलता था। उनके अङ्ग भी विचलित नहीं होते थे। सब ओर गर्जना करते हुए प्रद्युम्नका उत्तम एवं अद्भुत बल-पराक्रमका सूचक सिंहनाद सब लोगोंको सुनायी देता था ॥ ६ ॥

जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो
व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी ।
वित्रासयन् राजति वाहमुख्ये
शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्र्यः ॥ ७ ॥

शाल्वकी सेनाके ठीक सामने प्रद्युम्नके श्रेष्ठ रथपर उनकी उत्तम ध्वजा फहराती हुई शोभा पा रही थी। उस ध्वजाके सुवर्णमय दण्डके ऊपर सब तिमि नामक जलजन्तुओंका प्रमथन करनेवाले मुँह बाये एक मगरमच्छका चिह्न था। वह शत्रुसैनिकोंको अत्यन्त भयभीत कर रहा था ॥ ७ ॥

ततस्तूर्णं विनिष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः ।
शाल्वमेवाभिदुद्राव विधित्सुः कलहं नृप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर शत्रुहन्ता प्रद्युम्न तुरंत आगे बढ़कर राजा शाल्वके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे उसीकी ओर दौड़े ॥ ८ ॥

अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे ।
नामर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह ॥ ९ ॥

कुरुकुलतिलक ! उस महासंग्राममें वीर प्रद्युम्नके द्वारा किया हुआ वह आक्रमण क्रुद्ध हुआ राजा शाल्व न सह सका ॥ ९ ॥

स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च ।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरंजयः ॥ १० ॥

शत्रुकी राजधानीपर विजय पानेवाले शाल्वने रोष एवं बलके मदसे उन्मत्त हो इच्छानुसार चलनेवाले विमानसे उतरकर प्रद्युम्नसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १० ॥

तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः ।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ॥ ११ ॥

शाल्व तथा वृष्णिवंशी वीर प्रद्युम्नमें बलि और इन्द्रके समान घोर युद्ध होने लगा। उस समय सब लोग एकत्र होकर उन दोनोंका युद्ध देखने लगे ॥ ११ ॥

तस्य मायामयो वीर रथो हेमपरिष्कृतः ।
सपताकः सध्वजश्च सानुकर्षः स तूणवान् ॥ १२ ॥

वीर ! शाल्वके पास सुवर्णभूषित मायामय रथ था। वह रथ ध्वजा, पताका, अनुकर्ष (हरसा)* और तरकससे युक्त था ॥ १२ ॥

स तं रथवरं श्रीमान् समारुह्य किल प्रभो ।
मुमोच बाणान् कौरव्य प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ १३ ॥

---

* रथके नीचे पहियेके ऊपर लगा रहनेवाला काष्ठ।

प्रभो कुरुनन्दन ! श्रीमान् महाबली शाल्वने उस श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ १३ ॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत् तरसा रणे ।
प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं सम्मोहयन्निव ॥ १४ ॥

तब प्रद्युम्न भी युद्धभूमिमें अपनी भुजाओंके वेगसे शाल्वको मोहित करते हुए-से उसके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ १४ ॥

स तैरभिहतः संख्ये नामर्षयत सौभराट् ।
शरान् दीप्ताग्निसंकाशान् मुमोच तनये मम ॥ १५ ॥

सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व युद्धमें प्रद्युम्नके बाणोंसे घायल होनेपर यह सहन नहीं कर सका—अमर्षमें भर गया और मेरे पुत्रपर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाण छोड़ने लगा ॥ १५ ॥

तमापतन्तं बाणौघं स चिच्छेद महाबलः ।
ततश्चान्याञ्छरान्दीप्तान् प्रचिक्षेप सुते मम ॥ १६ ॥

महाबली प्रद्युम्नने उन बाणोंको आते ही काट गिराया। तत्पश्चात् शाल्वने मेरे पुत्रपर और भी बहुत-से प्रज्वलित बाण छोड़े ॥ १६ ॥

स शाल्वबाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! शाल्वके बाणोंसे घायल होकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने तुरंत ही उस युद्धभूमिमें शाल्वपर एक ऐसा बाण चलाया, जो मर्मस्थलको विदीर्ण कर देनेवाला था ॥ १७ ॥

तस्य वर्म विभिद्याशु स बाणो मत्सुतेरितः ।
बिव्याध हृदयं पत्री स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥

मेरे पुत्रके चलाये हुए उस बाणने शाल्वके कवचको छेदकर उसके हृदयको बींध डाला। इससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि ।
सम्प्राद्रवन् दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुंधराम् ॥ १९ ॥

वीर शाल्वराजके अचेत होकर गिर जानेपर उसकी सेनाके समस्त दानवराज पृथ्वीको विदीर्ण करके पातालमें पलायन कर गये ॥ १९ ॥

हाहाकृतमभूत् सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ।
नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ॥ २० ॥

पृथ्वीपते ! उस समय सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व जब संज्ञाशून्य होकर धराशायी हो गया, तब उसकी समस्त सेनामें हाहाकार मच गया ॥ २० ॥

तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
मुमोच बाणान् सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जब चेत हुआ, तब महाबली शाल्व सहसा उठकर प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥

तैः स विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः ।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद् रथे तदा ॥ २२ ॥

शाल्वके उन बाणोंद्वारा कण्ठके मूलभागमें गहरा आघात लगनेसे अत्यन्त घायल होकर समरमें स्थित महाबाहु वीर प्रद्युम्न उस समय रथपर मूर्च्छित हो गये ॥ २२ ॥

तं स विद्ध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम् ।
ननाद सिंहनादं वै नादेनापूरयन् महीम् ॥ २३ ॥

महाराज ! रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नको घायल करके शाल्व बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा। उसकी आवाजसे वहाँकी सारी पृथ्वी गूँज उठी ॥ २३ ॥

ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान् दुरासदान् ॥ २४ ॥

भारत ! मेरे पुत्रके मूर्च्छित हो जानेपर भी शाल्वने उनपर और भी बहुत-से दुर्द्धर्ष बाण शीघ्रतापूर्वक छोड़े ॥ २४ ॥

स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद् रणाजिरे ॥ २५ ॥

कौरवश्रेष्ठ ! इस प्रकार बहुत-से बाणोंसे आहत होनेके कारण प्रद्युम्न उस रणाङ्गणमें मूर्च्छित एवं निश्चेष्ट हो गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

मूर्च्छावस्थामें सारथिके द्वारा रणभूमिसे बाहर लाये जानेपर प्रद्युम्नका अनुताप और इसके लिये सारथिको उपालम्भ देना

वासुदेव उवाच

शाल्वबाणार्दिते तस्मिन् प्रद्युम्ने बलिनां वरे ।
वृष्णयो भग्नसंकल्पा विव्यथुः पृतनागताः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—बलवानोंमें श्रे

प्रद्युम्न जब शाल्वके बाणोंसे पीडित हो (मूर्च्छित हो) गये, तब सेनामें आये हुए वृष्णिवंशी वीरोंका उत्साह भङ्ग हो गया । उन सबको बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

हाहाकृतमभूत् सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं ततः ।
प्रद्युम्ने मोहिते राजन् परे च मुदिता भृशम् ॥ २ ॥

राजन् ! प्रद्युम्नके मोहित होनेपर वृष्णि और अन्धक-वंशकी सारी सेनामें हाहाकार मच गया और शत्रुलोग अत्यन्त प्रसन्नतासे खिल उठे ॥ २ ॥

तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः ।
रणादपाहरत् तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ॥ ३ ॥

दारुकका पुत्र प्रद्युम्नका सुशिक्षित सारथि था । वह प्रद्युम्नको इस प्रकार मूर्च्छित देख वेगशाली अश्वोंद्वारा उन्हें तुरंत रणभूमिसे बाहर ले गया ॥ ३ ॥

नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत् ।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥

अभी वह रथ अधिक दूर नहीं जाने पाया था, तभी बड़े-बड़े रथियोंको परास्त करनेवाले प्रद्युम्न सचेत हो गये और हाथमें धनुष लेकर सारथिसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

सौते किं ते व्यवसितं कस्माद् यासि पराङ्मुखः ।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते ॥ ५ ॥

'सूतपुत्र ! आज तूने क्या सोचा है ? क्यों युद्धसे मुँह मोड़कर भागा जा रहा है ? युद्धसे पलायन करना वृष्णिवंशी वीरोंका धर्म नहीं है ॥ ५ ॥

कच्चित् सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम् ॥ ६ ॥

'सूतनन्दन ! इस महासंग्राममें राजा शाल्वको देखकर तुझे मोह तो नहीं हो गया है ? अथवा युद्ध देखकर तुझे विषाद तो नहीं होता है ? मुझसे ठीक-ठीक बता (तेरे इस प्रकार भागनेका क्या कारण है ?)' ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

जानार्दने न मे मोहो नापि मां भयमाविशत् ।
अतिभारं तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन ॥ ७ ॥

सूतपुत्रने कहा—जनार्दनकुमार ! न मुझे मोह हुआ है और न मेरे मनमें भय ही समाया है । केशवनन्दन ! मुझे ऐसा मालूम होता है कि यह राजा शाल्व आपके लिये अत्यन्त भार-सा हो रहा है ॥ ७ ॥

सोऽपयामि शनैर्वीर बलवानेष पापकृत् ।
मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी ॥ ८ ॥

वीरवर ! मैं धीरे-धीरे रणभूमिसे दूर इसलिये जा रहा हूँ कि यह पापी शाल्व बड़ा बलवान् है । सारथिका यह धर्म है कि यदि शूरवीर रथी संग्राममें मूर्च्छित हो जाय तो वह किसी प्रकार उसके प्राणोंकी रक्षा करे ॥ ८ ॥

आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाप्यहम् ।
रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वापयाम्यहम् ॥ ९ ॥

आयुष्मन् ! मुझे आपकी और आपको मेरी सदा रक्षा करनी चाहिये । रथी सारथिके द्वारा सदा रक्षणीय है, इस कर्तव्यका विचार करके ही मैं रणभूमिसे लौट रहा हूँ ॥ ९ ॥

एकश्चासि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः ।
न समं रौक्मिणेयाहं रणे मत्वापयामि वै ॥ १० ॥

महाबाहो ! आप अकेले हैं और इन दानवोंकी संख्या बहुत है । रुक्मिणीनन्दन ! इस युद्धमें इतने विपक्षियोंका सामना करना अकेले आपके लिये कठिन है; यह सोचकर ही मैं युद्धसे हट रहा हूँ ॥ १० ॥

एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् ।
उवाच सूतं कौरव्य निवर्तय रथं पुनः ॥ ११ ॥
दारुकात्मज मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथंचन ।
व्यपयानं रणात् सौते जीवतो मम कर्हिचित् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! सूतके ऐसा कहनेपर मकरध्वज प्रद्युम्नने उससे कहा—'दारुककुमार ! तू रथको पुनः युद्धभूमिकी ओर लौटा ले चल । सूतपुत्र ! आजसे फिर कभी किसी प्रकार भी मेरे जीते-जी रथको रणभूमिसे न लौटाना ॥ ११-१२ ॥

न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम् ।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम् ॥ १३ ॥

'वृष्णिवंशमें ऐसा कोई (वीर पुरुष) नहीं पैदा हुआ है, जो युद्ध छोड़कर भाग जाय अथवा गिरे हुएको तथा 'मैं आपका हूँ' यह कहनेवालेको मारे ॥ १३ ॥

तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च ।
विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार स्त्री, बालक, वृद्ध, रथहीन, अपने पक्षसे बिछुड़े हुए तथा जिसके अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो गये हों, ऐसे लोगोंपर जो हथियार उठाता हो, ऐसा मनुष्य भी वृष्णिकुलमें नहीं उत्पन्न हुआ है ॥ १४ ॥

त्वं च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि ।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ॥ १५ ॥

'दारुककुमार ! तू सूतकुलमें उत्पन्न होनेके साथ ही सूतकर्मकी अच्छी तरह शिक्षा पा चुका है । वृष्णिवंशी वीरोंका युद्धमें क्या धर्म है, यह भी भली-भाँति जानता है ॥

स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे ।
अपयानं पुनः सौते मैवं कार्षीः कथंचन ॥ १६ ॥

'सूतनन्दन ! युद्धके मुहानेपर डटे हुए वृष्णिकुलके

वीरोंका सम्पूर्ण चरित्र तुझसे अज्ञात नहीं है; अतः तू फिर कभी किसी तरह भी युद्धसे न लौटना ॥ १६ ॥

अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम्।
गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ॥ १७ ॥

'युद्धसे लौटने या भ्रान्तचित्त होकर भागनेपर जब मेरी पीठमें शत्रुके बाणोंका आघात लगा हो, उस समय किसीसे परास्त न होनेवाले मेरे पिता गदाग्रज भगवान् माधव मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ १७ ॥

केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः।
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ॥ १८ ॥

'अथवा पिताजीके बड़े भाई नीलाम्बरधारी मदोत्कट महाबाहु बलरामजी जब यहाँ पधारेंगे, तब वे मुझसे क्या कहेंगे ?॥ १८ ॥

किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः।
अपयातं रणात् सूत साम्बश्च समितिंजयः ॥ १९ ॥

'सूत ! युद्धसे भागनेपर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी महाधनुर्धर सात्यकि तथा समरविजयी साम्ब मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ १९ ॥

चारुदेष्णश्च दुर्धर्षस्तथैव गदसारणौ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ॥ २० ॥

'सारथे ! दुर्धर्ष वीर चारुदेष्ण, गद, सारण और महाबाहु अक्रूर मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ २० ॥

शूरं सम्भावितं शान्तं नित्यं पुरुषमानिनम्।
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः ॥ २१ ॥

'मैं शूरवीर, सम्भावित (सम्मानित), शान्तस्वभाव तथा सदा अपनेको वीर पुरुष माननेवाला समझा जाता हूँ। (युद्धसे भागनेपर) मुझे देखकर झुंडकी झुंड एकत्र हुई वृष्णिवीरोंकी स्त्रियाँ मुझे क्या कहेंगी ? ॥ २१ ॥

प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम्।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति ॥ २२ ॥

'सब लोग यही कहेंगे—'यह प्रद्युम्न भयभीत हो महान् संग्राम छोड़कर भागा आ रहा है; इसे धिक्कार है ।' उस अवस्थामें किसीके मुखसे मेरे लिये अच्छे शब्द नहीं निकलेंगे ॥

धिग्वाचा परिहासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा।
मृत्युनाभ्यधिकः सौते स त्वं मा व्यपयाः पुनः ॥ २३ ॥

'सूतकुमार ! मेरे अथवा मेरे-जैसे किसी भी पुरुषके लिये धिक्कारयुक्त वाणीद्वारा कोई परिहास भी कर दे, तो वह मृत्युसे भी अधिक कष्ट देनेवाला है; अतः तू फिर कभी युद्ध छोड़कर न भागना ॥ २३ ॥

भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः।
यज्ञं भारतसिंहस्य न हि शक्योऽद्य मर्षितुम् ॥ २४ ॥

'मेरे पिता मधुसूदन भगवान् श्रीहरि यहाँकी रक्षाका भार मुझपर रखकर भरतवंशशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें गये हैं। (आज मुझसे जो अपराध हो गया है,) इसे वे कभी क्षमा नहीं कर सकेंगे ॥ २४ ॥

कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ॥ २५ ॥

'सूतपुत्र ! वीर कृतवर्मा शाल्वका सामना करनेके लिये पुरीसे बाहर आ रहे थे; किंतु मैंने उन्हें रोक दिया और कहा—'आप यहीं रहिये । मैं शाल्वको परास्त करूँगा' ॥ २५ ॥

स च सम्भावयन् मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः।
तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् ॥ २६ ॥

'कृतवर्मा मुझे इस कार्यके लिये समर्थ जानकर युद्धसे निवृत्त हो गये । आज युद्ध छोड़कर जब मैं उन महारथी वीरसे मिलूँगा, तब उन्हें क्या जवाब दूँगा ? ॥ २६ ॥

उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम्।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ॥ २७ ॥

'शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले कमलनयन महाबाहु एवं अजेय वीर भगवान् पुरुषोत्तम जब यहाँ मेरे निकट पदार्पण करेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा !

सात्यकिं बलदेवं च ये चान्येऽन्धकवृष्णयः।
मया स्पर्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम् ॥ २८ ॥

'सात्यकिसे, बलरामजीसे तथा अन्धक और वृष्णिवंशके अन्य वीरोंसे, जो सदा मुझसे स्पर्धा रखते हैं, मैं क्या कहूँगा ? ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा रणमिमं सौते पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः।
त्वयापनीतो विवशो न जीवेयं कथंचन ॥ २९ ॥

'सूतपुत्र ! तेरे द्वारा रणसे दूर लाया हुआ मैं इस युद्धको छोड़कर और पीठपर बाणोंकी चोट खाकर विवशतापूर्ण जीवन किसी प्रकार भी नहीं धारण करूँगा ॥ २९ ॥

स निवर्त रथेनाशु पुनर्दारुकनन्दन।
न चैतदेवं कर्तव्यमथापत्सु कथंचन ॥ ३० ॥

'दारुकनन्दन ! अतः तू शीघ्र ही रथके द्वारा पुनः संग्रामभूमिकी ओर लौट । आजसे मुझपर आपत्ति आनेपर भी तू किसी तरह ऐसा बर्ताव न करना ॥ ३० ॥

न जीवितमहं सौते बहु मन्ये कथंचन।
अपयातो रणाद् भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ॥ ३१ ॥

'सूतपुत्र ! पीठपर बाणोंकी चोट खाकर भयभीत हो युद्धसे भागनेवालेके जीवनको मैं किसी प्रकार भी अधिक आदर नहीं देता ॥ ३१ ॥

कदापि सूतपुत्र त्वं जानीषे मां भयार्दितम्।

अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ॥ ३२ ॥

'सूतपुत्र ! क्या तू मुझे कायरोंकी तरह भयसे पीडित और युद्ध छोड़कर भागा हुआ समझता है ? ॥ ३२ ॥

न युक्तं भवता त्यक्तुं संग्रामं दारुकात्मज ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ॥ ३३ ॥

'दारुककुमार ! तुझे संग्रामभूमिका परित्याग करना कदापि उचित नहीं था । विशेषतः उस अवस्थामें, जब कि मैं युद्धकी अभिलाषा रखता था । अतः जहाँ युद्ध हो रहा है, वहाँ चल' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

प्रद्युम्नके द्वारा शाल्वकी पराजय

वासुदेव उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेय सूतपुत्रस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं मधुरं श्लक्ष्णमञ्जसा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर सूतपुत्रने शीघ्र ही बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नसे थोड़े शब्दोंमें मधुरतापूर्वक कहा— ॥ १ ॥

न मे भयं रौक्मिणेय संग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञोऽस्मि च वृष्णीनां नात्र किंचिदतोऽन्यथा ॥ २॥

'रुक्मिणीनन्दन ! संग्रामभूमिमें घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए मुझे तनिक भी भय नहीं होता । मैं वृष्णि-वंशियोंके युद्धधर्मको भी जानता हूँ । आपने जो कुछ कहा है, उसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है ॥ २ ॥

आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वं चापि भृशपीडितः ॥ ३ ॥

'आयुष्मन् ! मैंने तो सारथ्यमें तत्पर रहनेवाले लोगोंके इस उपदेशका स्मरण किया था कि सभी दशाओंमें रथीकी रक्षा करनी चाहिये । उस समय आप भी अधिक पीड़ित थे ॥ ३ ॥

त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन शरेणाभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ततोऽहमपयातवान् ॥ ४ ॥

'वीर ! शाल्वके चलाये हुए बाणोंसे अधिक घायल होनेके कारण आपको मूर्च्छा आ गयी थी, इसीलिये मैं आपको लेकर रणभूमिसे हटा था ॥ ४ ॥

स त्वं सात्वतमुख्याद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ॥ ५ ॥

'सात्वतवीरोंमें प्रधान केशवनन्दन ! अब दैवेच्छासे आप सचेत हो गये हैं, अतः घोड़े हाँकनेकी कलामें मुझे कैसी उत्तम शिक्षा मिली है, उसे देखिये ॥ ५ ॥

दारुकेणाहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीतभीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ॥ ६ ॥

'मैं दारुकका पुत्र हूँ और उन्होंने ही मुझे सारथ्यकर्मकी यथावत् शिक्षा दी है । देखिये ! अब मैं निर्भय होकर राजा शाल्वकी इस विख्यात सेनामें प्रवेश करता हूँ' ॥ ६ ॥

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा ततो वीर हयान् संचोद्य संगरे ।
रश्मिभिस्तु समुद्यम्य जवेनाभ्यपतत् तदा ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—वीरवर ! ऐसा कहकर उस सूतपुत्रने घोड़ोंकी बागडोर हाथमें लेकर उन्हें युद्धभूमिकी ओर हाँका और शीघ्रतापूर्वक वहाँ जा पहुँचा ॥ ७ ॥

मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ॥ ८ ॥

उसने समान-असमान और वाम-दक्षिण आदि सब प्रकारकी विचित्र मण्डलाकार गतिसे रथका संचालन किया ॥

प्रतोदेनाहता राजन् रश्मिभिश्च समुद्यताः ।
उत्पतन्त इवाकाशे व्यचरंस्ते हयोत्तमाः ॥ ९ ॥

राजन् ! वे श्रेष्ठ घोड़े चाबुककी मार खाकर बागडोर हिलानेसे तीव्र गतिसे दौड़ने लगे, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ॥ ९ ॥

ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप दारुकिम् ।
दह्यमाना इव तदा नास्पृशंश्चरणैर्महीम् ॥ १० ॥

महाराज ! दारुकपुत्रके हस्तलाघवको समझकर वे घोड़े प्रज्वलित अग्निकी भाँति दमकते हुए इस प्रकार जा रहे थे, मानो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श भी न कर रहे हों ॥ १० ॥

सोऽपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ ।
चकार नातियत्नेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ११ ॥

भरतकुलभूषण ! दारुकके पुत्रने अनायास ही शाल्वकी उस सेनाको अपसव्य (दाहिने) कर दिया । यह एक अद्भुत बात हुई ॥ ११ ॥

अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन च सौभराट् ।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समार्दयत् ॥ १२ ॥

सौभराज शाल्व प्रद्युम्नके द्वारा अपनी सेनाका अपसव्य किया जाना न सह सका। उसने सहसा तीन बाण चलाकर प्रद्युम्नके सारथिको घायल कर दिया ॥ १२ ॥

दारुकस्य सुतस्तत्र बाणवेगमचिन्तयन् ।
भूय एव महाबाहो प्रययावपसव्यतः ॥ १३ ॥
ततो बाणान् बहुविधान् पुनरेव स सौभराट् ।
मुमोच तनये वीर मम रुक्मिणिनन्दने ॥ १४ ॥
तानप्राप्ताञ्छितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा ।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥
छिन्नान् दृष्ट्वा तु तान् बाणान् प्रद्युम्नेन च सौभराट् ।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजच्छरान् ॥ १६ ॥

महाबाहो! परंतु दारुककुमारने वहाँ बाणोंके वेगपूर्वक प्रहारकी कोई चिन्ता न करते हुए शाल्वकी सेनाको अपसव्य (दाहिने) करते हुए ही रथको आगे बढ़ाया। वीरवर! तब सौभराज शाल्वने पुनः मेरे पुत्र रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नपर अनेक प्रकारके बाण चलाये। शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए शाल्वके बाणोंको अपने पास आनेसे पहले ही तीक्ष्ण बाणोंसे मुसकराकर काट देते थे। प्रद्युम्नके द्वारा अपने बाणोंको छिन्न-भिन्न होते देख सौभराजने भयंकर आसुरी मायाका सहारा लेकर बहुत-से बाण बरसाये ॥ १३—१६ ॥

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलम् ।
ब्रह्मास्त्रेणान्तराच्छित्त्वा मुमोचान्यान् पतत्रिणः ॥

प्रद्युम्नने शाल्वको अति शक्तिशाली दैत्यास्त्रका प्रयोग करता जानकर ब्रह्मास्त्रके द्वारा उसे बीचमें ही काट डाला और अन्य बहुत-से बाण बरसाये ॥ १७ ॥

ते तदस्त्रं विधूयाशु विव्यधू रुधिराशनाः ।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥

वे सभी बाण शत्रुओंका रक्त पीनेवाले थे। उन बाणोंने शाल्वके अस्त्रोंका नाश करके उसके मस्तक, छाती और मुखको बींध डाला, जिससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते ।
रौक्मिणेयो परं बाणं संदधे शत्रुनाशनम् ॥ १९ ॥

क्षुद्र स्वभाववाले राजा शाल्वके बाणविद्ध होकर गिर जानेपर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने अपने धनुषपर एक उत्तम बाणका संधान किया, जो शत्रुका नाश कर देनेवाला था ॥ १९ ॥

तमर्चितं सर्वदशार्हपूगै-
राशीविषाग्निज्वलनप्रकाशम् ।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं
बभूव हाहाकृतमन्तरिक्षम् ॥ २० ॥

वह बाण समस्त यादवसमुदायके द्वारा सम्मानित, वि सर्पके समान विषाक्त तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाश था। उस बाणको प्रत्यञ्चापर रखा जाता हुआ देख अन्त लोकमें हाहाकार मच गया ॥ २० ॥

ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सहधनेश्वराः ।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनं च मनोजवम् ॥ २

तब इन्द्र और कुबेरसहित सम्पूर्ण देवता देवर्षि नारद तथा मनके समान वेगवाले वायुदेवको भेजा ॥

तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम् ।
नैष वध्यस्त्वया वीर शाल्वराजः कथंचन ॥ २

उन दोनोंने रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके पास आ देवताओंका यह संदेश सुनाया—'वीरवर! यह राजा युद्धमें कदापि तुम्हारा वध्य नहीं है ॥ २२ ॥

संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे ।
एतस्य च शरस्याजौ नावध्योऽस्ति पुमान् क्वचित् ॥ २

'तुम अपने इस बाणको फिरसे लौटा लो; क्योंकि शाल्व तुम्हारे द्वारा अवध्य है। तुम्हारे इस बाणका प्र होनेपर युद्धमें कोई भी पुरुष बिना मरे नहीं रह सकता

मृत्युरस्य महाबाहो रणे देवकिनन्दनः ।
कृष्णः संकल्पितो धात्रा तन्मिथ्या न भवेदिति ॥ २४

'महाबाहो! विधाताने युद्धमें देवकीनन्दन भगव श्रीकृष्णके हाथसे ही इसकी मृत्यु निश्चित की है। उन वह संकल्प मिथ्या नहीं होना चाहिये' ॥ २४ ॥

ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम् ।
संजहार धनुःश्रेष्ठात् तूणे चैव न्यवेशयत् ॥ २५

यह सुनकर प्रद्युम्न बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अ श्रेष्ठ धनुषसे उस उत्तम बाणको उतार लिया और पु तरकसमें रख दिया ॥ २५ ॥

तत उत्थाय राजेन्द्र शाल्वः परमदुर्मनाः ।
व्यपायात् सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः ॥ २६

राजेन्द्र! तदनन्तर शाल्व उठकर अत्यन्त दुःखि चित्त हो प्रद्युम्नके बाणोंसे पीड़ित होनेके कारण अपनी सेना साथ तुरंत भाग गया ॥ २६ ॥

स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरार्दितः ।
सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ॥ २७

महाराज! उस समय वृष्णिवंशियोंसे पीड़ित हो स्वभाववाला शाल्व द्वारकाको छोड़कर अपने सौभ नाम विमानका आश्रय ले आकाशमें जा पहुँचा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और शाल्वका भीषण युद्ध

वासुदेव उवाच

आनर्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा ।
महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! आपका राजसूय महायज्ञ समाप्त होनेपर मैं शाल्वसे विमुक्त आनर्तनगर (द्वारका) में गया ॥ १ ॥

अपश्यं द्वारकां चाहं महाराज हतत्विषम् ।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरस्त्रियम् ॥ २ ॥

महाराज! मैंने वहाँ पहुँचकर देखा, द्वारका श्रीहीन हो रही है। वहाँ न तो स्वाध्याय होता है, न वषट्कार। वह पुरी आभूषणोंसे रहित सुन्दरी नारीकी भाँति उदास लग रही थी॥

अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च ।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम् ॥ ३ ॥

द्वारकाके वन-उपवन तो ऐसे हो रहे थे, मानो पहचाने ही न जाते हों। यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी शंका हुई और मैंने कृतवर्मासे पूछा—॥ ३ ॥

अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिकुलं भृशम् ।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ! इस वृष्णिवंशके प्रायः सभी स्त्री-पुरुष अस्वस्थ दिखायी देते हैं, इसका क्या कारण है? यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ' ॥ ४ ॥

एवमुक्तः स तु मया विस्तरेणेदमब्रवीत् ।
रोधं मोक्षं च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम ॥ ५ ॥

नृपश्रेष्ठ! मेरे इस प्रकार पूछनेपर कृतवर्माने शाल्वके द्वारकापुरीपर घेरा डालने और फिर छोड़कर भाग जानेका सब समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाया ॥ ५ ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ श्रुत्वा सर्वमशेषतः ।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाकरवं मतिम् ॥ ६ ॥

भरतवंशशिरोमणे! यह सब वृत्तान्त पूर्णरूपसे सुनकर मैंने शाल्वराजके विनाशका पूर्ण निश्चय कर लिया ॥६॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ समाश्वास्य पुरे जनम् ।
राजानमाहुकं चैव तथैवानकदुन्दुभिम् ॥ ७ ॥
सर्वान् वृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा ।
अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मैं नगरनिवासियोंको आश्वासन देकर राजा उग्रसेन, पिता वसुदेव तथा सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंका हर्ष बढ़ाते हुए बोला—'यदुकुलके श्रेष्ठ पुरुषो! आपलोग नगरकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहें ॥ ७-८ ॥

शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मां निबोधत ।
नाहत्वा तं निवर्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥ ९ ॥

'मैं शाल्वराजका नाश करनेके लिये यहाँसे प्रस्थान करता हूँ। आप यह निश्चय जानें; मैं शाल्वका वध किये बिना द्वारकापुरीको नहीं लौटूँगा ॥ ९ ॥

सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टास्मि वः पुनः ।
त्रिः समाहन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणा ॥ १० ॥

'शाल्वसहित सौभनगरका नाश कर लेनेपर ही मैं पुनः आपलोगोंका दर्शन करूँगा। अब शत्रुओंको भयभीत करनेवाले इस नगाड़ेको तीन बार बजाइये' ॥ १० ॥

ते मयाऽऽश्वासिता वीरा यथावद् भरतर्षभ ।
सर्वे मामब्रुवन् हृष्टाः प्रयाहि जहि शात्रवान् ॥ ११ ॥

भरतकुलभूषण! मेरे इस प्रकार आश्वासन देनेपर सभी यदुवंशी वीरोंने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—'जाइये और शत्रुओंका विनाश कीजिये' ॥ ११ ॥

तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीर्भिरभिनन्दितः ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् प्रणम्य शिरसा भवम् ॥ १२ ॥
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनानादयन् दिशः ।
प्रध्माप्य शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृप ॥ १३ ॥
प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः ।
क्लृप्तेन चतुरङ्गेण यत्तेन जितकाशिना ॥ १४ ॥

प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंके द्वारा आशीर्वादसे अभिनन्दित होकर मैंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और मस्तक झुकाकर भगवान् शिवको प्रणाम किया। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंसे जुते हुए अपने रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए श्रेष्ठ शङ्ख पाञ्चजन्यको बजाकर मैंने विशाल सेनाके साथ रणके लिये प्रस्थान किया। मेरी उस व्यूहरचनासे युक्त और नियन्त्रित सेनामें हाथी, घोड़े, रथी और पैदल—चारों ही अङ्ग मौजूद थे। उस समय वह सेना विजयसे सुशोभित हो रही थी ॥ १२–१४ ॥

समतीत्य बहून् देशान् गिरींश्च बहुपादपान् ।
सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम् ॥ १५ ॥

तब मैं बहुत-से देशों और असंख्य वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतों, सरोवरों और सरिताओंको लाँघता हुआ मार्तिकावतमें जा पहुँचा ॥ १५ ॥

तत्राश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागरमन्तिकात् ।
प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम् ॥ १६ ॥

नरव्याघ्र ! वहाँ मैंने सुना कि शाल्व सौभ विमानपर बैठकर समुद्रके निकट जा रहा है। तब मैं उसीके पीछे लग गया ॥ १६ ॥

ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत् सौभमास्थाय शत्रुहन् ॥ १७ ॥

शत्रुनाशन ! फिर समुद्रके निकट पहुँचकर उत्ताल तरङ्गोंवाले महासागरकी कुक्षिके अन्तर्गत उसके नाभिदेश (एक द्वीप) में जाकर राजा शाल्व सौभ विमानपर ठहरा हुआ था ॥ १७ ॥

स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! वह दुष्टात्मा दूरसे ही मुझे देखकर मुसकराता हुआ-सा बारंबार युद्धके लिये ललकारने लगा ॥ १८ ॥

तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुरं नासाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत् ॥ १९ ॥

मेरे शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए बहुत-से मर्मभेदी बाण शाल्वके विमानतक नहीं पहुँच सके। इससे मैं रोषमें भर गया ॥

स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ॥ २० ॥

राजन् ! नीच दैत्य दुर्द्धर्ष राजा शाल्व स्वभावसे ही पापाचारी था। उसने मेरे ऊपर सहस्रों बाणधाराएँ बरसायीं ॥ २० ॥

सैनिकान् मम सूतं च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान् वयं युध्याम भारत ॥ २१ ॥

मेरे सारथि, घोड़ों तथा सैनिकोंपर उसने भी बाणोंकी झड़ी लगा दी। भारत ! उसके बाणोंकी बौछारको कुछ न समझकर मैं युद्धमें ही लगा रहा ॥ २१ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर शाल्वके अनुगामी वीरोंने युद्धमें मेरे ऊपर झुकी हुई गाँठवाले लाखों बाण बरसाये ॥ २२ ॥

ते हयांश्च रथं चैव तदा दारुकमेव च ।
छादयामासुरसुरास्तैर्बाणैर्मर्मभेदिभिः ॥ २३ ॥

उस समय उन असुरोंने अपने मर्मवेधी बाणोंद्वारा मेरे घोड़ोंको, रथको और दारुकको भी ढक दिया ॥ २३ ॥

न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाहं सैनिकाश्च मे ॥ २४ ॥

वीरवर ! उस समय मेरे घोड़े, रथ, मेरा सारथि दारुक, मैं तथा मेरे सारे सैनिक—सभी बाणोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान् बहून् ।
आमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाक्षिपम् ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! तब मैंने भी अपने धनुषद्वारा विधिसे अभिमन्त्रित किये हुए कई हजार बाण बरसाये ॥

न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत् सौभं क्रोशमात्र इवाभवत् ॥ २६ ॥

भारत ! शाल्वका सौभ विमान आकाशमें इस प्रकार प्रवेश कर गया था कि मेरे सैनिकोंकी दृष्टिमें आता ही न था, मानो एक कोस दूर चला गया हो ॥ २६ ॥

ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रङ्गवाट इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ॥ २७ ॥

तब वे सैनिक रंगशालामें बैठे हुए दर्शकोंकी भाँति केवल मेरे युद्धका दृश्य देखते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद और करतलध्वनि करके मेरा हर्ष बढ़ाने लगे ॥ २७ ॥

मत्कराग्रविनिर्मुक्ता दानवानां शरास्तथा ।
अङ्गेषु रुचिरापाङ्गा विविशुः शलभा इव ॥ २८ ॥

तब मेरे हाथोंसे छूटे हुए मनोहर पंखवाले बाण दानवोंके अङ्गोंमें शलभोंकी भाँति घुसने लगे ॥ २८ ॥

ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे ॥ २९ ॥

इससे सौभ विमानमें मेरे तीखे बाणोंसे मरकर महासागरमें गिरनेवाले दानवोंका कोलाहल बढ़ने लगा ॥ २९ ॥

ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान् नादान् निपतन्ति स्म दानवाः ॥ ३० ॥

कंधे और भुजाओंके कट जानेसे कबन्धकी आकृतिमें दिखायी देनेवाले वे दानव भयंकर नाद करते हुए समुद्रमें गिरने लगे ॥ ३० ॥

पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ।
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ॥ ३१ ॥
जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाहमपूरयम् ।
तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्ततः ॥ ३२ ॥
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ।
ततो गदा हलाः प्रासाः शूलशक्तिपरश्वधाः ॥ ३३ ॥
असयः शक्तिकुलिशपाशर्ष्टिकनपाः शराः ।
पट्टिशाश्च भुशुण्ड्यश्च प्रपतन्त्यनिशं मयि ॥ ३४ ॥

जो गिरते थे, उन्हें समुद्रमें रहनेवाले जीव-जन्तु निगल जाते थे। तत्पश्चात् मैंने गोदुग्ध, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, मृणाल तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले पाञ्चजन्य नामक शङ्खको बड़े जोरसे फूँका। उन दानवोंको समुद्रमें गिरते देख सौभराज शाल्व महान् मायायुद्धके द्वारा मेरा सामना करने

लगा। फिर तो मेरे ऊपर गदा, हल, प्रास, शूल, शक्ति, फरसे, खड्ग, शक्ति, वज्र, पाश, ऋष्टि, कनप, बाण, पट्टिश और भुशुण्डी आदि शस्त्रास्त्रोंकी निरन्तर वर्षा होने लगी ॥ ३१–३४ ॥

तामहं माययैवाशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ।
तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ॥ ३५ ॥

शाल्वकी उस मायाको मैंने मायाद्वारा ही नियन्त्रित करके नष्ट कर दिया। उस मायाका नाश होनेपर वह पर्वतके शिखरोंद्वारा युद्ध करने लगा ॥ ३५ ॥

ततोऽभवत् तम इव प्रकाश इव चाभवत् ।
दुर्दिनं सुदिनं चैव शीतमुष्णं च भारत ॥ ३६ ॥
अङ्गारपांशुवर्षं च शस्त्रवर्षं च भारत ।
एवं मायां प्रकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कभी अन्धकार-सा हो जाता, कभी प्रकाश-सा हो जाता, कभी मेघोंसे आकाश घिर जाता और कभी बादलोंके छिन्न-भिन्न होनेसे सुन्दर दिन प्रकट हो जाता था। कभी सर्दी और कभी गर्मी पड़ने लगती थी। अङ्गार और धूलिकी वर्षाके साथ-साथ शस्त्रोंकी भी वृष्टि होने लगती। इस प्रकार शत्रुने मेरे साथ मायाका प्रयोग करते हुए युद्ध आरम्भ किया ॥ ३६-३७ ॥

विज्ञाय तदहं सर्वं माययैव व्यनाशयम् ।
यथाकालं तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ॥ ३८ ॥

वह सब जानकर मैंने मायाद्वारा ही उसकी मायाका नाश कर दिया। यथासमय युद्ध करते हुए मैंने बाणोंद्वारा शाल्वकी सेनाको सब ओरसे संतप्त कर दिया ॥ ३८ ॥

ततो व्योम महाराज शतसूर्यमिवाभवत् ।
शतचन्द्रं च कौन्तेय सहस्रायुततारकम् ॥ ३९ ॥

कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर! इसके बाद आकाश सौ सूर्योंसे उद्भासित-सा दिखायी देने लगा। उसमें सैकड़ों चन्द्रमा और करोड़ों तारे दिखायी देने लगे ॥ ३९ ॥

ततो नाज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः ।
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ॥ ४० ॥

उस समय यह नहीं जान पड़ता था कि यह दिन है या रात्रि! दिशाओंका भी ज्ञान नहीं होता था; इससे मोहित होकर मैंने प्रज्ञास्त्रका संधान किया ॥ ४० ॥

ततस्तदस्त्रं कौन्तेय धूतं तूलमिवानिलैः ।
तथा तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
लब्धालोकस्तु राजेन्द्र पुनः शत्रुमयोधयम् ॥ ४१ ॥

कुन्तीकुमार! तब उस अस्त्रने उस सारी मायाको उसी प्रकार उड़ा दिया, जैसे हवा रूईको उड़ा देती है। इसके बाद शाल्वके साथ हमलोगोंका अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। राजेन्द्र! सब ओर प्रकाश हो जानेपर मैंने पुनः शत्रुसे युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका शाल्वकी मायासे मोहित होकर पुनः सजग होना

वासुदेव उवाच

एवं स पुरुषव्याघ्र शाल्वराजो महारिपुः ।
युध्यमानो मया संख्ये वियदभ्यगमत् पुनः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषसिंह! इस प्रकार मेरे साथ युद्ध करनेवाला महाशत्रु शाल्वराज पुनः आकाशमें चला गया ॥ १ ॥

ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च
दीप्तांश्च शूलान् मुसलानसींश्च ।
चिक्षेप रोषान्मयि मन्दबुद्धिः
शाल्वो महाराज जयाभिकाङ्क्षी ॥ २ ॥

महाराज! वहाँसे विजयकी इच्छा रखनेवाले मन्द-बुद्धि शाल्वने क्रोधमें भरकर मेरे ऊपर शतघ्नियाँ, बड़ी-बड़ी गदाएँ, प्रज्वलित शूल, मुसल और खड्ग फेंके ॥ २ ॥

तानाशुगैरापततोऽहमाशु
निवार्य हन्तुं खगमान् ख एव ।
द्विधा त्रिधा चाच्छिदमाशुमुक्तै-
स्ततोऽन्तरिक्षे निनदो बभूव ॥ ३ ॥

उनके आते ही मैंने तुरंत शीघ्रगामी बाणोंद्वारा उन्हें रोककर उन गगनचारी शत्रुओंको आकाशमें ही मार डालनेका निश्चय किया और शीघ्र छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबके दो-दो तीन-तीन टुकड़े कर डाले। इससे अन्तरिक्षमें बड़ा भारी आर्त्तनाद हुआ ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम् ।
दारुकं वाजिनश्चैव रथं च समवाकिरत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर शाल्वने झुकी हुई गाँठोंवाले लाखों बाणोंका प्रहार करके मेरे सारथि दारुक, घोड़ों तथा रथको आच्छादित कर दिया ॥ ४ ॥

ततो मामब्रवीद् वीर दारुको विह्वलन्निव ।
स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीडितः ।
अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ॥ ५ ॥

वीरवर ! तब दारुक व्याकुल-सा होकर मुझसे बोला— 'प्रभो ! युद्धमें डटे रहना चाहिये' इस कर्तव्यका स्मरण करके ही मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ; किंतु शाल्वके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझमें खड़े रहनेकी भी शक्ति नहीं रह गयी है। मेरा अङ्ग शिथिल होता जा रहा है' ॥ ५ ॥

इति तस्य निशम्याहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ॥ ६ ॥

सारथिका यह करुण वचन सुनकर मैंने उसकी ओर देखा । उसे बाणोंद्वारा बड़ी पीड़ा हो रही थी ॥ ६ ॥

न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ पश्याम्यनिचितं शरैः ॥ ७ ॥
स तु बाणवरोत्पीडाद् विस्रवत्यसृगुल्बणम्।
अभिवृष्टे यथा मेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ॥ ८ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! उसकी छातीमें, मस्तकपर, शरीरके अन्य अवयवोंमें तथा दोनों भुजाओंमें थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं दिखायी देता था, जिसमें बाण न चुभे हुए हों। जैसे मेघके वर्षा करनेपर गेरू आदि धातुओंसे युक्त पर्वत लाल पानीकी धारा बहाने लगता है, वैसे ही वह बाणोंसे छिदे हुए अपने अङ्गोंसे भयंकर रक्तकी धारा बहा रहा था ॥ ७ ॥

अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तम्भयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उस युद्धमें हाथमें बागडोर लिये सारथिको शाल्वके बाणोंसे पीड़ित होकर कष्ट पाते देख मैंने उसे ढाढ़स बँधाया ॥ ९ ॥

अथ मां पुरुषः कश्चिद् द्वारकानिलयोऽब्रवीत्।
त्वरितो रथमभ्येत्य सौहृदादिव भारत ॥ १० ॥
आहुकस्य वचो वीर तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

भरतवंशी वीरवर ! इतनेमें ही कोई द्वारकावासी पुरुष आकर तुरंत मेरे रथपर चढ़ गया और सौहार्द दिखाता हुआ-सा बोला। वह राजा उग्रसेनका सेवक था और दुखी होकर उसने गद्गदकण्ठसे उनका जो संदेश सुनाया, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ १०-११ ॥

द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवेहि विजानीष्व यत् त्वां पितृसखोऽब्रवीत्॥ १२ ॥

(दूत बोला—) 'वीर ! द्वारकानरेश उग्रसेनने आपको यह एक संदेश दिया है । केशव ! वे आपके पिताके सखा हैं; उन्होंने आपसे कहा है कि यहाँ आ जाओ और जान लो ॥ १२ ॥

उपयायाद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष हतः शूरसुतो बलात् ॥ १३ ॥

'दुर्द्धर्ष वृष्णिनन्दन ! आपके युद्धमें आसक्त होनेपर शाल्वने अभी द्वारकापुरीमें आकर शूरनन्दन वसुदेवजीको बलपूर्वक मार डाला है ॥ १३ ॥

तदलं साधु युद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ।
द्वारकामेव रक्षस्व कार्यमेतन्महत् तव ॥ १४ ॥

'जनार्दन ! अब युद्ध करके क्या लेना है ? लौट आओ । द्वारकाकी ही रक्षा करो । तुम्हारे लिये यही सबसे महान् कार्य है' ॥ १४ ॥

इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कर्तव्यस्येतरस्य च ॥ १५ ॥

दूतका यह वचन सुनकर मेरा मन उदास हो गया । मैं कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाता था ॥ १५ ॥

सात्यकिं बलदेवं च प्रद्युम्नं च महारथम् ।
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा महदप्रियम् ॥ १६ ॥

वीर युधिष्ठिर ! वह महान् अप्रिय वृत्तान्त सुनकर मैं मन-ही-मन सात्यकि, बलरामजी तथा महारथी प्रद्युम्नकी निन्दा करने लगा ॥ १६ ॥

अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन ।
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातः सौभपातने ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! मैं द्वारका तथा पिताजीकी रक्षाका भार उन्हीं लोगोंपर रखकर सौभविमानका नाश करनेके लिये चला था ॥ १७ ॥

बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा ।
सात्यकी रौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ।
एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथंचन ॥ १९ ॥
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् ।
हतः शूरसुतो व्यक्तं व्यक्तं चैते परासवः ॥ २० ॥
बलदेवमुखाः सर्वे इति मे निश्चिता मतिः ।
सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
अविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ॥ २१ ॥

क्या शत्रुहन्ता महाबली बलरामजी जीवित हैं ? क्या सात्यकि, रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, महाबली चारुदेष्ण तथा साम्ब आदि जीवन धारण करते हैं ? इन बातोंका विचार करते-करते मेरा मन बहुत उदास हो गया । नरश्रेष्ठ !

वीरोंके जीते-जी साक्षात् इन्द्र भी मेरे पिता वसुदेवजीको किसी प्रकार मार नहीं सकते थे। अवश्य ही शूरनन्दन वसुदेवजी मारे गये और यह भी स्पष्ट है कि बलरामजी आदि सभी प्रमुख वीर प्राणत्याग कर चुके हैं—यह मेरा निश्चित विचार हो गया । महाराज ! इस प्रकार सबके विनाशका बारंबार चिन्तन करके भी मैं व्याकुल न होकर राजा शाल्वसे पुनः युद्ध करने लगा ॥ १८–२१ ॥

ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा।
सौभाच्छूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत् ॥ २२ ॥

वीर महाराज ! इसी समय मैंने देखा, सौभ-विमानसे मेरे पिता वसुदेवजी नीचे गिर रहे हैं। इससे शाल्वकी मायासे मुझे मूर्च्छा-सी आ गयी ॥ २२ ॥

तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम् ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! उस विमानसे गिरते हुए मेरे पिताका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो पुण्यक्षय होनेपर स्वर्गसे पृथ्वीतल-पर गिरनेवाले राजा ययातिका शरीर हो ॥ २३ ॥

विशीर्णमलिनोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्धजः।
प्रपतन् दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥ २४ ॥

उनकी मलिन पगड़ी बिखर गयी थी, शरीरके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे और बाल बिखर गये थे। वे गिरते समय पुण्यहीन ग्रहकी भाँति दिखायी देते थे ॥ २४ ॥

ततः शार्ङ्गं धनुःश्रेष्ठं करात् प्रपतितं मम।
मोहापन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम् ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! उनकी यह अवस्था देख धनुषोंमें श्रेष्ठ शार्ङ्ग मेरे हाथसे छूटकर गिर गया और मैं शाल्वकी मायासे मोहित-सा होकर रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया ॥ २५ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम्।
मां दृष्ट्वा रथनीडस्थं गतासुमिव भारत ॥ २६ ॥

भारत ! फिर तो मुझे रथके पिछले भागमें प्राणरहितके समान पड़ा देख मेरी सारी सेना हाहाकार कर उठी। सबकी चेतना लुप्त-सी हो गयी ॥ २६ ॥

प्रसार्य बाहू पततः प्रसार्य चरणावपि।
रूपं पितुर्मे विबभौ शकुनेः पततो यथा ॥ २७ ॥

हाथों और पैरोंको फैलाकर गिरते हुए मेरे पिताका शरीर मरकर गिरनेवाले पक्षीके समान जान पड़ता था ॥ २७ ॥

तं पतन्तं महाबाहो शूलपट्टिशपाणयः।
अभिघ्नन्तो भृशं वीर मम चेतो ह्यकम्पयन् ॥ २८ ॥

वीरवर महाबाहो ! गिरते समय शत्रु-सैनिक हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये उनके ऊपर बारंबार प्रहार कर रहे थे। उनके इस क्रूर कृत्यने मेरे हृदयको कम्पित-सा कर दिया ॥

ततो मुहूर्तात् प्रतिलभ्य संज्ञा-
महं तदा वीर महाविमर्दे।
न तत्र सौभं न रिपुं च शाल्वं
पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि ॥ २९ ॥

वीरवर ! तदनन्तर दो घड़ीके बाद जब मैं सचेत होकर देखता हूँ, तब उस महासमरमें न तो सौभ विमानका पता है, न मेरा शत्रु शाल्व ही दिखायी देता है और न मेरे बूढ़े पिता ही दृष्टिगोचर होते हैं ॥ २९ ॥

ततो ममासीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम्।
प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशोऽवाकिरं शरान् ॥ ३० ॥

तब मेरे मनमें यह निश्चय हो गया कि यह वास्तवमें माया ही थी। तब मैंने सजग होकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

शाल्ववधोपाख्यानकी समाप्ति और युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर श्रीकृष्ण, धृष्टद्युम्न तथा अन्य सब राजाओंका अपने-अपने नगरको प्रस्थान

वासुदेव उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः।
शरैरपातयं सौभाच्छिरांसि विबुधद्विषाम् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तब मैं अपना सुन्दर धनुष उठाकर बाणोंद्वारा सौभ विमानसे देवद्रोही दानवोंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगा ॥ १ ॥

शरांश्चाशीविषाकारानूर्ध्वगांस्तिग्मतेजसः।
प्रैषयं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान् सुवाससः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान प्रतीत होनेवाले, सुन्दर पङ्खोंसे सुशोभित, प्रचण्ड तेजस्वी तथा अनेक ऊर्ध्वगामी बाण मैंने राजा शाल्वपर चलाये ॥ २ ॥

ततो नादृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह।

अन्तर्हितं माययाभूत् ततोऽहं विस्मितोऽभवम् ॥ ३ ॥

कुरुकुलशिरोमणे ! परंतु उस समय सौभ विमान मायासे अदृश्य हो गया, अतः किसी प्रकार दिखायी नहीं देता था। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३ ॥

अथ दानवसङ्घास्ते विकृताननमूर्धजाः।
उदक्रोशन् महाराज विष्ठिते मयि भारत ॥ ४ ॥

भरतवंशी महाराज ! तदनन्तर जब मैं निर्भय और अचलभावसे स्थित हुआ तथा उनपर शस्त्रप्रहार करने लगा, तब विकृत मुख और केशवाले सौभनिवासी दानवगण जोर-जोरसे चिल्लाने लगे ॥ ४ ॥

ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महारणे।
अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ॥ ५ ॥

तब मैंने उनके वधके लिये उस महान् संग्राममें बड़ी उतावलीके साथ शब्दवेधी बाणका संधान किया। यह देख उनका कोलाहल शान्त हो गया ॥ ५ ॥

हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः।
शरैरादित्यसंकाशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ॥ ६ ॥

जिन दानवोंने पहले कोलाहल किया था, वे सब सूर्यके समान तेजस्वी शब्दवेधी बाणोंद्वारा मारे गये ॥ ६ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवान्यतोऽभवत्।
शब्दोऽपरो महाराज तत्रापि प्राहरं शरैः ॥ ७ ॥

महाराज ! वह कोलाहल शान्त होनेपर फिर दूसरी ओर उनका शब्द सुनायी दिया। तब मैंने उधर भी बाणोंका प्रहार किया ॥ ७ ॥

एवं दश दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च भारत।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ॥ ८ ॥

भारत ! इस तरह वे असुर इधर-उधर ऊपर-नीचे दसों दिशाओंमें कोलाहल करते और मेरे हाथसे मारे जाते थे॥८॥

ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत।
सौभं कामगमं वीर मोहयन्मम चक्षुषी ॥ ९ ॥

तदनन्तर इच्छानुसार चलनेवाला सौभ विमान प्राग्ज्योतिषपुरके निकट जाकर मेरे नेत्रोंको भ्रममें डालता हुआ फिर दिखायी दिया ॥ ९ ॥

ततो लोकान्तकरणो दानवो दारुणाकृतिः।
शिलावर्षेण महता सहसा मां समावृणोत् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् लोकान्तकारी भयंकर आकृतिवाले दानवने आकर सहसा पत्थरोंकी भारी वर्षाके द्वारा मुझे आवृत कर दिया ॥ १० ॥

सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः पुनः पुनः।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! शिलाखण्डोंकी उस निरन्तर वृष्टिसे बारंबार आहत होकर मैं पर्वतोंसे आच्छादित बाँबी-सा प्रतीत होने लगा ॥ ११ ॥

ततोऽहं पर्वतचितः सहयः सहसारथिः।
अप्रख्यातिमियां राजन् सर्वतः पर्वतैश्चितः ॥ १२ ॥

राजन् ! मेरे चारों ओर शिलाखण्ड जमा हो गये थे। मैं घोड़ों और सारथिसहित प्रस्तरखण्डोंसे चुना-सा गया था, जिससे दिखायी नहीं देता था ॥ १२ ॥

ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममासन् सैनिकास्तदा।
ते भयार्ता दिशः सर्वे सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ १३ ॥

यह देख वृष्णिकुलके श्रेष्ठ वीर जो मेरे सैनिक थे, भयसे आर्त हो सहसा चारों दिशाओंमें भाग चले ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतमभूत् सर्वं किल विशाम्पते।
द्यौश्च भूमिश्च खं चैवादृश्यमाने तथा मयि ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! मेरे अदृश्य हो जानेपर भूलोक, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोक—सभी स्थानोंमें हाहाकार मच गया ॥ १४ ॥

ततो विषण्णमनसो मम राजन् सुहृज्जनाः।
रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ॥ १५ ॥

राजन् ! उस समय मेरे सभी सुहृद् खिन्नचित्त हो दुःख-शोकमें डूबकर रोने-चिल्लाने लगे ॥ १५ ॥

द्विषतां च प्रहर्षोऽभूदार्तिश्चाद्विषतामपि।
एवं विजितवान् वीर पश्चादश्रौषमच्युत ॥ १६ ॥

शत्रुओंमें उल्लास छा गया और मित्रोंमें शोक। अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले वीर युधिष्ठिर ! इस प्रकार राजा शाल्व एक बार मुझपर विजयी हो चुका था। यह बात मैंने सचेत होनेपर पीछे सारथिके मुँहसे सुनी थी ॥ १६ ॥

ततोऽहमिन्द्रदयितं सर्वपाषाणभेदनम्।
वज्रमुद्यम्य तान् सर्वान् पर्वतान् समशातयम् ॥ १७ ॥

तब मैंने सब प्रकारके प्रस्तरोंको विदीर्ण करनेवाले इन्द्रके प्रिय आयुध वज्रका प्रहार करके उन समस्त शिलाखण्डोंको चूर-चूर कर दिया ॥ १७ ॥

ततः पर्वतभारार्ता मन्दप्राणविचेष्टिताः।
हया मम महाराज वेपमाना इवाभवन् ॥ १८ ॥

महाराज ! उस समय पर्वतखण्डोंके भारसे पीड़ित हुए मेरे घोड़े कम्पित-से हो रहे थे। उनकी बलसाध्य चेष्टाएँ बहुत कम हो गयी थीं ॥ १८ ॥

मेघजालमिवाकाशे विदार्याभ्युदितं रविम्।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन् पुनः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें बादलोंके समुदायको छिन्न-भिन्न करके सूर्य उदित होता है, उसी प्रकार शिलाखण्डोंको हटाकर

मुझे प्रकट हुआ देख मेरे सभी बन्धु-बान्धव पुनः हर्षसे खिल उठे ॥ १९ ॥

ततः पर्वतभारार्त्तान् मन्दप्राणविचेष्टितान्।
हयान् संदृश्य मां सूतः प्राह तात्कालिकं वचः ॥ २०॥

तब प्रस्तरखण्डोंके भारसे पीड़ित तथा धीरे-धीरे प्राण-साध्य चेष्टा करनेवाले घोड़ोंको देखकर सारथिने मुझसे यह समयोचित बात कही—॥ २० ॥

साधु सम्पश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम्।
अलं कृष्णावमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ॥ २१॥

'वार्ष्णेय ! वह देखिये, सौभराज शाल्व वहाँ खड़ा है। श्रीकृष्ण ! इसकी उपेक्षा करनेसे कोई लाभ नहीं। इसके वधका कोई उचित उपाय कीजिये ॥ २१ ॥

मार्दवं सखितां चैव शाल्वादद्य व्यपाहर।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ॥ २२॥

'महाबाहु केशव ! अब शाल्वकी ओरसे कोमलता और मित्रभाव हटा लीजिये । इसे मार डालिये, जीवित न रहने दीजिये ॥ २२ ॥

सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन्।
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ २३॥

'शत्रुहन्ता वीरवर ! आपको सारा पराक्रम लगाकर इस शत्रुका वध कर डालना चाहिये । कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ २३ ॥

योऽपि स्यात् पीठगः कश्चित् किं पुनः समरे स्थितः।
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ॥ २४॥
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात् पुनः।
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नापि सखा तव ॥ २५॥
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चावमर्दिता।
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाहं सारथेर्वचः ॥ २६॥
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम्।
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ॥ २७॥

'कोई शत्रु अपने घरमें आसनपर बैठा हो (युद्ध न करना चाहता हो), तो भी उसे नष्ट करनेमें नहीं चूकना चाहिये; फिर जो संग्राममें युद्ध करनेके लिये खड़ा हो, उसकी तो बात ही क्या है ? अतः पुरुषसिंह ! प्रभो ! आप सभी उपायोंसे इस शत्रुको मार डालिये । वृष्णिवंशावतंस ! इस कार्यमें आपको पुनः विलम्ब नहीं करना चाहिये । यह मृदुतापूर्ण उपायसे वशमें आनेवाला नहीं । वास्तवमें यह आपका मित्र भी नहीं है; क्योंकि वीर ! इसने आपके साथ युद्ध किया और द्वारकापुरीको तहस-नहस कर दिया, अतः इसको शीघ्र मार डालना चाहिये।' कुन्तीनन्दन ! सारथिके मुखसे इस तरहकी बातें सुनकर मैंने सोचा, यह ठीक ही तो कहता है। यह विचारकर मैंने शाल्वराजका वध करने और सौभ विमानको मार गिरानेके लिये युद्धमें मन लगा दिया ॥ २४–२७ ॥

दारुकं चाब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति।
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवत् ॥ २८॥
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम्।
योजयं तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ॥ २९॥

वीर ! तत्पश्चात् मैंने दारुकसे कहा—'सारथे ! दो घड़ी और ठहरो (फिर तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी)।' तदनन्तर मैंने कहीं भी कुण्ठित न होनेवाले, दिव्य, अभेद्य, अत्यन्त शक्तिशाली, सब कुछ सहन करनेमें समर्थ, प्रिय तथा परम कान्तिमान् आग्नेयास्त्रका अपने धनुषपर संधान किया । वह अस्त्र युद्धमें दानवोंका अन्त करनेवाला था ॥

यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ॥ ३०॥

इतना ही नहीं, वह यक्षों, राक्षसों, दानवों तथा विपक्षी राजाओंको भी भस्म कर डालनेवाला और महान् था ॥ ३० ॥

क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम्।
अनुमन्त्र्याहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम् ॥ ३१॥
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चात्र रिपवो मम।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा ॥ ३२॥

वह आग्नेयास्त्र (सुदर्शन) चक्रके रूपमें था । उसके परिधिभागमें सब ओर तीखे छुरे लगे हुए थे । वह उज्ज्वल अस्त्र काल, यम और अन्तकके समान भयंकर था । उस शत्रु-नाशक अनुपम अस्त्रको अभिमन्त्रित करके मैंने कहा—'तुम अपनी शक्तिसे सौभ विमान और उसपर रहनेवाले मेरे शत्रुओंको मार डालो ।' ऐसा कहकर अपने बाहुबलसे रोषपूर्वक मैंने वह अस्त्र सौभ विमानकी ओर चलाया ॥

रूपं सुदर्शनस्यासीदाकाशे पततस्तदा।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ॥ ३३॥

आकाशमें जाते ही उस सुदर्शन चक्रका स्वरूप प्रलयकालमें उगनेवाले द्वितीय सूर्यके समान प्रकाशित हो उठा ॥ ३३ ॥

तत् समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम्।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ॥ ३४॥

उस दिव्यास्त्रने सौभनगरमें पहुँचकर उसे श्रीहीन कर दिया और जैसे आरा ऊँचे काठको चीर डालता है, उसी प्रकार सौभ विमानको बीचसे काट डाला ॥ ३४ ॥

द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम्।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ॥ ३५॥

सुदर्शन चक्रकी शक्तिसे कटकर दो टुकड़ोंमें बँटा हुआ सौभ विमान महादेवजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए त्रिपुरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३५ ॥

तस्मिन् निपतिते सौभे चक्रमागात् करं मम ।
पुनश्चादाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥ ३६ ॥

सौभ विमानके गिरनेपर चक्र फिर मेरे हाथमें आ गया । मैंने फिर उसे लेकर वेगपूर्वक चलाया और कहा—'अबकी बार शाल्वको मारनेके लिये तुम्हें छोड़ रहा हूँ' ॥ ३६ ॥

ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥ ३७ ॥

तब उस चक्रने महासमरमें बड़ी भारी गदा घुमानेवाले शाल्वके सहसा दो टुकड़े कर दिये और वह तेजसे

प्रज्वलित हो उठा ॥ ३७ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे दानवास्त्रस्तचेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम सायकैः ॥ ३८ ॥

वीर शाल्वके मारे जानेपर दानवोंके मनमें भय समा गया । वे मेरे बाणोंसे पीड़ित हो हाहाकार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८ ॥

ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।
शङ्खं प्रध्माप्य हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ॥ ३९ ॥

तब मैंने सौभ विमानके समीप अपने रथको खड़ा करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाकर सभी सुहृदोंको हर्षमें निमग्न कर दिया ॥ ३९ ॥

तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ ४० ॥

मेरुपर्वतके शिखरके समान आकृतिवाले सौभ अट्टालिका और गोपुर सभी नष्ट हो गये । उसे जलते उसपर रहनेवाली स्त्रियाँ इधर-उधर भाग गयीं ॥ ४० ॥

एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्तान् पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥ ४

धर्मराज ! इस प्रकार युद्धमें सौभ विमान तथा राजा नष्ट करके मैं पुनः आनर्तनगर (द्वारका) में लौट और सुहृदोंका हर्ष बढ़ाया ॥ ४१ ॥

तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागसाह्वयम् ।
नागमं परवीरघ्न न हि जीवेत् सुयोधनः ॥
मय्यागतेऽथवा वीर द्यूतं न भविता तथा ।
अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ॥

राजन् ! यही कारण है, जिससे मैं उन दिनों हस्ति न आ सका । शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले धर्मराज ! मैं या तो जूआ नहीं होता या दुर्योधन जीवित नहीं र जैसे बाँध टूट जानेपर पानीको कोई नहीं रोक सकता प्रकार आज जब कि सब कुछ बिगड़ चुका है, तब मैं क्या सकूँगा ॥ ४२-४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान् पाण्डवान् मधुसूदनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा क पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाबाहु श्रीमान् मधुसूदन कुरुनन्दन युधि आज्ञा लेकर द्वारकाकी ओर चले ॥ ४४ ॥

अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
राज्ञा मूर्ध्न्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ॥

महाबाहु श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम कि राजा युधिष्ठिर तथा भीमने बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले श्रीकृ सिर सूँघा ॥ ४५ ॥

परिष्वक्तश्चार्जुनेन यमाभ्यां चाभिवादितः ।
सम्मानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चार्चितोऽश्रुभिः ॥

अर्जुनने उनको हृदयसे लगाया और नकुल-स उनके चरणोंमें प्रणाम किया । पुरोहित धौम्य उनका सम्मान किया तथा द्रौपदीने अपने आँ उनकी अर्चना की ॥ ४६ ॥

सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम् ।
आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ॥ ४

पाण्डवोंसे सम्मानित श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिम अपने सुवर्णमय रथपर बैठाकर स्वयं भी उ आरूढ़ हुए ॥ ४७ ॥

शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ ४८ ॥

उस रथमें शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़े जुते हुए थे और वह सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था। युधिष्ठिरको आश्वासन देकर श्रीकृष्ण उसी रथके द्वारा द्वारकापुरीकी ओर चल दिये ॥ ४८ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णके चले जानेपर द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने भी द्रौपदी-कुमारोंको साथ ले अपनी राजधानीको प्रस्थान किया ॥ ४९ ॥

धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाथ चेदिराट् ।
जगाम पाण्डवान् दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥ ५० ॥

चेदिराज धृष्टकेतु भी अपनी बहिन करेणुमतीको, जो नकुलकी भार्या थी, साथ ले पाण्डवोंसे मिल-जुलकर अपनी सुरम्य राजधानी शुक्तिमतीपुरीको चले गये ॥ ५० ॥

केकयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनामितौजसा ।
आमन्त्र्य पाण्डवान् सर्वान् प्रययुस्तेऽपि भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! केकयराजकुमार भी अमित तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पा समस्त पाण्डवोंसे विदा लेकर अपने नगरको चले गये ॥ ५१ ॥

ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।
विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिरके राज्यमें रहनेवाले ब्राह्मण तथा वैश्य बारंबार विदा करनेपर भी पाण्डवोंको छोड़कर जाना नहीं चाहते थे ॥ ५२ ॥

समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।
आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ॥ ५३ ॥

भरतवंशभूषण महाराज जनमेजय ! उस समय काम्यक-वनमें उन महात्माओंका बड़ा अद्भुत सम्मेलन जुटा था ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।
शशास पुरुषान् काले रथान् योजयतेति वै ॥ ५४ ॥

तदनन्तर महामना युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंकी अनुमतिसे अपने सेवकोंको समयपर आज्ञा दी—'रथोंको जोतकर तैयार करो' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैतवनमें जानेके लिये उद्यत होना और प्रजावर्गकी व्याकुलता

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् दशार्हाधिपतौ प्रयाते
युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च
रथान् महार्हान् परमाश्वयुक्तान् ॥ १ ॥
आस्थाय वीराः सहिता वनाय
प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान् वसनानि गाश्च
प्रदाय शिक्षाक्षरमन्त्रविद्भ्यः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यादवकुलके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए बहुमूल्य रथोंपर बैठे। फिर भूतनाथ भगवान् शङ्करके समान सुशोभित होनेवाले वे सभी वीर एक साथ दूसरे वनमें जानेके लिये उद्यत हुए। वेद-वेदाङ्ग और मन्त्रके जाननेवाले ब्राह्मणोंको सोनेकी मुद्राएँ, वस्त्र तथा गौएँ प्रदान करके उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ॥ १-२ ॥

प्रेष्याः पुरो विंशतिरात्तशस्त्रा
धनूंषि शस्त्राणि शरांश्च दीप्तान् ।
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च
सर्वे समादाय जघन्यमीयुः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके साथ बीस सेवक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो धनुष, तेजस्वी बाण, शस्त्र, डोरी, यन्त्र और अनेक प्रकारके सायक लेकर पहले ही पश्चिम दिशामें स्थित द्वारकापुरीकी ओर चले गये थे ॥ ३ ॥

ततस्तु वासांसि च राजपुत्र्या
धात्र्यश्च दास्यश्च विभूषणं च ।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितः प्रगृह्य
जघन्यमेवोपययौ रथेन ॥ ४ ॥

तदनन्तर सारथि इन्द्रसेन राजकुमारी सुभद्राके वस्त्र, आभूषण, धायों तथा दासियोंको लेकर तुरंत ही रथके द्वारा द्वारकापुरीको चल दिया ॥ ४ ॥

ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः
प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ।
तं ब्राह्मणाश्चाभ्यवदन् प्रसन्ना
मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ५ ॥

इसके बाद उदार हृदयवाले पुरवासियोंने कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जा उनकी परिक्रमा की। कुरुजाङ्गलदेशके

ब्राह्मणों तथा सभी प्रमुख लोगोंने उनसे प्रसन्नतापूर्वक बातचीत की ॥ ५ ॥

स चापि तानभ्यवदत् प्रसन्नः
सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः ।
तस्थौ च तत्राधिपतिर्महात्मा
दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ६ ॥

अपने भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने भी प्रसन्न होकर उन सबसे वार्तालाप किया। कुरुजाङ्गलदेशके उस जन-समुदायको देखकर महात्मा राजा युधिष्ठिर थोड़ी देरके लिये वहाँ ठहर गये ॥ ६ ॥

पितेव पुत्रेषु स तेषु भावं
चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा ।
ते चापि तस्मिन् भरतप्रवर्हे
तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ॥ ७ ॥

जैसे पिताका अपने पुत्रोंपर वात्सल्यभाव होता है, उसी प्रकार कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिरने उन सबके प्रति अपने आन्तरिक स्नेहका परिचय दिया। वे भी उन भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरके प्रति वैसे ही अनुरक्त थे, जैसे पुत्र अपने पितापर ॥ ७ ॥

ततस्तमासाद्य महाजनौघाः
कुरुप्रवीरं परिवार्य तस्थुः ।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवाणा
भीताश्च सर्वेऽश्रुमुखाश्च राजन् ॥ ८ ॥
वरः कुरूणामधिपः प्रजानां
पितेव पुत्रानपहाय चास्मान् ।
पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान्
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ९ ॥

उस महान् जनसमुदाय (प्रजा) के लोग कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरके पास जा उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। राजन्! उस समय उन सबके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे वियोगके भयसे भीत हो हा नाथ! हा धर्म! इस प्रकार पुकारते हुए कह रहे थे—'कुरुवंशके श्रेष्ठ अधिपति, प्रजाजनोंपर पिताका-सा स्नेह रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर हम सब पुत्रों, पुरवासियों तथा समस्त देशवासियोंको छोड़कर अब कहाँ चले जा रहे हैं? ॥ ८–९ ॥

धिग् धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं
धिक् सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा
ये धर्मनित्यस्य सतस्तवैवम् ॥ १० ॥

'क्रूरबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धिक्कार है। सुबलपुत्र शकुनि तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले कर्णको भी [धिक्कार] है, जो पापी सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले आप[का इस] प्रकार अनर्थ करना चाहते हैं ॥ १० ॥

स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा
पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थममेयकर्मा
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ [११ ॥]

'जिन महात्माने स्वयं ही पुरुषार्थ करके महा[न्] नगर कैलासकी-सी सुषमावाले अनुपम इन्द्रप्रस्थ नगरको बसाया था, वे अचिन्त्यकर्मा धर्मराज [युधिष्ठिर] अपनी उस पुरीको छोड़कर अब कहाँ जा रहे हैं? ॥ [११ ॥]

चकार यामप्रतिमां महात्मा
सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ [१२ ॥]

'महामना मयदानवने देवताओंकी सभाके समान सु[शोभित] होनेवाली जिस अनुपम सभाका निर्माण किया था, देवता[ओं द्वारा] रक्षित देवमायाके समान उस सभाका परित्याग करके ध[र्मराज] युधिष्ठिर कहाँ चले जा रहे हैं?' ॥ १२ ॥

तान् धर्मकामार्थविदुत्तमौजा
बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।
आदास्यते वासमिमं निरुष्य
वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ॥ [१३ ॥]

धर्म, अर्थ और कामके ज्ञाता उत्तम पराक्रमी अ[र्जुनने] उन सब प्रजाजनोंको सम्बोधित करके उच्चस्वरसे कहा—[राजा] युधिष्ठिर इस वनवासकी अवधि पूर्ण करके शत्रुओंक[ा यश] छीन लेंगे ॥ १३ ॥

द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक् च
भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या
यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ॥ [१४ ॥]

'आपलोग एक साथ या अलग-अलग श्रेष्ठ ब्रा[ह्मणों], तपस्वियों तथा धर्म-अर्थके ज्ञाता महापुरुषोंको प्रसन्न [करके] उन सबसे यह प्रार्थना करें, जिससे हमलोगोंके [अभीष्ट] मनोरथकी उत्तम सिद्धि हो' ॥ १४ ॥

इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन
ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाभ्यनन्दन् सहिताश्च चक्रुः
प्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् ॥ [१५ ॥]

राजन्! अर्जुनके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणों तथा अन्[य] वर्णके लोगोंने एक स्वरसे प्रसन्नतापूर्वक उनकी [...]

अभिनन्दन किया तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरकी परिक्रमा की ॥ १५ ॥

आमन्त्र्य पार्थं च वृकोदरं च
धनंजयं याज्ञसेनीं यमौ च ।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा
युधिष्ठिरेणानुमता यथास्वम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर सब लोग कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवसे विदा ले एवं युधिष्ठिरकी अनुमति प्राप्त करके उदास होकर अपने राष्ट्रको प्रस्थित हुए ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैत वनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसंगरः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर प्रजाजनोंके चले जानेपर सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—॥ १ ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि वस्तव्यं निर्जने वने ।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥ २ ॥

'हमलोगोंको इन आगामी बारह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करना है, अतः इस महान् वनमें कोई ऐसा स्थान ढूँढ़ो, जहाँ बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हों ॥ २ ॥

बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम् ।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥ ३ ॥

'जहाँ फल-फूलोंकी अधिकता हो, जो देखनेमें रमणीय एवं कल्याणकारी हो तथा जहाँ बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों। वह स्थान इस योग्य होना चाहिये, जहाँ हम सब लोग इन बारह वर्षोंतक सुखपूर्वक रह सकें' ॥ ३ ॥

एवमुक्ते प्रत्युवाच धर्मराजं धनंजयः ।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ॥ ४ ॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन मनस्वी मानवगुरु युधिष्ठिरका गुरुतुल्य सम्मान करके उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्युपासिता ।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किंचन ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले—आर्य ! आप स्वयं ही बड़े-बड़े ऋषियों तथा वृद्ध पुरुषोंका सङ्ग करनेवाले हैं। इस मनुष्यलोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ५ ॥

त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ ।
द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपने सदा द्वैपायन आदि बहुत-से ब्राह्मणों तथा महातपस्वी नारदजीकी उपासना की है ॥ ६ ॥

यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं संचरते वशी ।
देवलोकाद् ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ॥ ७ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर सदा सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते रहते हैं। देवलोकसे लेकर ब्रह्मलोक तथा गन्धर्वों और अप्सराओंके लोकोंमें भी उनकी पहुँच है ॥

अनुभावांश्च जानासि ब्राह्मणानां न संशयः ।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ॥ ८ ॥

राजन् ! आप सभी ब्राह्मणोंके अनुभाव और प्रभावको जानते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

त्वमेव राजञ्जानासि श्रेयःकारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥ ९ ॥

राजन् ! आप ही श्रेय (मोक्ष) के कारणका ज्ञान रखते हैं। महाराज ! आपकी जहाँ इच्छा हो वहीं हम-लोग निवास करेंगे ॥ ९ ॥

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥ १० ॥

यह जो पवित्र जलसे भरा हुआ सरोवर है, इसका नाम द्वैतवन है। यहाँ फल और फूलोंकी बहुलता है। देखनेमें यह स्थान रमणीय तथा अनेक ब्राह्मणोंसे सेवित है ॥

अत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन् किमन्यन्मन्यते भवान् ॥ ११ ॥

मेरी इच्छा है कि वहीं हमलोग इन बारह वर्षोंतक निवास करें। राजन् ! यदि आपकी अनुमति हो तो द्वैतवनके समीप रहा जाय। अथवा आप दूसरे किस स्थानको उत्तम मानते हैं ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ममाप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत् समुदाहृतम् ।
गच्छामः पुण्यविख्यातं महद् द्वैतवनं सरः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पार्थ ! तुमने जैसा बताया है, वही मेरा भी मत है। हमलोग पवित्र जलके कारण प्रसिद्ध द्वैतवन नामक विशाल सरोवरके समीप चलें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे सभी धर्मात्मा पाण्डव बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र द्वैतवन नामक सरोवरको चले गये ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।
स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः ॥ १४ ॥
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ।
तपःसिद्धा महात्मानः शतशः संशितव्रताः ॥ १५ ॥

वहाँ बहुत-से अग्निहोत्री ब्राह्मणों, निरग्निकों, स्वाध्याय-परायण ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों, संन्यासियों, सैकड़ों कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपःसिद्ध महात्माओं तथा अन्य अनेक ब्राह्मणोंने महाराज युधिष्ठिरको घेर लिया ॥ १४-१५ ॥

ते यात्वा पाण्डवास्तत्र ब्राह्मणैर्बहुभिः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥ १६ ॥

वहाँ पहुँचकर भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र एवं रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

तमालतालाम्रमधूकनीप-
कदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं
महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १७ ॥

राष्ट्रपति युधिष्ठिरने देखा; वह महान् वन तमाल, ताल, आम, महुआ, नीप, कदम्ब, साल, अर्जुन और कनेर आदि वृक्षोंसे, जो ग्रीष्म ऋतु बीतनेपर फूल धारण करते हैं, सम्पन्न है ॥ १७ ॥

महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थु-
र्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसङ्घा-
स्तस्मिन् वने बर्हिणकोकिलाश्च ॥ १८ ॥

उस वनमें बड़े-बड़े वृक्षोंकी ऊँची शाखाओंपर मयूर, चातक, चकोर, बर्हिण तथा कोकिल आदि पक्षी मनको भानेवाली मीठी बोली बोलते हुए बैठे थे ॥ १८ ॥

करेणुयूथैः सह यूथपानां
मदोत्कटानामचलप्रभाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां
तस्मिन् वने राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १९ ॥

राष्ट्रपति युधिष्ठिरको उस वनमें पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले मदोन्मत्त गजराजोंके, जो एक-एक यूथके अ… थे, हथिनियोंके साथ विचरनेवाले कितने ही भारी-भा… दिखायी दिये ॥ १९ ॥

मनोरमां भोगवतीमुपेत्य
पूतात्मनां चीरजटाधराणाम् ।
तस्मिन् वने धर्मभृतां निवासे
ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ॥

मनोरम भोगवती (सरस्वती) नदीमें स्नान करके … अन्तःकरण पवित्र हो गये हैं, जो वल्कल और जटा धारण… हैं, ऐसे धर्मात्माओंके निवासभूत उस वनमें राजाने महर्षियोंके अनेक समुदाय देखे ॥ २० ॥

ततः स यानादवरुह्य राजा
सभ्रातृकः सजनः काननं तत् ।
विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठ-
स्त्रिविष्टपं शक्र इवामितौजाः ॥ …

तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ एवं अमित तेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सेवकों और भाइयोंसहित रथसे उत… स्वर्गमें इन्द्रके समान उस वनमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

तं सत्यसंधं सहसाभिपेतु-
र्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं
मनस्विनं तं परिवार्य तस्थुः ॥ …

उस समय उन सत्यप्रतिज्ञ मनस्वी राजसिंह युधिष्ठि… देखनेकी इच्छासे सहसा बहुत-से चारण, सिद्ध … वनवासी महर्षि आये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥ २…

स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान्
प्रत्यर्चितो राजवद् देववच्च ।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः
कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ २…

वहाँ आये हुए समस्त सिद्धोंको प्रणाम क… धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर उनके द्वारा भी रा… तथा देवताके समान पूजित हुए एवं दोनों हाथ जोड़… उन्होंने उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ वनके भी… पदार्पण किया ॥ २३ ॥

स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा
तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्चितः पुष्पधरस्य मूले
महाद्रुमस्योपविवेश राजा ॥ २४ ॥

उस वनमें रहनेवाले धर्मपरायण तपस्वियोंने उ… पुण्यशील महात्मा राजाके पास जाकर उनका पिताकी भाँ… सम्मान किया। तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर फूलोंसे लदे हु… एक महान् वृक्षके नीचे उसकी जड़के समीप बैठे ॥ २४ ॥

भीमश्च कृष्णा च धनंजयश्च
यमौ च ते चानुचरा नरेन्द्रम्।
विमुच्य वाहानवशाश्च सर्वे
तत्रोपतस्थुर्भरतप्रबर्हाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर पराधीन-दशामें पड़े हुए भीम, द्रौपदी, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा सेवकगण सवारी छोड़कर उतर गये। वे सभी भरतश्रेष्ठ वीर महाराज युधिष्ठिरके समीप जा बैठे ॥ २५ ॥

लतावतानावनतः स पाण्डवै-
र्महाद्रुमः पञ्चभिरेव धन्विभिः।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभि-
र्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ॥ २६ ॥

जैसे महान् पर्वत यूथपति गजराजोंसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार लतासमूहसे झुका हुआ वह महान् वृक्ष वहाँ निवासके लिये आये हुए पाँच धनुर्धर महात्मा पाण्डवोंद्वारा शोभा पाने लगा ॥ २६ ॥
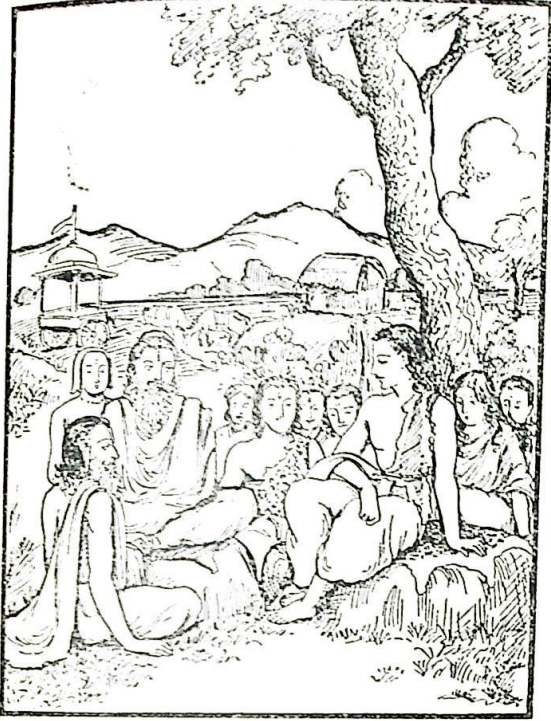
इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

महर्षि मार्कण्डेयका पाण्डवोंको धर्मका आदेश देकर उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तत् काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः
सुखोचिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु
सरस्वतीशालवनेषु तेषु ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सुख भोगनेके योग्य राजकुमार पाण्डव इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे वनवास-के संकटमें पड़कर द्वैतवनमें प्रवेश करके वहाँ सरस्वती-तटवर्ती सुखद शालवनोंमें विहार करने लगे ॥ १ ॥

यतींश्च राजा स मुनींश्च सर्वा-
स्तस्मिन् वने मूलफलैरुदग्रैः।
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां
संतर्पयामास महानुभावः ॥ २ ॥
इष्टीश्च पित्र्याणि तथा क्रियाश्च
महावने वसतां पाण्डवानाम्।
पुरोहितस्तत्र समृद्धतेजा-
श्चकार धौम्यः पितृवन्नृपाणाम् ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ महानुभाव राजा युधिष्ठिरने उस वनमें रहनेवाले सम्पूर्ण यतियों, मुनियों और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्तम फल-मूलोंके द्वारा तृप्त किया। अत्यन्त तेजस्वी पुरोहित धौम्य पिताकी भाँति उस महावनमें रहनेवाले राजकुमार पाण्डवोंके यज्ञ-याग, पितृ-श्राद्ध तथा अन्य सत्कर्म करते-कराते रहते थे २-३

अपेत्य राष्ट्राद् वसतां तु तेषा-
मृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा
मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

राज्यसे दूर होकर वनमें निवास करनेवाले श्रीमान् पाण्डवोंके उस आश्रमपर उद्दीप्त तेजस्वी पुरातन महर्षि मार्कण्डेयजी अतिथिके रूपमें आये ॥ ४ ॥

तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं
महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः।
अपूजयत् सुरऋषिमानवार्चितं
महामुनिं ह्यनुपमसत्त्ववीर्यवान् ॥ ५ ॥

उनकी अङ्ग-कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रही थी। देवताओं, ऋषियों तथा मनुष्योंद्वारा पूजित महामुनि मार्कण्डेयको आया देख अनुपम धैर्य और पराक्रमसे

सम्पन्न महामनस्वी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनकी यथावत् पूजा की ॥ ५ ॥

स सर्वविद् द्रौपदीं वीक्ष्य कृष्णां
युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च ।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा
तपस्विमध्येऽस्मयतामितौजाः ॥ ६ ॥

अमित तेजस्वी तथा सर्वज्ञ महात्मा मार्कण्डेयजी द्रुपदकुमारी कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन (और नकुल-सहदेव) को देखकर मन-ही-मन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके तपस्वियोंके बीचमें मुसकराने लगे ॥ ६ ॥

तं धर्मराजो विमना इवाब्रवीत्
सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी ।
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्ट-
स्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य ॥ ७ ॥

तब धर्मराज युधिष्ठिरने उदासीन-से होकर पूछा--'मुने ! ये सब तपस्वी तो मेरी अवस्था देखकर कुछ संकुचित-से हो रहे हैं, परंतु क्या कारण है कि आप इन सब महात्माओंके सामने मेरी ओर देखकर प्रसन्नतापूर्वक यों मुसकराते-से दिखायी देते हैं ?' ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

न तात हृष्यामि न च स्मयामि
प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः ।
तवापदं त्वद्य समीक्ष्य रामं
सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—तात ! न तो मैं हर्षित होता हूँ और न मुसकराता ही हूँ । हर्षजनित अभिमान कभी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता । आज तुम्हारी यह विपत्ति देखकर मुझे सत्यप्रतिज्ञ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण हो आया ॥ ८ ॥

स चापि राजा सह लक्ष्मणेन
वने निवासं पितुरेव शासनात् ।
धन्वी चरन् पार्थ मयैव दृष्टो
गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालकी बात है राजा रामचन्द्रजी भी अपने पिताकी आज्ञासे ही केवल धनुष हाथमें लिये लक्ष्मणके साथ वनमें निवास एवं भ्रमण करते थे । उस समय ऋष्यमूकपर्वतके शिखरपर मैंने ही उनका भी दर्शन किया था ॥

सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा
यमस्य नेता नमुचेश्च हन्ता ।
पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं
वासं वने दाशरथिश्चकार ॥ १० ॥

दशरथनन्दन श्रीराम सर्वथा निष्पाप थे । इन्द्र उनके दूसरे स्वरूप थे । वे यमराजके भी नियन्ता और नमुचि-जैसे दानवोंके नाशक थे, तो भी उन महात्माने पिताकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर वनमें निवास किया ॥ १० ॥

स चापि शक्रस्य समप्रभावो
महानुभावः समरेष्वजेयः ।
विहाय भोगानचरद् वनेषु
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ ११ ॥

जो इन्द्रके समान प्रभावशाली थे, जिनका अनुभाव महान् था तथा जो युद्धमें सर्वदा अजेय थे, उन्होंने भी सम्पूर्ण भोगोंका परित्याग करके वनमें निवास किया था । इसलिये अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

भूपाश्च नाभागभगीरथादयो
महीमिमां सागरान्तां विजित्य ।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १२ ॥

नाभाग और भगीरथ आदि राजाओंने भी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको जीतकर सत्यके द्वारा उत्तम लोकोंपर विजय पायी । इसलिये तात ! अपनेको बलका स्वामी मानकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

अलर्कमाहुर्नरवर्य सन्तं
सत्यव्रतं काशिकरूषराजम् ।
विहाय राज्यानि वसूनि चैव
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! काशी और करूषदेशके राजा अलर्कको सत्यप्रतिज्ञ संत बताया गया है । उन्होंने राज्य और धन त्यागकर धर्मका आश्रय लिया है । अतः अपनेको अधिक शक्तिशाली समझकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणै-
स्तं पूजयन्तो नरवर्य सन्तः ।
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १४ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार ! विधाताने पुरातन वेद-वाक्योंद्वारा जो अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विधान किया है, उसका समादर करनेके कारण ही साधु सप्तर्षिगण देवलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं । अतः अपनेको शक्तिशाली मानकर कभी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

महाबलान् पर्वतकूटमात्रान्
विषाणिनः पश्य गजान् नरेन्द्र ।
स्थितान् निदेशे नरवर्य धातु-
र्नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! पर्वतशिखरके समान ऊँचे और बड़े-बड़े दाँतोंवाले इन महाबली गजराजोंकी ओर तो देखो । ये भी विधाताके आदेशका पालन करनेमें लगे हैं। इसलिये मैं शक्तिका स्वामी हूँ ऐसा समझकर कभी अधर्माचरण न करे ॥ १५ ॥

सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य
तथा यथावद् विहितं विधात्रा ।
स्वयोनितः कर्म सदा चरन्ति
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १६ ॥

नरेन्द्र ! देखो, ये समस्त प्राणी विधाताके विधानके अनुसार अपनी योनिके अनुरूप सदा कार्य करते रहते हैं, अतः अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म न करे ॥१६॥

सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या
ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।
यशश्च तेजश्च तवापि दीप्तं
विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम अपने सत्य, धर्म, यथायोग्य बर्ताव तथा लज्जा आदि सद्गुणोंके कारण समस्त प्राणियोंसे ऊँचे उठे हुए हो । तुम्हारा यश और तेज अग्नि तथा सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १७ ॥

यथाप्रतिज्ञं च महानुभाव
कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्ता-
मादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ॥ १८ ॥

महानुभाव नरेश ! तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार इस कष्टसाध्य वनवासकी अवधि पूरी करके कौरवोंके हाथसे अपनी तेजस्विनी राजलक्ष्मीको प्राप्त कर लोगे ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षि-
स्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्थां-
स्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरां सः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तपस्वी महात्माओंके बीचमें अपने सुहृदोंके साथ बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे पूर्वोक्त बातें कहकर महर्षि मार्कण्डेय धौम्य एवं समस्त पाण्डवोंसे विदा ले उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

दल्भपुत्र बकका युधिष्ठिरको ब्राह्मणोंका महत्त्व बतलाना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्वैतवनमें जब महात्मा पाण्डव निवास करने लगे, उस समय वह विशाल वन ब्राह्मणोंसे भर गया ॥ १ ॥

ईर्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ॥ २ ॥

सरोवरसहित द्वैतवन सदा और सब ओर उच्चारित होनेवाले वेदमन्त्रोंके घोषसे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था ॥

यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः ।
आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयङ्गमः ॥ ३ ॥

यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद तथा गद्य-भागके उच्चारणसे जो ध्वनि होती थी, वह हृदयको प्रिय जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥ ४ ॥

कुन्तीपुत्रोंके धनुषकी प्रत्यञ्चाका टंकार-शब्द और बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोंका घोष दोनों मिलकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वका सुन्दर संयोग हो रहा था ॥ ४ ॥

अथाब्रवीद् बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
संध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥ ५ ॥

एक दिन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिर ऋषियोंसे घिरे हुए संध्योपासना कर रहे थे । उस समय दल्भके पुत्र बक नामक महर्षिने उनसे कहा—॥ ५ ॥

पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ सम्प्रज्वलितपावकाम् ॥ ६ ॥

'कुरुश्रेष्ठ कुन्तीकुमार ! देखो, द्वैतवनमें तपस्वी ब्राह्मणोंकी होमवेलाका कैसा सुन्दर दृश्य है । सब ओर वेदियोंपर अग्नि प्रज्वलित हो रही है ॥ ६ ॥

चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वासिष्ठाः काश्यपैः सह ॥ ७ ॥

आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः ।
सर्वस्य जगतः श्रेष्ठा ब्राह्मणाः संगतास्त्वया ॥ ८ ॥

'आपके द्वारा सुरक्षित हो व्रत धारण करनेवाले ब्राह्मण इस पुण्य वनमें धर्मका अनुष्ठान कर रहे हैं। भार्गव, आङ्गिरस, वासिष्ठ, काश्यप, महान् सौभाग्यशाली अगस्त्य वंशी तथा श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले आत्रेय आदि सम्पूर्ण जगत्के श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ आकर तुमसे मिले हैं ॥ ७-८ ॥

इदं तु वचनं पार्थ शृणुष्व गदतो मम ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत् त्वा वक्ष्यामि कौरव ॥ ९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! भाइयोंसहित तुमसे मैं जो एक बात कह रहा हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो ॥ ९ ॥

ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥ १० ॥

'जब ब्राह्मण क्षत्रियसे और क्षत्रिय ब्राह्मणसे मिल जाय तो दोनों प्रचण्ड शक्तिशाली होकर उसी प्रकार अपने शत्रुओंको भस्म कर देते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर सारे वनको जला देते हैं ॥ १० ॥

नाब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषे-
दिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं
लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥ ११ ॥

'तात ! इहलोक और परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाला राजा किसी ब्राह्मणको साथ लिये विना अधिक कालतक न रहे। जिसे धर्म और अर्थकी शिक्षा मिली हो तथा जिसका मोह दूर हो गया हो, ऐसे ब्राह्मणको पाकर राजा अपने शत्रुओंका नाश कर देता है ॥ ११ ॥

चरन् नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाध्यगच्छद् वलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ॥ १२ ॥

'राजा वलिको प्रजापालनजनित कल्याणकारी धर्मका आचरण करनेके लिये ब्राह्मणका आश्रय लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं जान पड़ा था ॥ १२ ॥

अनूनमासीदसुरस्य कामै-
र्वैरोचनेः श्रीरपि चाक्षयाऽऽसीत् ।
लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसम्प्रयोगात्
तेष्वाचरन् दुष्टमथो व्यनश्यत् ॥ १३ ॥

'ब्राह्मणके सहयोगसे पृथ्वीका राज्य पाकर विरोचन-पुत्र वलि नामक असुरका जीवन सम्पूर्ण आवश्यक कामोपभोगकी सामग्रीसे सम्पन्न हो गया और अक्षय राज्यलक्ष्मी भी प्राप्त हो गयी। परंतु वह उन ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर नष्ट हो गया—उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग हो गया * ॥ १३ ॥

नाब्राह्मणं भूमिरियं सभूति-
र्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय ।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै
यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतम् ॥ १४ ॥

'जिसे ब्राह्मणका सहयोग नहीं प्राप्त है, ऐसे क्षत्रियके पास यह ऐश्वर्यपूर्ण भूमि दीर्घ कालतक नहीं रहती। किंतु नीतिज्ञ राजाको श्रेष्ठ ब्राह्मणका उपदेश प्राप्त है, उसके सामने समुद्रपर्यन्त पृथिवी नतमस्तक होती है ॥ १४ ॥

कुञ्जरस्येव संग्रामे परिगृह्याङ्कुशग्रहम् ।
ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १५ ॥

'जैसे संग्राममें हाथीसे महावतको अलग कर देनेसे उसकी सारी शक्ति व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मणरहित क्षत्रियका सारा बल क्षीण हो जाता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥ १६ ॥

'ब्राह्मणोंके पास अनुपम दृष्टि (विचारशक्ति) होती है और क्षत्रियके पास अनुपम बल होता है। ये दोनों जब साथ-साथ कार्य करते हैं, तब सारा जगत् सुखी होता है ॥ १६ ॥

यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ॥ १७ ॥

'जैसे प्रचण्ड अग्नि वायुका सहारा पाकर सूखे जंगलको जला डालती है, उसी प्रकार ब्राह्मणकी सहायतासे राजा अपने शत्रुको भस्म कर देता है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत् ।
अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य परिवृद्धये ॥ १८ ॥

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये ब्राह्मणोंसे बुद्धि ग्रहण करे ॥ १८ ॥

अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये
यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय ।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं
बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय ॥ १९ ॥

'राजन् ! अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये यथायोग्य उपाय बतानेके निमित्त तुम अपने यहाँ यशस्वी, बहुश्रुत एवं वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मणको बसाओ ॥ १९ ॥

ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥ २० ॥

'युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारे हृदयमें सदा उत्तम भाव है, इसीलिये सब लोकोंमें तुम्हारा यश विख्यात एवं प्रकाशित है' ॥ २० ॥

---

* बलिके द्वारा ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग होनेका प्रसङ्ग शान्तिपर्वके २२५ वें अध्यायमें आता है।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकं दाल्भ्यमपूजयन् ।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर युधिष्ठिरकी बड़ाई करनेपर उन सब ब्राह्मणोंने बकका आदर-सत्कार किया और उन सब ब्राह्मणोंका चित्त प्रसन्न हो गया ॥ २१ ॥

द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः ।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ॥ २२ ॥
कर्णश्रवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः ।
हारीतः स्थूणकर्णश्च अग्निवेश्योऽथ शौनकः ॥ २३ ॥
कृतवाक् च सुवाक् चैव बृहदश्वो विभावसुः ।
ऊर्ध्वरेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ॥ २४ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरंदरमिवर्षयः ॥ २५ ॥

द्वैपायन व्यास, नारद, परशुराम, पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि, कृतचेता, सहस्रपात्, कर्णश्रवा, मुञ्ज, लवणाश्व, काश्यप, हारीत, स्थूणकर्ण, अग्निवेश्य, शौनक, कृतवाक्, सुवाक्, बृहदश्व, विभावसु, ऊर्ध्वरेता, वृषामित्र, सुहोत्र, तथा होत्रवाहन—ये सब ब्रह्मर्षि तथा राजर्षिगण और दूसरे कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण अजातशत्रु युधिष्ठिरका उसी प्रकार आदर करते थे, जैसे महर्षि लोग देवराज इन्द्रका ॥ २२—२५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वमें अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरसे उनके शत्रुविषयक क्रोधको उभाड़नेके लिये संतापपूर्ण वचन

वैशम्पायन उवाच

ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वनमें गये हुए पाण्डव एक दिन सायंकालमें द्रौपदीके साथ बैठकर दुःख और शोकमें मग्न हो कुछ बातचीत करने लगे ॥ १ ॥

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पतिव्रता द्रौपदी पाण्डवोंकी प्रिया, दर्शनीया और विदुषी थी । उसने धर्मराजसे इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

द्रौपद्युवाच

न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।
विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥ ३ ॥

द्रौपदी बोली—राजन् ! मैं समझती हूँ, उस क्रूर स्वभाववाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र पापी दुर्योधनके मनमें हमलोगोंके लिये तनिक भी दुःख नहीं हुआ होगा ॥ ३ ॥

यस्त्वां राजन् मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नान्वतप्यत दुर्मतिः ॥ ४ ॥

महाराज ! उस नीच बुद्धिवाले दुष्टात्माने आपको भी मृगछाला पहनाकर मेरे साथ वनमें भेज दिया; किंतु इसके लिये उसे थोड़ा भी पश्चात्ताप नहीं हुआ ॥ ४ ॥

आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत् तदा ॥ ५ ॥

अवश्य ही उस कुकर्मीका हृदय लोहेका बना है, क्योंकि उसने आप-जैसे धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुषको भी उस समय कटु वचन सुनाये थे ॥ ५ ॥

सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥ ६ ॥

आप सुख भोगनेके योग्य हैं । दुःखके योग्य कदापि नहीं हैं, तो भी आपको ऐसे दुःखमें डालकर वह पापाचारी दुरात्मा अपने मित्रोंके साथ आनन्दित हो रहा है ॥ ६ ॥

चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ॥ ७ ॥

भारत ! जब आप वल्कल-वस्त्र धारण करके वनमें जानेके लिये निकले, उस समय केवल चार ही पापात्माओंके नेत्रोंसे आँसू नहीं गिरा था ॥ ७ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन् दुःशासनस्य च ॥ ८ ॥

दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा उग्र स्वभाववाले दुष्ट भ्राता दुःशासन—इन्हींकी आँखोंमें आँसू नहीं थे ॥ ८ ॥

इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम ।
दुःखेनाभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अन्य सभी कुरुवंशी दुःखमें डूबे हुए थे और उनके नेत्रोंसे अश्रुवर्षा हो रही थी ॥ ९ ॥

इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चासीत् ते पुरातनम् ।
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम् ॥ १० ॥

महाराज ! आज आपकी यह शय्या देखकर मुझे पहलेकी राजोचित शय्याका स्मरण हो आता है और मैं आपके लिये शोकमें मग्न हो जाती हूँ; क्योंकि आप दुःखके अयोग्य और सुखके ही योग्य हैं ॥ १० ॥

दान्तं यच्च सभामध्य आसनं रत्नभूषितम् ।
दृष्ट्वा कुशवृषीं चेमां शोको मां प्रदहत्ययम् ॥ ११ ॥

सभाभवनमें जो रत्नजटित हाथीदाँतका सिंहासन है, उसका स्मरण करके जब मैं इस कुशकी चटाईको देखती हूँ; तब शोक मुझे दग्ध किये देता है ॥ ११ ॥

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १२ ॥

राजन् ! मैं इन्द्रप्रस्थकी सभामें आपको राजाओंसे घिरा हुआ देख चुकी हूँ, अतः आज वैसी अवस्थामें आपको न देखकर मेरे हृदयको क्या शान्ति मिल सकती है ? ॥ १२ ॥

या त्वाहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम् ।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ॥ १३ ॥

भारत ! जो पहले आपको चन्दनचर्चित एवं सूर्यके समान तेजस्वी देखती रही हूँ, वही मैं आपको कीचड़ एवं मैलसे मलिन देखकर मोहके कारण दुःखित हो रही हूँ ॥ १३ ॥

या त्वाहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्यामि चीरिणम् ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! जो मैं पहले आपको उज्ज्वल रेशमी वस्त्रोंसे आच्छादित देख चुकी हूँ, वही आज वल्कल-वस्त्र पहिने देखती हूँ ॥ १४ ॥

यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ॥ १५ ॥

एक दिन वह था कि आपके घरसे सहस्रों ब्राह्मणोंके लिये सोनेकी थालियोंमें सब प्रकारकी रुचिके अनुकूल तैयार किया हुआ सुन्दर भोजन परोसा जाता था ॥ १५ ॥

यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीवगुणवत् प्रभो ॥ १६ ॥

शक्तिशाली महाराज ! उन दिनों प्रतिदिन यतियों, ब्रह्मचारियों और गृहस्थ ब्राह्मणोंको भी अत्यन्त गुणकारी भोजन अर्पित किया जाता था ॥ १६ ॥

सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे ।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान् ॥ १७ ॥

पहले आपके राजभवनमें सहस्रों (सुवर्णमय) पात्र थे, जो सम्पूर्ण इच्छानुकूल भोज्य पदार्थोंसे भरे-पूरे रहते थे और उनके द्वारा आप समस्त अभीष्ट मनोरथोंकी पू[र्ति करते] हुए प्रतिदिन ब्राह्मणोंका सत्कार करते थे ॥ १७ ॥

तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ।
यत् ते भ्रातॄन् महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः ॥
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ।
सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ॥

राजन् ! आज वह सब न देखनेके कारण मेरे हृ[दयको] क्या शान्ति मिलेगी ? महाराज ! आपके जिन भा[इयोंको] कानोंमें सुन्दर कुण्डल पहने हुए तरुण रसोइये [उत्तम] प्रकारसे बनाये हुए स्वादिष्ट अन्न परोसकर भोजन [कराया] करते थे, उन सबको आज वनमें जंगली फल[-मूलसे] जीवन-निर्वाह करते देख रही हूँ ॥ १८-१९ ॥

अदुःखार्हान् मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः ।
भीमसेनमिमं चापि दुःखितं वनवासिनम् ॥
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते ।
भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम् ॥
सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

नरेन्द्र ! आपके भाई दुःख भोगनेके योग्य न[हीं हैं,] आज इन्हें दुःखमें देखकर मेरा चित्त किसी प्रकार [शान्त] नहीं हो पाता है । महाराज ! वनमें रहकर दुःख भोगते [हुए] इन अपने भाई भीमसेनका स्मरण करके समय आनेपर [भी] शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं बढ़ेगा ? मैं पूछती [हूँ,] युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले और सुख भोगनेके [योग्य] भीमसेनको स्वयं अपने हाथोंसे सब काम करते और दु[ःख] उठाते देखकर शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं भ[ड़क] उठता ? ॥ २०-२१½ ॥

सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

विविध सवारियाँ और नाना प्रकारके वस्त्रोंसे जि[नका] सत्कार होता था, उन्हीं भीमसेनको वनमें कष्ट उठाते [देखकर] शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध प्रज्वलित क्यों नहीं होता ? ॥ २२ ॥

अयं कुरून् रणे सर्वान् हन्तुमुत्सहते प्रभुः ॥
त्वत्प्रतिज्ञां प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः ।

ये शक्तिशाली भीमसेन युद्धमें समस्त कौरवोंको नष्ट [कर] देनेका उत्साह रखते हैं, परंतु आपकी प्रतिज्ञा-पू[र्तिकी] प्रतीक्षा करनेके करण अबतक शत्रुओंके अपरा[धको] सहन करते हैं ॥ २३½ ॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ॥
शरावमर्दे शीघ्रत्वात् कालान्तकयमोपमः ।
यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः ॥
यज्ञे तव महाराज ब्राह्मणानुपतस्थिरे ।

तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः ॥ २६ ॥
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद् राजन् न कुप्यसि।

राजन्! आपके जो भाई अर्जुन दो ही भुजाओंसे युक्त होनेपर भी सहस्र भुजाओंसे विभूषित कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, बाण चलानेमें अत्यन्त फुर्ती रखनेके कारण जो शत्रुओंके लिये काल, अन्तक और यमके समान भयंकर हैं; महाराज! जिनके शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूपाल नतमस्तक हो आपके यज्ञमें ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये उपस्थित हुए थे, उन्हीं इन देव-दानवपूजित पुरुषसिंह अर्जुनको चिन्तामग्न देखकर आप शत्रुओंपर क्रोध क्यों नहीं करते? ॥ २४–२६½ ॥

दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम् ॥ २७ ॥
न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत ।

भारत! दुःखके अयोग्य और सुख भोगनेके योग्य अर्जुनको वनमें दुःख भोगते देखकर भी जो शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं उमड़ता, इससे मैं मोहित हो रही हूँ ॥ २७½ ॥

यो देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत् ॥ २८ ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे देवताओं, मनुष्यों और नागोंपर विजय पायी है, उन्हीं अर्जुनको वनवासका दुःख भोगते देख आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता? ॥ २८½ ॥

यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः ॥ २९ ॥
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परंतप ।
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्चबाणशतानि यः ॥ ३० ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

परंतप! जिन्होंने पराजित नरेशोंके दिये हुए अद्भुत आकारवाले रथों, घोड़ों और हाथियोंसे घिरे हुए कितने ही राजाओंसे बलपूर्वक धन लिये थे, जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाणोंका प्रहार करते हैं, उन्हीं अर्जुनको वनवासका कष्ट भोगते देख शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता? ॥ २९–३०½ ॥

श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ॥ ३१ ॥
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

जो युद्धमें ढाल और तलवारसे लड़नेवाले वीरोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनकी कद ऊँची है तथा जो श्यामवर्णके तरुण हैं, उन्हीं नकुलको आज वनमें कष्ट उठाते देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं होता? ॥ ३१½ ॥

दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ॥ ३२ ॥
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ।

महाराज युधिष्ठिर! माद्रीके परम सुन्दर पुत्र शूरवीर सहदेवको वनवासका दुःख भोगते देखकर आप शत्रुओंको क्षमा कैसे कर रहे हैं? ॥ ३२½ ॥

नकुलं सहदेवं च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ॥ ३३ ॥
अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

नरेन्द्र! नकुल और सहदेव दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं। इन दोनोंको आज दुखी देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ रहा है? ॥ ३३½ ॥

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ॥ ३४ ॥
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ॥ ३५ ॥

मैं द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन तथा वीरशिरोमणि पाण्डवोंकी पतिव्रता पत्नी हूँ। महाराज! मुझे इस प्रकार वनमें कष्ट उठाती देखकर भी आप शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव कैसे धारण करते हैं? ॥ ३४-३५ ॥

नूनं च तव वै नास्ति मन्युर्भरतसत्तम ।
यत् ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ! निश्चय ही आपके हृदयमें क्रोध नहीं है, क्योंकि मुझे और अपने भाइयोंको भी कष्टमें पड़ा देख आपके मनमें व्यथा नहीं होती है! ॥ ३६ ॥

न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम्।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ ३७ ॥

संसारमें कोई भी क्षत्रिय क्रोधरहित नहीं होता, क्षत्रिय शब्दकी व्युत्पत्ति ही ऐसी है, जिससे उसका सक्रोध होना सूचित होता है। * परंतु आज आप-जैसे क्षत्रियमें मुझे यह क्रोधका अभाव क्षत्रियत्वके विपरीत-सा दिखायी देता है ॥ ३७ ॥

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ॥ ३८ ॥

कुन्तीनन्दन! जो क्षत्रिय समय आनेपर अपने प्रभावको नहीं दिखाता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं ३८

तत् त्वया न क्षमा कार्या शत्रून् प्रति कथंचन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नात्र संशयः ॥ ३९ ॥

महाराज! आपको शत्रुओंके प्रति किसी प्रकार भी क्षमाभाव नहीं धारण करना चाहिये। तेजसे ही उन सबका वध किया जा सकता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ३९ ॥

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति ।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ॥ ४० ॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमा करनेके योग्य समय आनेपर शान्त नहीं होता, वह सब प्राणियोंके लिये अप्रिय हो जाता है और इस लोक तथा परलोकमें भी उसका विनाश ही होता है ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीपरितापवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीके अनुतापपूर्ण वचनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

---

* क्षरते इति क्षत्रम्—जो दुष्टोंका क्षरण—नाश करता है, वह क्षत्रिय है।

अष्टाविंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा प्रह्लाद-बलि-संवादका वर्णन—तेज और क्षमाके अवसर

द्रौपद्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ १ ॥

द्रौपदी कहती है—महाराज ! इस विषयमें प्रह्लाद तथा विरोचनपुत्र बलिके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥ २ ॥

असुरोंके स्वामी परम बुद्धिमान् दैत्यराज प्रह्लाद सभी धर्मोंके रहस्यको जाननेवाले थे। एक समय बलिने उन अपने पितामह प्रह्लादजीसे पूछा ॥ २ ॥

बलिरुवाच

क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद् ब्रूहि पृच्छते ॥ ३ ॥

बलिने पूछा—तात ! क्षमा और तेजमेंसे क्षमा श्रेष्ठ है अथवा तेज ? यह मेरा संशय है। मैं इसका समाधान पूछता हूँ। आप इस प्रश्नका यथार्थ निर्णय कीजिये ॥ ३ ॥

श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

धर्मज्ञ ! इनमें जो श्रेष्ठ है, वह मुझे अवश्य बताइये, मैं आपके सब आदेशोंका यथावत् पालन करूँगा ॥ ४ ॥

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वमेवं पृष्टः पितामहः ।
सर्वनिश्चयवित् प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ॥ ५ ॥

बलिके इस प्रकार पूछनेपर समस्त सिद्धान्तोंके ज्ञाता विद्वान् पितामह प्रह्लादने संदेह निवारण करनेके लिये पूछनेवाले पौत्रके प्रति इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

प्रह्लाद उवाच

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ॥ ६ ॥

प्रह्लाद बोले—तात ! न तो तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही। इन दोनोंके विषयमें मेरा ऐसा ही निश्चय जानो, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति ।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः ॥ ७ ॥
सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता ॥ ८ ॥

वत्स ! जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं। उसके भृत्य, शत्रु तथा उदासीन व्यक्ति भी उसका तिरस्कार करते हैं। कोई भी प्राणी कभी उसके सामने विनयपूर्ण बर्ताव नहीं करते, अतः तात ! सदा क्षमा करना विद्वानोंके लिये भी वर्जित है ॥ ७-८ ॥

अवज्ञाय हि तं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुं चास्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः ॥ ९ ॥

सेवकगण उसकी अवहेलना करके बहुत-से अपराध करते रहते हैं। इतना ही नहीं, वे मूर्ख भृत्यगण उसके धनको भी हड़प लेनेका हौसला रखते हैं ॥ ९ ॥

यानं वस्त्राण्यलंकाराञ्छयनान्यासनानि च ।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ॥ १० ॥
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।
प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ॥ ११ ॥

विभिन्न कार्योंमें नियुक्त किये हुए मूर्ख सेवक अपनी इच्छानुसार क्षमाशील स्वामीके रथ, वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, आसन, भोजन, पान तथा समस्त सामग्रियोंका उपयोग करते रहते हैं तथा स्वामीकी आज्ञा होनेपर भी किसीको देनेयोग्य वस्तुएँ नहीं देते हैं ॥ १०-११ ॥

न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कथंचन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम् ॥ १२ ॥

स्वामीका जितना आदर होना चाहिये, उतना आदर वे किसी प्रकार भी नहीं करते। इस संसारमें सेवकोंद्वारा अपमान तो मृत्युसे भी अधिक निन्दित है ॥ १२ ॥

क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥ १३ ॥

तात ! उपर्युक्त क्षमाशीलको अपने सेवक, पुत्र, भृत्य तथा उदासीनवृत्तिके लोग कटुवचन भी सुनाया करते हैं ॥ १३ ॥

अथास्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चास्य प्रवर्तन्ते यथाकाममचेतसः ॥ १४ ॥

इतना ही नहीं, वे क्षमाशील स्वामीकी अवहेलना करके उसकी स्त्रियोंको भी हस्तगत करना चाहते हैं और उस पुरुषकी मूर्ख स्त्रियाँ भी स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ १४ ॥

तथा च नित्यमुदिता यदि नाल्पमपीश्वरात् ।
दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाप्यपकुर्वते ॥ १५ ॥

यदि उन्हें अपने स्वामीसे तनिक भी दण्ड नहीं मिलता तो वे सदा मौज उड़ाती हैं और आचारसे दूषित हो जाती

हैं। दुष्ट होनेपर वे अपने स्वामीका अपकार भी कर बैठती हैं ॥ १५ ॥

एते चान्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम्।
अथ वैरोचने दोषानिमान् विद्ध्यक्षमावताम् ॥ १६ ॥

सदा क्षमा करनेवाले पुरुषोंको ये तथा और भी बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं। विरोचनकुमार! अब क्षमा न करनेवालोंके दोषोंको सुनो ॥ १६ ॥

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसाऽऽवृतः।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन तेजसा ॥ १७ ॥

क्रोधी मनुष्य रजोगुणसे आवृत होकर योग्य या अयोग्य अवसरका विचार किये बिना ही अपने उत्तेजित स्वभावसे लोगोंको नाना प्रकारके दण्ड देता रहता है ॥ १७ ॥

मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसाऽऽवृतः।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात् स्वजनतस्तथा ॥ १८ ॥

तेज (उत्तेजना) से व्याप्त मनुष्य मित्रोंसे विरोध पैदा कर लेता है तथा साधारण लोगों और स्वजनोंका द्वेषपात्र बन जाता है ॥ १८ ॥

सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम्।
संतापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ॥ १९ ॥

वह मनुष्य दूसरोंका अपमान करनेके कारण सदा धन-की हानि उठाता है। उपालम्भ सुनता और अनादर पाता है। इतना ही नहीं, वह संताप, द्वेष, मोह तथा नये-नये शत्रु पैदा कर लेता है ॥ १९ ॥

क्रोधाद् दण्डान्मनुष्येषु विविधान् पुरुषोऽनयात्।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात् प्राणेभ्यः स्वजनादपि ॥ २० ॥

मनुष्य क्रोधवश अन्यायपूर्वक दूसरे लोगोंपर नाना प्रकारके दण्डका प्रयोग करके अपने ऐश्वर्य, प्राण और स्वजनोंसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २० ॥

योपकर्तॄंश्च हर्तॄंश्च तेजसैवोपगच्छति।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ २१ ॥

जो उपकारी मनुष्यों और चोरोंके साथ भी उत्तेजनायुक्त बर्ताव ही करता है, उससे सब लोग उसी प्रकार उद्विग्न होते हैं, जैसे घरमें रहनेवाले सर्पसे ॥ २१ ॥

यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत्।
अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

जिससे सब लोग उद्विग्न होते हैं, उसे ऐश्वर्यकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उसका थोड़ा-सा भी छिद्र देखकर लोग निश्चय ही उसकी बुराई करने लगते हैं ॥ २२ ॥

तस्मान्नात्युत्सृजेत् तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत्।
काले काले तु सम्प्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत् ॥ २३ ॥

इसलिये न तो सदा उत्तेजनाका ही प्रयोग करे और न सर्वदा कोमल ही बना रहे। समय-समयपर आवश्यकताके अनुसार कभी कोमल और कभी तेजस्वभाववाला बन जाय ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ॥ २४ ॥

जो मौका देखकर कोमल होता है और उपयुक्त अवसर आनेपर भयंकर भी बन जाता है, वही इहलोक और पर-लोकमें सुख पाता है ॥ २४ ॥

क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान्।
ये ते नित्यमसंत्याज्या यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ २५ ॥

अब मैं तुम्हें क्षमाके योग्य अवसर बताता हूँ, उन्हें विस्तारपूर्वक सुनो, जैसा कि मनीषी पुरुष कहते हैं, उन अवसरोंका तुम्हें कभी त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ २६ ॥

जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध हो जाय, तो भी पहलेके उपकारका स्मरण करके उस अपराधीके अपराधको तुम्हें क्षमा कर देना चाहिये ॥ २६ ॥

अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम्।
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥ २७ ॥

जिन्होंने अनजानमें अपराध कर डाला हो, उनका वह अपराध क्षमाके ही योग्य है; क्योंकि किसी भी पुरुषके लिये सर्वत्र विद्वत्ता (बुद्धिमानी) ही सुलभ हो, यह सम्भव नहीं है ॥

अथ चेद् बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम्।
पापान् स्वल्पेऽपि तान् हन्यादपराधे तथानृजून् ॥ २८ ॥

परंतु जो जान-बूझकर किये हुए अपराधको भी उसे कर लेनेके बाद अनजानमें किया हुआ बताते हों, उन उद्दण्ड पापियोंको थोड़े-से अपराधके लिये भी अवश्य दण्ड देना चाहिये ॥ २८ ॥

सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत्।
द्वितीये सति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् ॥ २९ ॥

सभी प्राणियोंका एक अपराध तो तुम्हें क्षमा ही कर देना चाहिये। यदि उससे फिर दुबारा अपराध बन जाय तो थोड़े-से अपराधके लिये भी उसे दण्ड देना आवश्यक है ॥

अजानता भवेत् कश्चिदपराधः कृतो यदि।
क्षन्तव्यमेव तस्याहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥ ३० ॥

अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करनेपर यदि यह सिद्ध हो जाय कि अमुक अपराध अनजानमें ही हो गया है, तो उसे क्षमाके ही योग्य बताया गया है ॥ ३० ॥

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु॥ ३१ ॥

मनुष्य कोमलभाव (सामनीति) के द्वारा उग्र स्वभाव तथा शान्त स्वभावके शत्रुका भी नाश कर देता है; मृदुतासे कुछ भी असाध्य नहीं है । अतः मृदुतापूर्ण नीतिको तीव्रतर (उत्तम) समझे ॥ ३१ ॥

देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः ।
नादेशकाले किंचित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्षताम्।
तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ ३२ ॥

देश, काल तथा अपने बलाबलका विचार करके ही मृदुता (सामनीति) का प्रयोग करना चाहिये । अयोग्य देश अथवा अनुपयुक्त कालमें उसके प्रयोगसे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता; अतः उपयुक्त देश-कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये । कहीं लोकके भयसे भी अपराधीको क्षमादान देनेकी आवश्यकता होती है ॥ ३२ ॥

एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः ।
अतोऽन्यथानुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ये क्षमाके अवसर बताये गये हैं। विपरीत बर्ताव करनेवालोंको राहपर लानेके लिये (उत्तेजनापूर्ण बर्ताव)का अवसर कहा गया है ॥ ३३ ॥

तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप।
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चापकारिषु ॥ ३४ ॥

(द्रौपदी कहती है—) नरेश्वर ! धृतराष्ट्रके पुत्र लोभी तथा सदा आपका अपकार करनेवाले हैं; अतः उनके प्रति आपके तेजके प्रयोगका यह अवसर आया है, ऐसा मेरा मत है ॥ ३४ ॥

न हि कश्चित् क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून् प्रति।
तेजसश्चागते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ३५ ॥

कौरवोंके प्रति अब क्षमाका कोई अवसर नहीं है। तेज प्रकट करनेका अवसर प्राप्त है; अतः उनपर आप अपने तेजका ही प्रयोग करना चाहिये ॥ ३५ ॥

मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः।
काले प्राप्ते द्वयं चैतद् यो वेद स महीपतिः ॥ ३६ ॥

कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवालेकी सब लोग अवहेलना करते हैं और तीक्ष्ण स्वभाववाले पुरुषसे सबको उद्वेग प्राप्त होता है । जो उचित अवसर आनेपर इन दोनोंका प्रयोग करना जानता है, वही सफल भूपाल है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा क्रोधकी निन्दा और क्षमाभावकी विशेष प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— परम बुद्धिमती द्रौपदी ! क्रोध ही मनुष्योंको मारनेवाला है और क्रोध ही यदि जीत लिया जाय तो अभ्युदय करनेवाला है । तुम यह जान लो कि उन्नति और अवनति दोनों क्रोधमूलक ही हैं (क्रोधको जीतनेसे उन्नति और उसके वशीभूत होनेसे अवनति होती है) ॥१॥

यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे ।
तस्याभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ २ ॥

सुशोभने ! जो क्रोधको रोक लेता है, उसकी उन्नति होती है और जो मनुष्य क्रोधके वेगको कभी सहन नहीं कर पाता, उसके लिये वह परम भयंकर क्रोध विनाशकारी बन जाता है ॥ २ ॥

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
तत् कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इस जगत्में क्रोधके कारण लोगोंका नाश होता दिखायी देता है; इसलिये मेरे-जैसा मनुष्य लोकविनाशक क्रोधका उपयोग दूसरोंपर कैसे करेगा ? ॥ ३ ॥

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ४ ॥

क्रोधी मनुष्य पाप कर सकता है, क्रोधके वशीभूत मानव गुरुजनोंकी भी हत्या कर सकता है और क्रोधमें भरा हुआ पुरुष अपनी कठोर वाणीद्वारा श्रेष्ठ मनुष्योंका भी अपमान कर देता है ॥ ४ ॥

वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥ ५ ॥

क्रोधी मनुष्य कभी यह नहीं समझ पाता कि क्या कहना चाहिये और क्या नहीं। क्रोधीके लिये कुछ भी अकार्य अथवा अवाच्य नहीं है ॥ ५ ॥

हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् सम्पूजयीत च।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम् ॥ ६ ॥

क्रोधवश वह अवध्य पुरुषोंकी भी हत्या कर सकता है और वधके योग्य मनुष्योंकी भी पूजामें तत्पर हो सकता है। इतना ही नहीं, क्रोधी मानव (आत्महत्याद्वारा) अपने आपको भी यमलोकका अतिथि बना सकता है ॥ ६ ॥

एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ॥ ७ ॥

इन दोषोंको देखनेवाले मनस्वी पुरुषोंने, जो इहलोक और परलोकमें भी परम उत्तम कल्याणकी इच्छा रखते हैं, क्रोधको जीत लिया है ॥ ७ ॥

तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत्।
एतद् द्रौपदि संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ॥ ८ ॥

अतः धीर पुरुषोंने जिसका परित्याग कर दिया है। उस क्रोधको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे उपयोगमें ला सकता है? द्रुपदकुमारी! यही सोचकर मेरा क्रोध कभी बढ़ता नहीं है ॥ ८ ॥

आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ९ ॥

क्रोध करनेवाले पुरुषके प्रति जो बदलेमें क्रोध नहीं करता, वह अपनेको और दूसरोंको भी महान् भयसे बचा लेता है। वह अपने और पराये दोनोंके दोषोंको दूर करनेके लिये चिकित्सक बन जाता है ॥ ९ ॥

मूढो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान् नरः।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ॥ १० ॥

यदि मूढ़ एवं असमर्थ मनुष्य दूसरोंके द्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं भी बलिष्ठ मनुष्योंपर क्रोध करता है तो वह अपने ही द्वारा अपने आपका विनाश कर देता है ॥ १० ॥

तस्यात्मानं संत्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः।
तस्माद् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ ११ ॥

अपने चित्तको वशमें न रखनेके कारण क्रोधवश देहत्याग करनेवाले उस मनुष्यके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। अतः द्रुपदकुमारी! असमर्थके लिये अपने क्रोधको रोकना ही अच्छा माना गया है ॥ ११ ॥

विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति।
अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १२ ॥

इसी प्रकार जो विद्वान् पुरुष शक्तिशाली होकर भी दूसरोंद्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं क्रोध नहीं करता, वह क्लेश देनेवालेका नाश न करके परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ १२ ॥

तस्माद् बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाहुरापत्स्वपि विजानता ॥ १३ ॥

इसलिये बलवान् या निर्बल सभी विज्ञ मनुष्योंको सदा आपत्ति-कालमें भी क्षमाभावका ही आश्रय लेना चाहिये ॥

मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥ १४ ॥

कृष्णे! साधु पुरुष क्रोधको जीतनेकी ही प्रशंसा करते हैं। संतोंका यह मत है कि इस जगत्में क्षमाशील साधु पुरुषकी सदा जय होती है ॥ १४ ॥

सत्यं चानृततः श्रेयो नृशंस्याच्चानृशंसता।
तमेवं बहुदोषं तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ॥ १५ ॥
मादृशः प्रसृजेत् कस्मात् सुयोधनवधादपि।

झूठसे सत्य श्रेष्ठ है। क्रूरतासे दयालुता श्रेष्ठ है, अतः दुर्योधन मेरा वध कर डाले तो भी इस प्रकार अनेक दोषोंसे भरे हुए और सत्पुरुषोंद्वारा परित्यक्त क्रोधका मेरे-जैसा पुरुष कैसे उपयोग कर सकता है? ॥ १५½ ॥

तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥ १६ ॥
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम्।

दूरदर्शी विद्वान् जिसे तेजस्वी कहते हैं, उसके भीतर क्रोध नहीं होता; यह निश्चित बात है ॥ १६½ ॥

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ॥ १७ ॥
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः।

जो उत्पन्न हुए क्रोधको अपनी बुद्धिसे दबा देता है, उसे तत्त्वदर्शी विद्वान् तेजस्वी मानते हैं ॥ १७½ ॥

क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति।
नाकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ १८ ॥

सुन्दरी! क्रोधी मनुष्य किसी कार्यको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। वह यह भी नहीं जानता कि मर्यादा क्या है (अर्थात् क्या करना चाहिये) और क्या नहीं करना चाहिये ॥

हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून् क्रुद्धस्तुदत्यपि।
तस्मात् तेजसि कर्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ॥ १९ ॥

क्रोधी मनुष्य अवध्य पुरुषोंका वध कर देता है। क्रोधी मनुष्य गुरुजनोंको कटु वचनोंद्वारा पीड़ा पहुँचाता है। इसलिये जिसमें तेज हो, उस पुरुषको चाहिये कि वह क्रोधको अपनेसे दूर रखे ॥ १९ ॥

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः।

गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥ २० ॥

दक्षता, अमर्ष, शौर्य और शीघ्रता—ये तेजके गुण हैं। जो मनुष्य क्रोधसे दबा हुआ है, वह इन गुणोंको सहजमें ही नहीं पा सकता ॥ २० ॥

क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक् तेजोऽभिपद्यते।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २१ ॥

क्रोधका त्याग करके मनुष्य भलीभाँति तेज प्राप्त कर लेता है। महाप्राज्ञे ! क्रोधी पुरुषोंके लिये समयके उपयुक्त तेज अत्यन्त दुःसह है ॥ २१ ॥

क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत् तेज इत्यभिनिश्चितम्।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ॥ २२॥

मूर्खलोग क्रोधको ही सदा तेज मानते हैं। परंतु रजोगुणजनित क्रोधका यदि मनुष्योंके प्रति प्रयोग हो तो वह लोगोंके नाशका कारण होता है ॥ २२ ॥

तस्माच्छश्वत् त्यजेत् क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन्।
श्रेयान् स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २३ ॥

अतः सदाचारी पुरुष सदा क्रोधका परित्याग करे। अपने वर्णधर्मके अनुसार न चलनेवाला मनुष्य (अपेक्षाकृत) अच्छा, किंतु क्रोधी नहीं अच्छा—यह निश्चय है ॥ २३ ॥

यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम्।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथंस्वित् स्यादनिन्दिते ॥ २४ ॥

साध्वी द्रौपदी ! यदि मूर्ख और अविवेकी मनुष्य क्षमा आदि सद्गुणोंका उल्लङ्घन कर जाते हैं तो मेरे-जैसा विज्ञ पुरुष उनका अतिक्रमण कैसे कर सकता है ? ॥ २४ ॥

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः।
न स्यात् संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ २५ ॥

यदि मनुष्योंमें पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष न हों तो मानवोंमें कभी सन्धि हो ही नहीं सकती; क्योंकि झगड़ेकी जड़ तो क्रोध ही है ॥ २५ ॥

अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद् गुरुणा हतः।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥

यदि कोई अपनेको सतावे तो स्वयं भी उसको सतावे। औरोंकी तो बात ही क्या है, यदि गुरुजन अपनेको मारें तो उन्हें भी मारे विना न छोड़े; ऐसी धारणा रखनेके कारण सब प्राणियोंका ही विनाश हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है ॥

आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम्।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥

यदि सभी क्रोधके वशीभूत हो जायँ तो एक मनुष्य दूसरेके द्वारा गाली खाकर स्वयं भी बदलेमें उसे गाली दे सकता है। मार खानेवाला मनुष्य बदलेमें मार सकता है। एकका अनिष्ट होनेपर वह दूसरेका भी अ[निष्ट कर] सकता है ॥ २७ ॥

हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितॄन्।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैव च ॥ [२८] ॥

पिता पुत्रोंको मारेंगे और पुत्र पिताको, पति प[त्नियोंको] मारेंगे और पत्नियाँ पतिको ॥ २८ ॥

एवं संकुपिते लोके शमः कृष्णे न विद्यते।
प्रजानां संधिमूलं हि शमं विद्धि शुभानने ॥ [२९] ॥

कृष्णे ! इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्के क्रोधका[न्त] हो जानेपर तो कहीं शान्ति नहीं रहती। शुभानने ! यह जान लो कि सम्पूर्ण प्रजाकी शान्ति सन्धि[मूलक] ही है ॥ २९ ॥

ताः क्षिपेरन् प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ॥ [३०] ॥

द्रौपदी ! यदि राजा तुम्हारे कथनानुसार क्रोध[ी हो] जाय तो सारी प्रजाओंका शीघ्र ही नाश हो जायगा। [अतः] यह समझ लो कि क्रोध प्रजावर्गके नाश और अवन[तिका] कारण है ॥ ३० ॥

यस्मात् तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ॥ [३१] ॥

इस जगत्में पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष देखे जाते हैं, इसीलिये प्राणियोंकी उत्पत्ति और [वृद्धि] होती रहती है ॥ ३१ ॥

क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥ [३२] ॥

सुशोभने ! पुरुषको सभी आपत्तियोंमें क्षमाभाव र[खना] चाहिये। क्षमाशील पुरुषसे ही समस्त प्राणियोंका [जन्म] बताया गया है ॥ ३२ ॥

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३[३] ॥

जो बलवान् पुरुषके गाली देने या कुपित हो[कर] मारनेपर भी क्षमा कर जाता है तथा जो सदा अपने क्रो[ध]को काबूमें रखता है, वही विद्वान् है और वही [उत्तम] पुरुष है ॥ ३३ ॥

प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३४ ॥

वही मनुष्य प्रभावशाली कहा जाता है। उसी[को] सनातन लोक प्राप्त होते हैं। क्रोधी मनुष्य अ[ल्पज्ञ] होता है। वह इस लोक और परलोक दोनोंमें विना[शका] ही भागी होता है ॥ ३४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम्।
गीताः क्षमावता कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ ३५॥

इस विषयमें जानकार लोग क्षमावान् पुरुषोंकी गाथाका उदाहरण देते हैं। कृष्णे ! क्षमावान् महात्मा काश्यपने इस गाथाका गान किया है ॥ ३५ ॥

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३६॥

क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है। जो इस प्रकार जानता है, वह सब कुछ क्षमा करनेके योग्य हो जाता है ॥ ३६ ॥

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ३७॥

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है। क्षमाने ही सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रक्खा है ॥ ३७ ॥

अति यज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च।
अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ॥ ३८ ॥

क्षमाशील मनुष्य यज्ञवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरुषोंसे भी ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं ॥ ३८ ॥

अन्ये वै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा।
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥ ३९ ॥

(सकामभावसे) यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंके लोक दूसरे हैं एवं (सकामभावसे) वापी, कूप, तडाग और दान आदि कर्म करनेवाले मनुष्योंके लोक दूसरे हैं। परंतु क्षमावानोंके लोक ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं, जो अत्यन्त पूजित हैं ॥ ३९ ॥

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥ ४० ॥

क्षमा तेजस्वी पुरुषोंका तेज है, क्षमा तपस्वियोंका ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषोंका सत्य है। क्षमा यज्ञ है और क्षमा शम (मनोनिग्रह) है ॥ ४० ॥

तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥ ४१ ॥

कृष्णे ! जिसका महत्त्व ऐसा बताया गया है, जिसमें ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक सभी प्रतिष्ठित हैं, उस क्षमाको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे छोड़ सकता है ॥ ४१ ॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुषको सदा क्षमाका ही आश्रय लेना चाहिये। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४३ ॥

क्षमावानोंके लिये ही यह लोक है। क्षमावानोंके लिये ही परलोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत्में सम्मान और परलोकमें उत्तम गति पाते हैं ॥ ४३ ॥

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाभिहतः सदा।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात् क्षान्तिः परा मता ॥ ४४ ॥

जिन मनुष्योंका क्रोध सदा क्षमाभावसे दबा रहता है, उन्हें सर्वोत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अतः क्षमा सबसे उत्कृष्ट मानी गयी है ॥ ४४ ॥

इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम्।
श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि मा क्रुधः॥ ४५ ॥

इस प्रकार काश्यपजीने नित्य क्षमाशील पुरुषोंकी इस गाथाका गान किया है। द्रौपदी ! क्षमाकी यह गाथा सुनकर संतुष्ट हो जाओ, क्रोध न करो ॥ ४५ ॥

पितामहः शान्तनवः शमं सम्पूजयिष्यति।
कृष्णश्च देवकीपुत्रः शमं सम्पूजयिष्यति ॥ ४६ ॥

मेरे पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म शान्तिभावका ही आदर करेंगे। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भी शान्तिभावका ही आदर करेंगे ॥ ४६ ॥

आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः।
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ ४७ ॥

आचार्य द्रोण और विदुर भी शान्तिको ही अच्छा कहेंगे। कृपाचार्य और संजय भी शान्त रहना ही अच्छा बतायेंगे ॥ ४७ ॥

सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ ४८ ॥

सोमदत्त, युयुत्सु, अश्वत्थामा तथा हमारे पितामह व्यास भी सदा शान्तिका ही उपदेश देते हैं ॥ ४८ ॥

एतैर्हि राजा नियतं चोद्यमानः शमं प्रति।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्न चेल्लोभान्नशिष्यति ॥ ४९ ॥

ये सब लोग यदि राजा धृतराष्ट्रको सदा शान्तिके लिये प्रेरित करते रहेंगे तो वे अवश्य मुझे राज्य दे देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यदि नहीं देंगे तो लोभके कारण नष्ट हो जायँगे ॥ ४९ ॥

कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये।
निश्चितं मे सदैवैतत् पुरस्तादपि भाविनि ॥ ५० ॥

सुयोधनो नार्हतीति क्षमामेवं न विन्दति।
अर्हस्तत्राहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ ५१ ॥

इस समय भरतवंशके विनाशके लिये यह बड़ा भयंकर समय आ गया है। भामिनि! मेरा पहलेसे ही ऐसा निश्चित मत है कि सुयोधन कभी भी इस प्रकार क्षमाभावको नहीं अपना सकता; वह इसके योग्य नहीं है। मैं इसके योग्य हूँ, इसलिये क्षमा मेरा ही आश्रय लेती है ॥ ५०-५१ ॥

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः।
क्षमा चैवानृशंस्यं च तत् कर्तास्म्यहमञ्जसा ॥ ५२ ॥

क्षमा और दया यही जितात्मा पुरुषोंका सदाचार है और यही सनातनधर्म है; अतः मैं यथार्थ रूपसे क्षमा और दयाको ही अपनाऊँगा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीयुधिष्ठिरसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-युधिष्ठिरसंवादविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

दुःखसे मोहित द्रौपदीका युधिष्ठिरकी बुद्धि, धर्म एवं ईश्वरके न्यायपर आक्षेप

द्रौपद्युवाच

नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव।
पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥

द्रौपदीने कहा—राजन्! उस धाता (ईश्वर) और विधाता (प्रारब्ध) को नमस्कार है, जिन्होंने आपकी बुद्धिमें मोह उत्पन्न कर दिया। पिता-पितामहोंके आचारका भार वहन करनेमें भी आपका विचार विपरीत दिखायी देता है ॥ १ ॥

कर्मभिश्चिन्तितो लोको गत्यां गत्यां पृथग्विधः।
तस्मात् कर्माणि नित्यानि लोभान्मोक्षं यियासति ॥ २ ॥
नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नार्जवेन च।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥ ३ ॥

कर्मोंके अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम योनिमें भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्ति बतलायी गयी है, अतः कर्म नित्य हैं (भोगे बिना उन कर्मोंका क्षय नहीं होता)। मूर्ख लोग लोभसे ही मोक्ष पानेकी इच्छा रखते हैं। इस जगत्‌में धर्म, कोमलता, क्षमा, विनय और दयासे कोई भी मनुष्य कभी धन और ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं कर सकता ॥ २-३ ॥

त्वां च व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम्।
यत् त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ ४ ॥

भारत! इसी कारण तो आपपर भी यह दुःसह संकट आ गया, जिसके योग्य न तो आप हैं और न आपके महातेजस्वी ये भाई ही हैं ॥ ४ ॥

न हि तेऽध्यगमज्जातु तदानीं नाद्य भारत।
धर्मात् प्रियतरं किंचिदपि चेज्जीवितादिह ॥ ५ ॥

भरतकुलतिलक! आपके भाइयोंने न तो पहले कभी और न आज ही धर्मसे अधिक प्रिय दूसरी किसी वस्तुको समझा है। अपितु धर्मको जीवनसे भी बढ़कर माना है ॥ ५ ॥

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ६ ॥

आपका राज्य धर्मके लिये ही है, आपका जीवन भी धर्मके लिये ही है। ब्राह्मण, गुरुजन और देवता सभी इस बातको जानते हैं ॥ ६ ॥

भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रेयौ च मया सह।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥ ७ ॥

मुझे विश्वास है कि आप मेरेसहित भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवको भी त्याग देंगे; किंतु धर्मका त्याग नहीं करेंगे ॥ ७ ॥

राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ॥ ८ ॥

मैंने आर्योंके मुँहसे सुना है कि यदि धर्मकी रक्षा की जाय तो वह धर्मरक्षक राजाकी स्वयं भी रक्षा करता है। किंतु मुझे मालूम होता है कि वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है ॥ ८ ॥

अनन्या हि नरव्याघ्र नित्यदा धर्ममेव ते।
बुद्धिः सततमन्वेतिच्छायेव पुरुषं निजा ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ! जैसे अपनी छाया सदा मनुष्यके पीछे चलती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि सदा अनन्यभावसे धर्मका ही अनुसरण करती है ॥ ९ ॥

नावमंस्था हि सदृशान् नावरांश्रेयसः कुतः।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्धत ॥ १० ॥

आपने अपने समान और अपनेसे छोटोंका भी कभी अपमान नहीं किया। फिर अपनेसे बड़ोंका तो करते ही कैसे? सारी पृथ्वीका राज्य पाकर भी आपका प्रभुताविषयक अहङ्कार कभी नहीं बढ़ा ॥ १० ॥

स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान्।
दैवतानि पितॄंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ॥ ११ ॥
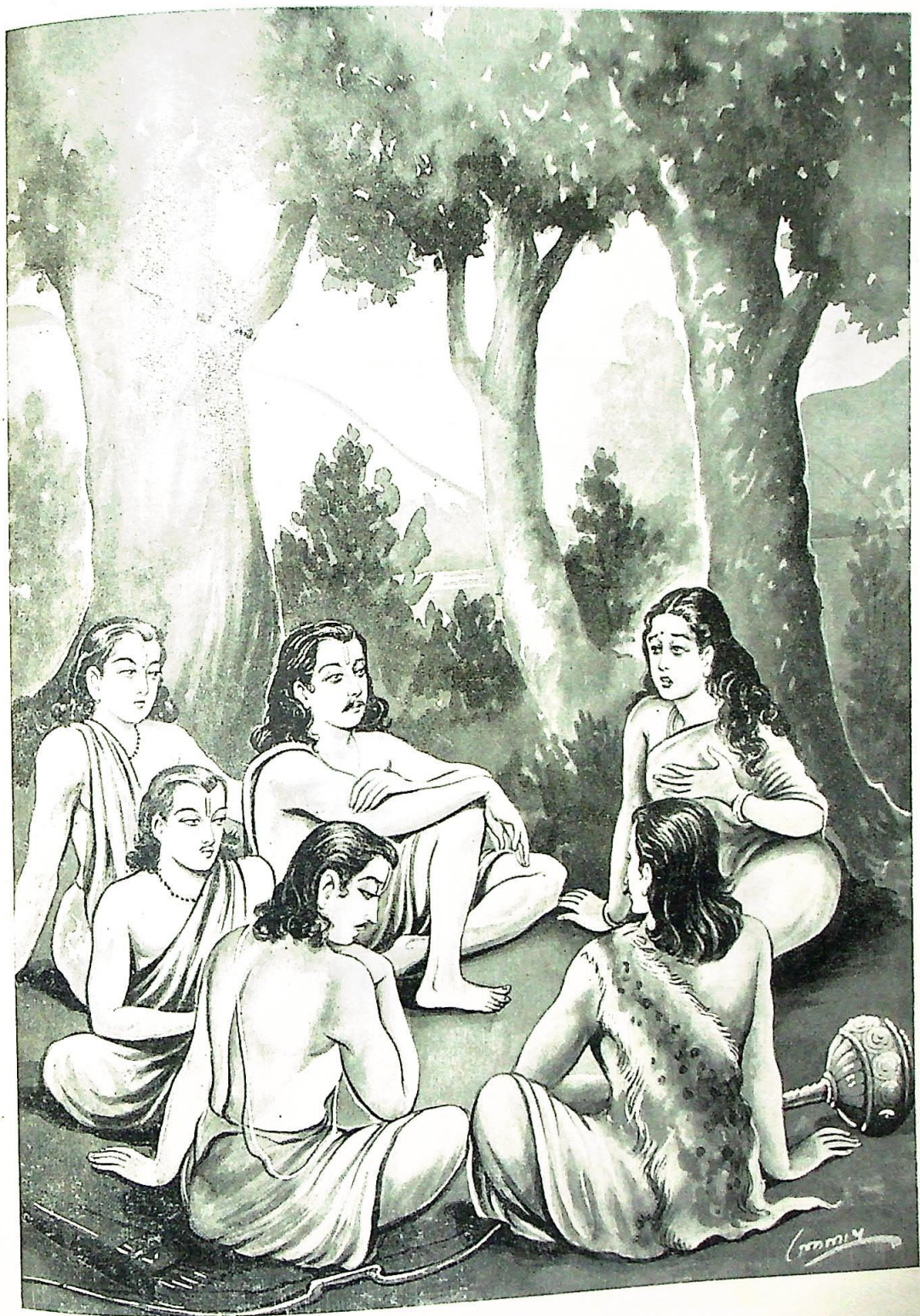
द्रौपदी और भीमसेनका युधिष्ठिरसे संवाद

कुन्तीनन्दन ! आप स्वाहा, स्वधा और पूजाके द्वारा देवताओं, पितरों और ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करते रहते हैं ॥

ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ तर्पिताः ।
यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ॥ १२ ॥
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्यत्राहं परिचारिका ।
आरण्यकेभ्यो लौहानि भाजनानि प्रयच्छसि ।
नादेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ॥ १३ ॥

पार्थ ! आपने ब्राह्मणोंकी समस्त कामनाएँ पूरी करके सदा उन्हें तृप्त किया है। भारत ! आपके यहाँ मोक्षाभिलाषी संन्यासी तथा गृहस्थ ब्राह्मण सोनेके पात्रोंमें भोजन करते थे। जहाँ स्वयं मैं अपने हाथों उनकी सेवा-टहल करती थी। वानप्रस्थोंको भी आप सोनेके पात्र दिया करते थे। आपके घरमें कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ॥ १२-१३ ॥

यदिदं वैश्वदेवं ते शान्तये क्रियते गृहे ।
तद् दत्त्वातिथिभूतेभ्यो राजञ्छिष्टेन जीवसि ॥ १४ ॥

राजन् ! आपके द्वारा शान्तिके लिये जो घरमें यह वैश्वदेव कर्म किया जाता है, उसमें अतिथियों और प्राणियोंके लिये अन्न देकर आप अवशिष्ट अन्नके द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ १४ ॥

इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ।
वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा ॥ १५ ॥

इष्टि (पूजा), पशुबन्ध (पशुओंको बाँधना), काम्य याग, नैमित्तिक याग, पाकयज्ञ तथा नित्ययज्ञ—ये सब भी आपके यहाँ बराबर चलते रहते हैं ॥ १५ ॥

अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ।
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्तेनावसीदति ॥ १६ ॥

आप राज्यसे निकलकर लुटेरोंद्वारा सेवित इस निर्जन महावनमें निवास कर रहे हैं, तो भी आपका धर्मकार्य कभी शिथिल नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ।
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ॥ १७ ॥

अश्वमेध, राजसूय, पुण्डरीक तथा गोसव इन सभी महायज्ञोंका आपने प्रचुर दक्षिणादानपूर्वक अनुष्ठान किया है ॥ १७ ॥

राजन् परीतया बुद्ध्या विषमेऽक्षपराजये ।
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातॄन् मां चासि निर्जितः ॥ १८ ॥

परंतु महाराज ! उस कपट द्यूतजनित पराजयके समय आपकी बुद्धि विपरीत हो गयी, जिसके कारण आप राज्य, धन, आयुध तथा भाइयोंको और मुझे भी दाँवपर रखकर हार गये ॥ १८ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ॥ १९ ॥

आप सरल, कोमल, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी हैं। न जाने कैसे आपकी बुद्धिमें जूआ खेलनेका व्यसन आ गया ॥ १९ ॥

अतीव मोहमायाति मनश्च परिभूयते ।
निशाम्य ते दुःखमिदमिमां चापदमीदृशीम् ॥ २० ॥

आपके इस दुःख और भयंकर विपत्तिको विचारकर मुझे अत्यन्त मोह प्राप्त हो रहा है और मेरा मन दुःखसे पीडित हो रहा है ॥ २० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ॥ २१ ॥

इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि सब लोग ईश्वरके वशमें हैं, कोई भी स्वाधीन नहीं है ॥ २१ ॥

धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २२ ॥

विधाता ईश्वर ही सबके पूर्वकर्मोंके अनुसार प्राणियोंके लिये सुख-दुःख, प्रिय-अप्रियकी व्यवस्था करते हैं ॥ २२ ॥

यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥ २३ ॥

नरवीर नरेश ! जैसे कठपुतली सूत्रधारसे प्रेरित हो अपने अङ्गोंका संचालन करती है, उसी प्रकार यह सारी प्रजा ईश्वरकी प्रेरणासे अपने हस्त-पाद आदि अङ्गोंद्वारा विविध चेष्टाएँ करती है ॥ २३ ॥

आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ।
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ॥ २४ ॥

भारत ! ईश्वर आकाशके समान सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त होकर उनके कर्मानुसार सुख-दुःखका विधान करते हैं ॥ २४ ॥

शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ।
ईश्वरस्य वशे तिष्ठेन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ॥ २५ ॥

जीव स्वतन्त्र नहीं है, वह डोरेमें बँधे हुए पक्षीकी भाँति कर्मके बन्धनमें बँधा होनेसे परतन्त्र है। वह ईश्वरके ही वशमें होता है। उसका न दूसरोंपर वश चलता है, न अपने ऊपर ॥

मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ।
स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद् वृक्ष इव च्युतः ॥ २६ ॥
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ।
नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन ॥ २७ ॥

सूतमें पिरोयी हुई मणि, नाकमें नथे हुए बैल और किनारेसे टूटकर धाराके बीचमें गिरे हुए वृक्षकी भाँति यह

जीव सदा ईश्वरके आदेशका ही अनुसरण करता है; क्योंकि वह उसीसे व्याप्त और उसीके अधीन है। यह मनुष्य स्वाधीन होकर समयको नहीं बिताता ॥ २६-२७ ॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च ॥ २८ ॥

यह जीव अज्ञानी तथा अपने सुख-दुःखके विधानमें भी असमर्थ है। यह ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग एवं नरकमें जाता है ॥ २८ ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
धातुरेवं वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥ २९ ॥

भारत ! जैसे क्षुद्र तिनके बलवान् वायुके वशमें हो उड़ते-फिरते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी ईश्वरके अधीन हो आवागमन करते हैं ॥ २९ ॥

आर्ये कर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः ।
व्याप्य भूतानि चरते न चायमिति लक्ष्यते ॥ ३० ॥

कोई श्रेष्ठ कर्ममें लगा हुआ हो चाहे पापकर्ममें, ईश्वर सभी प्राणियोंमें व्याप्त होकर विचरते हैं; किंतु वे यही हैं इस प्रकार उनका लक्ष्य नहीं होता ॥ ३० ॥

हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसंज्ञितम् ।
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ॥ ३१ ॥

यह क्षेत्रसंज्ञक शरीर ईश्वरका साधनमात्र है, जिसके द्वारा वे सर्वव्यापी परमेश्वर प्राणियोंसे स्वेच्छाप्रारब्धरूप शुभाशुभ फल भुगतानेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करवाते हैं ॥ ३१ ॥

पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः ।
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वाऽऽत्ममायया ॥ ३२ ॥

ईश्वरने जिस प्रकार इस मायाके प्रभावका विस्तार किया है, उसे देखिये। वे अपनी मायाद्वारा मोहित करके प्राणियोंसे ही प्राणियोंका वध करवाते हैं ॥ ३२ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ३३ ॥

तत्त्वदर्शी मुनियोंने वस्तुओंके स्वरूप कुछ और प्रकारसे देखे हैं; किंतु अज्ञानियोंके सामने किसी और ही रूपमें भासित होते हैं। जैसे आकाशचारी सूर्यकी किरणें मरुभूमिमें पड़कर जलके रूपमें प्रतीत होने लगती हैं ॥ ३३ ॥

अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च ।
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ॥ ३४ ॥

लोग भिन्न-भिन्न वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपोंमें मानते हैं; परंतु शक्तिशाली परमेश्वर उन्हें और ही रूपमें बनाते और बिगाड़ते हैं ॥ ३४ ॥

यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानं चाश्मना पुनः ।
अयसा चाप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्टमचेतनम् ॥ ३५ ॥

एवं स भगवान् देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।
हिनस्ति भूतैर्भूतानि छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! जैसे अचेतन एवं चेष्टारहित काठ, पत्थर और लोहेको मनुष्य काठ, पत्थर और लोहेसे ही काट देता है, उसी प्रकार सबके प्रपितामह स्वयम्भू भगवान् श्रीहरि मायाकी आड़ लेकर प्राणियोंसे ही प्राणियोंका विनाश करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

सम्प्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ ३७ ॥

जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार स्वेच्छानुसार कर्म (भाँति-भाँतिकी लीलाएँ) करनेवाले शक्तिशाली भगवान् सब प्राणियोंके साथ उनका परस्पर संयोग-वियोग कराते हुए लीला करते रहते हैं ॥ ३७ ॥

न मातृपितृवद् राजन् धाता भूतेषु वर्तते ।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरो जनः ॥ ३८ ॥

राजन् ! मैं समझती हूँ, ईश्वर समस्त प्राणियोंके प्रति माता-पिताके समान दया एवं स्नेहयुक्त बर्ताव नहीं कर रहे हैं, वे तो दूसरे लोगोंकी भाँति मानो रोषसे ही व्यवहार कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

आर्याञ्छीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान् ।
अनार्यान् सुखिनश्चैव विह्वलामीव चिन्तया ॥ ३९ ॥

क्योंकि जो लोग श्रेष्ठ, शीलवान् और संकोची हैं, वे तो जीविकाके लिये कष्ट पा रहे हैं; किंतु जो अनार्य (दुष्ट) हैं, वे सुख भोगते हैं; यह सब देखकर मेरी उक्त धारणा पुष्ट होती है और मैं चिन्तासे विह्वल-सी हो रही हूँ ॥ ३९ ॥

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने ।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥ ४० ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी इस आपत्तिको तथा दुर्योधनकी समृद्धिको देखकर मैं उस विधाताकी निन्दा करती हूँ, जो विषम दृष्टिसे देख रहा है अर्थात् सज्जनको दुःख और दुर्जनको सुख देकर उचित विचार नहीं कर रहा है ॥ ४० ॥

आर्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि ।
धार्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ॥ ४१ ॥

जो आर्यशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला, क्रूर, लोभी तथा धर्मकी हानि करनेवाला है, उस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धन देकर विधाता क्या फल पाता है ? ॥ ४१ ॥

कर्म चेत् कृतमन्वेति कर्तारं नान्यमृच्छति ।
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ॥ ४२ ॥

यदि किया हुआ कर्म कर्ताका ही पीछा करता है

दूसरेके पास नहीं जाता, तब तो ईश्वर भी उस पापकर्मसे अवश्य लिप्त होंगे ॥ ४२ ॥

अथ कर्म कृतं पापं न चेत् कर्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनाञ्छोचामि दुर्बलान् ॥ ४३ ॥

इसके विपरीत, यदि किया हुआ पाप-कर्म कर्ताको नहीं प्राप्त होता तो इसका कारण यहाँ बल ही है (ईश्वर शक्तिशाली हैं; इसीलिये उन्हें पापकर्मका फल नहीं मिलता होगा)। उस दशामें मुझे दुर्बल मनुष्योंके लिये शोक हो रहा है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा द्रौपदीके आक्षेपका समाधान तथा ईश्वर, धर्म और महापुरुषोंके आदरसे लाभ और अनादरसे हानि

युधिष्ठिर उवाच

वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः ।
उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—यज्ञसेनकुमारी ! तुमने जो बात कही है, वह सुननेमें बड़ी मनोहर, विचित्र पदावलीसे सुशोभित तथा बहुत सुन्दर है, मैंने उसे बड़े ध्यानसे सुना है। परंतु इस समय तुम (अज्ञानसे) नास्तिक मतका प्रतिपादन कर रही हो ॥ १ ॥

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥ २ ॥

राजकुमारी ! मैं कर्मोंके फलकी इच्छा रखकर उनका अनुष्ठान नहीं करता; अपितु 'देना कर्तव्य है' यह समझकर दान देता हूँ और यज्ञको भी कर्तव्य मानकर ही उसका अनुष्ठान करता हूँ ॥ २ ॥

अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥ ३ ॥

कृष्णे ! यहाँ उस कर्मका फल हो या न हो, गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाले पुरुषका जो कर्तव्य है, मैं उसीका यथाशक्ति कर्तव्यबुद्धिसे पालन करता हूँ ॥ ३ ॥

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥ ५ ॥

सुश्रोणि ! मैं धर्मका फल पानेके लोभसे धर्मका आचरण नहीं करता, अपितु साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारको देखकर शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन न करके स्वभावसे ही मेरा मन धर्मपालनमें लगा है। द्रौपदी ! जो मनुष्य कुछ पानेकी इच्छासे धर्मका व्यापार करता है, वह धर्मवादी पुरुषोंकी दृष्टिमें हीन और निन्दनीय है ॥ ४-५ ॥

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात् पापचेतनः ॥ ६ ॥

जो पापात्मा मनुष्य नास्तिकतावश, धर्मका अनुष्ठान करके उसके विषयमें शङ्का करता है अथवा धर्मको दुहना चाहता है अर्थात् धर्मके नामपर स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसे धर्मका फल बिल्कुल नहीं मिलता ॥ ६ ॥

अतिवादाद् वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥ ७ ॥

मैं सारे प्रमाणोंसे ऊपर उठकर केवल शास्त्रके आधारपर यह जोर देकर कह रहा हूँ कि तुम धर्मके विषयमें शङ्का न करो; क्योंकि धर्मपर संदेह करनेवाला मानव पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७ ॥

धर्मो यस्याभिशङ्क्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदाच्छूद्र इवापेयात् स लोकादजरामरात् ॥ ८ ॥

जो धर्मके विषयमें संदेह रखता है, अथवा जो दुर्बलात्मा पुरुष वेदादि शास्त्रोंपर अविश्वास करता है, वह जरा-मृत्युरहित परमधामसे उसी प्रकार वञ्चित रहता है, जैसे शूद्र वेदोंके अध्ययनसे ॥ ८ ॥

वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि ।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजर्षिर्धर्मचारिभिः ॥ ९ ॥

मनस्विनि ! जो वेदका अध्ययन करनेवाला, धर्मपरायण और कुलीन हो, उस राजर्षिकी गणना धर्मात्मा पुरुषोंको वृद्धोंमें करनी चाहिये (वह आयुमें छोटा हो तो भी उसका वृद्ध पुरुषके समान आदर करना चाहिये) ॥ ९ ॥

पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ॥ १० ॥

जो मन्दबुद्धि पुरुष शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके धर्मके विषयमें आशङ्का करता है, वह शूद्रों और चोरोंसे भी बढ़कर पापी है ॥ १० ॥

प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन् महातपाः ।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीविता ॥ ११ ॥

तुमने अमेयात्मा महातपस्वी मार्कण्डेयजीको जो अभी यहाँसे गये हैं, प्रत्यक्ष देखा है । उन्हें धर्मपालनसे ही चिरजीविता प्राप्त हुई है ॥ ११ ॥

व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः ।
अन्ये च ऋषयः सर्वे धर्मेणैव सुचेतसः ॥ १२ ॥

व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक तथा अन्य सब महर्षि धर्मके पालनसे ही शुद्ध हृदयवाले हुए हैं ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान् दिव्ययोगसमन्वितान् ।
शापानुग्रहणे शक्तान् देवेभ्योऽपि गरीयसः ॥ १३ ॥

तुम अपनी आँखों इन सबको देखती हो, ये दिव्य योगशक्तिसे सम्पन्न, शाप और अनुग्रहमें समर्थ तथा देवताओंसे भी अधिक गौरवशाली हैं ॥ १३ ॥

एते हि धर्ममेवादौ वर्णयन्ति सदानघे ।
कर्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ॥ १४ ॥

अनघे ! ये अमरोंके समान विख्यात तथा वेदगम्य विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाले महर्षि धर्मको ही सबसे प्रथम आचरणमें लाने योग्य बताते हैं ॥ १४ ॥

अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च ।
राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तुं शङ्कितुमेव च ॥ १५ ॥

अतः कल्याणमयी महारानी द्रौपदी ! तुम्हें मूर्खतायुक्त मनके द्वारा ईश्वर और धर्मपर आक्षेप एवं आशङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ १५ ॥

उन्मत्तान् मन्यते बालः सर्वानागतनिश्चयान् ।
धर्माभिशङ्की नान्यस्मात् प्रमाणमधिगच्छति ॥ १६ ॥

धर्मके विषयमें संशय रखनेवाला बालबुद्धि मानव जिन्हें धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया है, उन समस्त ज्ञानीजनोंको उन्मत्त समझता है; अतः वह बालबुद्धि दूसरे किसीसे कोई शास्त्र-प्रमाण नहीं ग्रहण करता ॥ १६ ॥

आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यकः ।
इन्द्रियप्रीतिसम्बद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ॥ १७ ॥

केवल अपनी बुद्धिको ही प्रमाण माननेवाला उद्दण्ड मानव श्रेष्ठ पुरुषों एवं उत्तम धर्मकी अवहेलना करता है; क्योंकि वह मूढ़ इन्द्रियोंकी आसक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले इस लोक-प्रत्यक्ष दृश्य जगत्की ही सत्ता स्वीकार करता है; अप्रत्यक्ष वस्तुके विषयमें उसकी बुद्धि मोहमें पड़ जाती है ॥ १७ ॥

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।
ध्यायन् स कृपणः पापो न लोकान् प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

जो धर्मके प्रति संदेह करता है, उसकी शुद्धिके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है । वह धर्मविरोधी चिन्तन करनेवाला दीन पापात्मा पुरुष उत्तम लोकोंको नहीं पाता, अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रमाणाद्धि निवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।
कामलोभातिगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

जो मूर्ख प्रमाणोंकी ओरसे मुँह मोड़ लेता है, वेद-शास्त्रोंके सिद्धान्तकी निन्दा करता है तथा काम एवं लोभमें अत्यन्त परायण है, वह नरकमें पड़ता है ॥ १९ ॥

यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाभिपद्यते ।
अशङ्कमानः कल्याणि सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ २० ॥

कल्याणी ! जो सदा धर्मके विषयमें पूर्ण निश्चय रखनेवाला है और सब प्रकारकी आशङ्काएँ छोड़कर धर्मकी ही शरण लेता है, वह परलोकमें अक्षय अनन्त सुखका भागी होता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन् ।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं जन्मसु न विन्दति ॥ २१ ॥

जो मूढ़ मानव आर्ष-ग्रन्थोंके प्रमाणकी अवहेलना करके समस्त शास्त्रोंके विपरीत आचरण करते हुए धर्मका पालन नहीं करता, वह जन्म-जन्मान्तरोंमें भी कभी कल्याणका भागी नहीं होता ॥ २१ ॥

यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि ।
न वै तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चयः ॥ २२ ॥

भाविनि ! जिसकी दृष्टिमें ऋषियोंके वचन और शिष्ट पुरुषोंके आचार प्रमाणभूत नहीं हैं, उसके लिये न यह लोक है और न परलोक; यह तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका निश्चय है ॥ २२ ॥

शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्माभिशङ्किथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥ २३ ॥

कृष्णे ! सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा महर्षियोंद्वारा प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित पुरातन धर्मपर शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ २३ ॥

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ॥ २४ ॥

द्रुपदकुमारी ! जैसे समुद्रके पार जानेकी इच्छावाले वणिक्

लिये जहाजकी आवश्यकता है, वैसे ही स्वर्गमें जानेवालोंके लिये धर्माचरण ही जहाज है, दूसरा नहीं ॥ २४ ॥

अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः ।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ॥ २५ ॥

सती द्रौपदी ! यदि धर्मात्मा पुरुषोंद्वारा पालित धर्म निष्फल होता तो यह सम्पूर्ण जगत् अपार अन्धकारमें निमग्न हो जाता ॥ २५ ॥

निर्वाणं नाधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम् ।
विघातेनैव युज्येयुर्न चार्थं केचिदाप्नुयुः ॥ २६ ॥

यदि धर्म निष्फल होता तो धर्मात्मा पुरुष मोक्ष नहीं पाते, कोई विद्याकी प्राप्तिमें नहीं लगते, कोई भी प्रयोजन-सिद्धिके लिये प्रयत्न नहीं करते और सभी पशुओंका-सा जीवन व्यतीत करते ॥ २६ ॥

तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च ।
दानमार्जवमेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥ २७ ॥
नाचरिष्यन् परे धर्मं परे परतरे च ये ।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥ २८ ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्धर्ममादृताः ॥ २९ ॥

यदि तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, स्वाध्याय, दान और सरलता आदि धर्म निष्फल होते तो पहले जो श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर पुरुष हुए हैं, वे धर्मका आचरण नहीं करते । यदि धार्मिक क्रियाओंका कुछ फल नहीं होता, वे सब निरी ठगविद्या होतीं तो ऋषि, देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस प्रभावशाली होते हुए भी किसलिये आदरपूर्वक धर्मका आचरण करते ॥

फलदं त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवम् ।
धर्मं ते ह्यचरन् कृष्णे तद्धि श्रेयः सनातनम् ॥ ३० ॥

कृष्णे ! यहाँ धर्मका फल देनेवाले ईश्वर अवश्य हैं, यह बात जानकर ही उन ऋषि आदिकोंने धर्मका आचरण किया है । धर्म ही सनातन श्रेय है ॥ ३० ॥

स नायमफलो धर्मो नाधर्मोऽफलवानपि ।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥ ३१ ॥
त्वमात्मनो विजानीहि जन्म कृष्णे यथा श्रुतम् ।
वेत्थ चापि यथा जातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥

धर्म निष्फल नहीं होता । अधर्म भी अपना फल दिये बिना नहीं रहता । विद्या और तपस्याके भी फल देखे जाते हैं । कृष्णे ! तुम अपने जन्मके प्रसिद्ध वृत्तान्तको ही स्मरण करो । तुम्हारा प्रतापी भाई धृष्टद्युम्न जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, यह भी तुम जानती हो ॥ ३१-३२ ॥

एतावदेव पर्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते ।
कर्मणां फलमाप्नोति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति ॥ ३३ ॥

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी ! इतना ही दृष्टान्त देना पर्याप्त है । धीर पुरुष कर्मोंका फल पाता है और थोड़े-से फलसे भी संतुष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

बहून्यपि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः ।
तेषां न धर्मजं किञ्चित् प्रेत्य शर्मास्ति वा पुनः ॥ ३४ ॥

परंतु बुद्धिहीन अज्ञानी मनुष्य बहुत पाकर भी संतुष्ट नहीं होते । उन्हें परलोकमें धर्मजनित थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिलता ॥ ३४ ॥

कर्मणां श्रुतपुण्यानां पापानां च फलोदयः ।
प्रभवश्चात्ययश्चैव देवगुह्यानि भामिनि ॥ ३५ ॥

भामिनि ! वेदोक्त पुण्य देनेवाले सत्कर्मों और अनिष्टकारी पापकर्मोंका फलोदय तथा उत्पत्ति और प्रलय—ये सब देवगुह्य हैं (देवता ही उन्हें जानते हैं) ॥ ३५ ॥

नैतानि वेद यः कश्चिन्मुह्यन्तेऽत्र प्रजा इमाः ।
अपि कल्पसहस्रेण न स श्रेयोऽधिगच्छति ॥ ३६ ॥

इन देवगुह्य विषयोंमें साधारणलोग मोहित हो जाते हैं । जो इन सबको तात्त्विकरूपसे नहीं जानता है, वह सहस्रों कल्पोंमें भी कल्याणका भागी नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढमाया हि देवताः ।
कृताशाश्च व्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
प्रसादैर्मानसैर्युक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ॥ ३७ ॥

इन सब विषयोंको देवतालोग गुप्त रखते हैं । देवताओंकी माया भी गूढ़ (दुर्बोध) है । जो आशाका परित्याग करके सात्त्विक हितकर एवं पवित्र आहार करनेवाले हैं । तपस्यासे जिनके सारे पाप दग्ध हो गये हैं तथा जो मानसिक प्रसन्नतासे युक्त हैं वे द्विज ही इन देवगुह्य विषयोंको देख पाते हैं ॥ ३७ ॥

न फलादर्शनाद् धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ।
यष्टव्यं च प्रयत्नेन दातव्यं चानसूयता ॥ ३८ ॥

धर्मका फल तुरंत दिखायी न दे तो इसके कारण धर्म एवं देवताओंपर आशङ्का नहीं करनी चाहिये । दोषदृष्टि न रखते हुए यत्नपूर्वक यज्ञ और दान करते रहने चाहिये ॥

कर्मणां फलमस्तीह तथैतद् धर्मशासनम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषिर्वेद कश्यपः ॥ ३९ ॥

कर्मोंका फल यहाँ अवश्य प्राप्त होता है, यह धर्म शास्त्रका विधान है । यह बात ब्रह्माजीने अपने पुत्रोंसे कही है, जिसे कश्यपऋषि जानते हैं ॥ ३९ ॥

तस्मात् ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु ।
व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज ॥ ४० ॥

इसलिये कृष्णे ! सब कुछ सत्य है, ऐसा निश्चय करके तुम्हारा धर्मविषयक संदेह कुहरेको भाँति नष्ट हो जाना चाहिये । तुम अपने इस नास्तिकतापूर्ण विचारको त्याग दो ॥

ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप ।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ ४१ ॥

और समस्त प्राणियोंका भरण-पोषण करनेवाले ईश्वरपर आक्षेप बिल्कुल न करो । तुम शास्त्र और गुरुजनोंके उपदेशानुसार ईश्वरको समझनेकी चेष्टा करो और उन्हींको नमस्कार करो । आज जैसी तुम्हारी बुद्धि है, वैसी नहीं रहनी चाहिये ॥ ४१ ॥

यस्य प्रसादात् तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम् ।
उत्तमां दैवतां कृष्णे मावमंस्थाः कथंचन ॥ ४२ ॥

कृष्णे ! जिनके कृपाप्रसादसे उनके प्रति भक्तिभाव रखनेवाला मरणधर्मा मनुष्य अमरत्वको प्राप्त हो जाता है, उन परमदेव परमेश्वरकी तुमको किसी प्रकार अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

द्रौपदीका पुरुषार्थको प्रधान मानकर पुरुषार्थ करनेके लिये जोर देना

द्रौपद्युवाच

नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथंचन ।
ईश्वरं कुत एवाहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—कुन्तीनन्दन ! मैं धर्मकी अवहेलना तथा निन्दा किसी प्रकार नहीं कर सकती । फिर समस्त प्रजाओंका पालन करनेवाले परमेश्वरकी अवहेलना तो कर ही कैसे सकती हूँ ॥ १ ॥

आर्ताहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ॥ २ ॥

भारत ! आप ऐसा समझ लें कि मैं शोकसे आर्त होकर प्रलाप कर रही हूँ । मैं इतनेसे ही चुप नहीं रहूँगी और भी विलाप करूँगी । आप प्रसन्नचित्त होकर मेरी बात सुनिये ॥ २ ॥

कर्म खल्विह कर्तव्यं जानतामित्रकर्शन ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥ ३ ॥

शत्रुनाशन ! ज्ञानी पुरुषको भी इस संसारमें कर्म अवश्य करना चाहिये । पर्वत और वृक्ष आदि स्थावर भूत ही बिना कर्म किये जी सकते हैं, दूसरे लोग नहीं ॥ ३ ॥

यावद्गोस्तनपानाच्च यावच्छायोपसेवनात् ।
जन्तवः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! गौओंके बछड़े भी माताका दूध पीते और छायामें जाकर विश्राम करते हैं । इस प्रकार सभी जीव कर्म करके ही जीवननिर्वाह करते हैं ॥ ४ ॥

जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जंगम जीवोंमें विशेषरूपसे मनुष्य कर्मके द्वारा ही इहलोक और परलोकमें जीविका प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत ।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ॥ ६ ॥

भारत ! सभी प्राणी अपने उत्थानको समझते हैं और कर्मोंके प्रत्यक्ष फलका उपभोग करते हैं, जिसका साक्षी सारा जगत् है ॥ ६ ॥

सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः ।
अपि धाता विधाता च यथायमुदके बकः ॥ ७ ॥

यह जलके समीप जो बगुला बैठकर (मछलीके लिये) ध्यान लगा रहा है, उसीके समान ये सभी प्राणी अपने उद्योगका आश्रय लेकर जीवन धारण करते हैं । धाता और विधाता भी सदा सृष्टिपालनके उद्योगमें लगे रहते हैं ॥ ७ ॥

अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन ।
तदेवाभिप्रपद्येत न विहन्यात् कदाचन ॥ ८ ॥

कर्म न करनेवाले प्राणियोंकी कोई जीविका भी सिद्ध नहीं होती । अतः (प्रारब्धका भरोसा करके) कभी कर्मका परित्याग न करे । सदा कर्मका ही आश्रय ले ॥ ८ ॥

स्वकर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः ।
कृतं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नास्ति च ॥ ९ ॥

अतः आप अपना कर्म करें । उससे ग्लानि न करें । कर्मका कवच पहने रहें । जो कर्म करना अच्छी तरह जानता है, ऐसा मनुष्य हजारोंमें एक भी है या नहीं ? यह बताना कठिन है ॥ ९ ॥

तस्य चापि भवेत् कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा ।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात् क्षीयेत हिमवानपि ॥ १० ॥

धनकी वृद्धि और रक्षाके लिये भी कर्मकी आवश्यकता है। यदि धनका उपभोग (व्यय) होता रहे और आय न हो तो हिमालय-जैसी धनराशिका भी क्षय हो सकता है॥१०॥

उत्सीदेरन् प्रजाः सर्वा न कुर्युः कर्म चेद् भुवि ।
तथा ह्येता न वर्धेरन् कर्म चेदफलं भवेत् ॥ ११ ॥

यदि समस्त प्रजा इस भूतलपर कर्म करना छोड़ दे तो सबका संहार हो जाय। यदि कर्मका कुछ फल न हो तो इन प्रजाओंकी वृद्धि ही न हो ॥ ११ ॥

अपि चाप्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान् ।
नान्यथा ह्यपि गच्छन्ति वृत्तिं लोकाः कथंचन ॥ १२ ॥

हम देखती हैं कि लोग व्यर्थ कर्ममें भी लगे रहते हैं, कर्म न करनेपर तो लोगोंकी किसी प्रकार जीविका ही नहीं चल सकती ॥ १२ ॥

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चापि हठवादिकः ।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥ १३ ॥

संसारमें जो केवल भाग्यके भरोसे कर्म नहीं करता अर्थात् जो ऐसा मानता है कि पहले जैसा किया है वैसा ही फल अपने आप ही प्राप्त होगा तथा जो हठवादी है—बिना किसी युक्तिके हठपूर्वक यह मानता है कि कर्म करना अनावश्यक है, जो कुछ मिलना होगा, अपने आप मिल जायगा, वे दोनों ही मूर्ख हैं। जिसकी बुद्धि कर्म (पुरुषार्थ) में रुचि रखती है, वही प्रशंसाका पात्र है ॥ १३ ॥

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं शयेत् ।
अवसीदेत् स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ॥ १४ ॥

जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य प्रारब्ध (भाग्य) का भरोसा रखकर उद्योगसे मुँह मोड़ लेता और सुखसे सोता रहता है, उसका जलमें रखे हुए कच्चे घड़ेकी भाँति विनाश हो जाता है ॥ १४ ॥

तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत् ।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जो हठी और दुर्बुद्धि मानव कर्म करनेमें समर्थ होकर भी कर्म नहीं करता, बैठा रहता है, वह दुर्बल एवं अनाथकी भाँति दीर्घजीवी नहीं होता ॥ १५ ॥

अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः ।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥ १६ ॥

जो कोई पुरुष इस जगत्में अकस्मात् कहींसे धन पा लेता है, उसे लोग हठसे मिला हुआ मान लेते हैं; क्योंकि उसके लिये किसीके द्वारा प्रयत्न किया हुआ नहीं दीखता ॥ १६ ॥

यच्चापि किंचित् पुरुषो दिष्टं नाम भजत्युत ।
दैवेन विधिना पार्थ तद् दैवमिति निश्चितम् ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! मनुष्य जो कुछ भी देवाराधनकी विधिसे अपने भाग्यके अनुसार पाता है, उसे निश्चितरूपसे दैव (प्रारब्ध) कहा गया है ॥ १७ ॥

यत् स्वयं कर्मणा किंचित् फलमाप्नोति पूरुषः ।
प्रत्यक्षमेतल्लोकेषु तत् पौरुषमिति श्रुतम् ॥ १८ ॥

तथा मनुष्य स्वयं कर्म करके जो कुछ फल प्राप्त करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यह सब लोगोंको प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ १८ ॥

स्वभावतः प्रवृत्तो यः प्राप्नोत्यर्थं न कारणात् ।
तत् स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुषसत्तम ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! जो स्वभावसे ही कर्ममें प्रवृत्त होकर धन प्राप्त करता है, किसी कारणवश नहीं, उसके उस धनको स्वाभाविक फल समझना चाहिये ॥ १९ ॥

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात् कर्मणस्तथा ।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत् फलं पूर्वकर्मणाम् ॥ २० ॥

इस प्रकार हठ, दैव, स्वभाव तथा कर्मसे मनुष्य जिन-जिन वस्तुओंको पाता है, वे सब उसके पूर्वकर्मोंके ही फल हैं ॥ २० ॥

धातापि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः ।
विदधाति विभज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ॥ २१ ॥

जगदाधार परमेश्वर भी उपर्युक्त हठ आदि हेतुओंसे जीवोंके अपने-अपने कर्मको ही विभक्त करके मनुष्योंको उनके पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मके फलरूपसे यहाँ प्राप्त कराता है ॥ २१ ॥

यद्ध्ययं पुरुषः किंचित् कुरुते वै शुभाशुभम् ।
तद् धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ २२ ॥

पुरुष यहाँ जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म करता है, उसे ईश्वरद्वारा विहित उसके पूर्वकर्मोंके फलका उदय समझिये ॥ २२ ॥

कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्मणि वर्तते ।
स यथा प्रेरयत्येनं तथायं कुरुतेऽवशः ॥ २३ ॥

यह मानव-शरीर जो कर्ममें प्रवृत्त होता है, वह ईश्वरके कर्मफलसम्पादन-कार्यका साधन है। वे इसे जैसी प्रेरणा देते हैं, यह विवश होकर (स्वेच्छा—प्रारब्धभोगके लिये) वैसा ही करता है ॥ २३ ॥

तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः ।
सर्वभूतानि कौन्तेय कारयत्यवशान्यपि ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! परमेश्वर ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कार्योंमें लगाते और स्वभावके परवश हुए उन प्राणियोंसे कर्म कराते हैं ॥ २४ ॥

मनसार्थान् विनिश्चित्य पश्चात् प्राप्नोति कर्मणा।
बुद्धिपूर्वं स्वयं वीर पुरुषस्तत्र कारणम् ॥ २५ ॥

किंतु वीर ! मनसे अभीष्ट वस्तुओंका निश्चय करके फिर कर्मद्वारा मनुष्य स्वयं बुद्धिपूर्वक उन्हें प्राप्त करता है। अतः पुरुष ही उसमें कारण है ॥ २५ ॥

संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुषर्षभ ।
अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहैतुकी ॥ २६ ॥
तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः ।
धिया धीरो विजानीयादुपायं चास्य सिद्धये ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ ! कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती। गृह एवं नगर आदि सभीकी प्राप्तिमें पुरुष ही कारण है। विद्वान् पुरुष पहले बुद्धिद्वारा यह निश्चय करे कि तिलमें तेल है, गायके भीतर दूध है, और काष्ठमें अग्नि है, तत्पश्चात् उसकी सिद्धिके उपायका निश्चय करे ॥ २६-२७ ॥

ततः प्रवर्तते पश्चात् कारणैस्तस्य सिद्धये ।
तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मजामिह जन्तवः ॥ २८ ॥

तदनन्तर उन्हीं उपायोंद्वारा उस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रवृत्त होना चाहिये। सभी प्राणी इस जगत्में उस कर्मजनित सिद्धिका सहारा लेते हैं ॥ २८ ॥

कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु स्वनुष्ठितम् ।
इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ॥ २९ ॥

योग्य कर्ताके द्वारा किया गया कर्म अच्छे ढंगसे सम्पादित होता है। यह कार्य किसी अयोग्य कर्ताके द्वारा किया गया है, यह बात कार्यकी विशेषतासे अर्थात् परिणामसे जानी जाती है ॥ २९ ॥

इष्टापूर्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत् ।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ॥ ३० ॥

यदि कर्मसाध्य फलोंमें पुरुष (एवं उसका प्रयत्न) कारण न होता अर्थात् वह कर्ता नहीं बनता तो किसीको यज्ञ और कूपनिर्माण आदि कर्मोंका फल नहीं मिलता। फिर तो न कोई किसीका शिष्य होता और न गुरु ही ॥ ३० ॥

कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते ।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्मनाशात् कथं त्विह ॥ ३१ ॥

कर्ता होनेके कारण ही कार्यकी सिद्धिमें पुरुषकी प्रशंसा की जाती है और जब कार्यकी सिद्धि नहीं होती, तब उसकी निन्दा की जाती है। यदि कर्मका सर्वथा नाश ही हो जाय, तो यहाँ कार्यकी सिद्धि ही कैसे हो ॥ ३१ ॥

सर्वमेव हठेनैके दैवेनैके वदन्त्युत ।
पुंसः प्रयत्नजं केचित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ॥ ३२ ॥

कोई तो सब कार्योंको हठसे ही सिद्ध होनेवाला बतलाते हैं। कुछ लोग दैवसे कार्यकी सिद्धिका प्रतिपादन करते हैं तथा कुछ लोग पुरुषार्थको ही कार्यसिद्धिका कारण बताते हैं। इस तरह ये तीन प्रकारके कारण बताये जाते हैं ॥ ३२ ॥

न चैवैतावता कार्यं मन्यन्त इति चापरे ।
अस्ति सर्वमदृश्यं तु दिष्टं चैव तथा हठः ॥ ३३ ॥

दूसरे लोगोंकी मान्यता इस प्रकार है कि मनुष्यके प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं है। अदृश्य दैव (प्रारब्ध) तथा हठ—ये दो ही सब कार्योंके कारण हैं ॥ ३३ ॥

दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चार्थस्य संततिः ।
किंचिद् दैवाद्धठात् किंचित् किंचिदेव स्वभावतः ॥ ३४ ॥
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नात्र कारणम् ।
कुशलाः प्रतिजानन्ति ये वै तत्त्वविदो जनाः ॥ ३५ ॥

क्योंकि यह देखा जाता है कि हठ तथा दैवसे ही कार्योंकी धारावाहिक रूपसे सिद्धि हो रही है। जो लोग तत्त्वज्ञ एवं कुशल हैं, वे प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि मनुष्य कुछ फल दैवसे, कुछ हठसे और कुछ स्वभावसे प्राप्त करता है। इस विषयमें इन तीनोंके सिवा कोई चौथा कारण नहीं है ॥ ३४-३५ ॥

तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः ।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ॥ ३६ ॥

क्योंकि यदि ईश्वर सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्टरूप फल नहीं देते तो उन प्राणियोंमेंसे कोई भी दीन नहीं होता।

यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पूरुषः ।
तत्तत् सफलमेव स्याद् यदि न स्यात् पुरा कृतम् ॥ ३७ ॥

यदि पूर्वकृत प्रारब्ध कर्म प्रभाव डालनेवाला न होता तो मनुष्य जिस-जिस प्रयोजनके अभिप्रायसे कर्म करता, वह सब सफल ही हो जाता ॥ ३७ ॥

त्रिद्वारामर्थसिद्धिं तु नानुपश्यन्ति ये नराः ।
तथैवानर्थसिद्धिं च यथा लोकास्तथैव ते ॥ ३८ ॥

अतः जो लोग अर्थसिद्धि तथा अनर्थकी प्राप्तिमें दैव, हठ और स्वभाव—इन तीनोंको कारण नहीं समझते, वे वैसे ही हैं, जैसे कि साधारण अज्ञ लोग होते हैं ॥ ३८ ॥

कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः ।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ॥ ३९ ॥

किंतु मनुका यह सिद्धान्त है कि कर्म करना ही चाहिये, जो बिल्कुल कर्म छोड़कर निश्चेष्ट हो बैठ रहता है, वह पुरुष पराभवको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर ।
एकान्तफलसिद्धिं तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ॥ ४० ॥

(इसलिये मेरा तो कहना यह है कि) महाराज युधिष्ठिर ! कर्म करनेवाले पुरुषको यहाँ प्रायः फलकी सिद्धि प्राप्त होती

ही है। परंतु जो आलसी है, जिससे ठीक-ठीक कर्तव्यका पालन नहीं हो पाता, उसे कभी फलकी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ ४० ॥

असम्भवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तं तु लक्षयेत्।
कृते कर्मणि राजेन्द्र तथानृण्यमवाप्नुते ॥ ४१॥

यदि कर्म करनेपर भी फलकी उत्पत्ति न हो तो कोई-न-कोई कारण है; ऐसा मानकर प्रायश्चित्त (उसके दोषके समाधान) पर दृष्टि डाले। राजेन्द्र ! कर्मको साङ्गोपाङ्ग कर लेनेपर कर्ता उऋण (निर्दोष) हो जाता है ॥ ४१ ॥

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम्।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥ ४२॥

जो मनुष्य आलस्यके वशमें पड़कर सोता रहता है, उसे दरिद्रता प्राप्त होती है और कार्यकुशल मानव निश्चय ही अभीष्ट फल पाकर ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ ४२ ॥

अनर्थाः संशयावस्थाः सिद्ध्यन्ते मुक्तसंशयाः।
धीरा नराः कर्मरता ननु निःसंशयाः क्वचित् ॥ ४३॥

कर्मका फल होगा या नहीं, इस संशयमें पड़े हुए मनुष्य अर्थसिद्धिसे वञ्चित रह जाते हैं और जो संशयरहित हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है। कर्मपरायण और संशयरहित धीर मनुष्य निश्चय ही कहीं विरले देखे जाते हैं ॥ ४३ ॥

एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु साम्प्रतम्।
स तु निःसंशयं न स्यात् त्वयि कर्मण्यवस्थिते ॥ ४४॥

इस समय हमलोगोंपर राज्यापहरणरूप भारी विपद् आ पड़ी है, यदि आप कर्म (पुरुषार्थ) में तत्परतासे लग जायँ तो निश्चय ही यह आपत्ति टल सकती है ॥ ४४ ॥

अथवा सिद्धिरेव स्यादभिमानं तदेव ते।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ॥ ४५॥

अथवा यदि कार्यकी सिद्धि ही हो जाय, तो वह आपके, भीमसेन और अर्जुनके तथा नकुल-सहदेवके लिये भी विशेष गौरवकी बात होगी ॥ ४५ ॥

अन्येषां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथाफलम् ॥ ४६॥

कर्मोंके कर लेनेपर अन्तमें कर्ताको जैसा फल मिलता है, उसके अनुसार ही यह जाना जा सकता है कि दूसरोंका कर्म सफल हुआ है या हमारा ॥ ४६ ॥

पृथिवीं लाङ्गलेनेह भित्त्वा बीजं वपत्युत।
आस्तेऽथ कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम् ॥ ४७॥
वृष्टिश्चेन्नानुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः।
यदन्यः पुरुषः कुर्यात् तत् कृतं सफलं मया ॥ ४८॥
तच्चेदं फलमस्माकमपराधो न मे क्वचित्।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नात्मानं तत्र गर्हयेत् ॥ ४९॥

किसान हलसे पृथ्वीको चीरकर उसमें बीज बोता है और फिर चुपचाप बैठा रहता है; क्योंकि उसे सफल बनानेमें मेघ कारण हैं। यदि वृष्टिने अनुग्रह नहीं किया तो उसमें किसानका कोई दोष नहीं है। वह किसान मन-ही-मन यह सोचता है कि दूसरे लोग जोतने-बोनेका जो सफल कार्य जैसे करते हैं, वह सब मैंने भी किया है। उस दशामें यदि मुझे ऐसा प्रतिकूल फल मिला तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है—ऐसा विचार करके उस असफलताके लिये वह बुद्धिमान् किसान अपनी निन्दा नहीं करता ॥ ४७–४९ ॥

कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत।
निर्वेदो नात्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम् ॥ ५० ॥

भारत ! पुरुषार्थ करनेपर भी यदि अपनेको सिद्धि न प्राप्त हो तो इस बातको लेकर मन-ही-मन खिन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि फलकी सिद्धिमें पुरुषार्थके सिवा दो और भी कारण हैं—प्रारब्ध और ईश्वर-कृपा ॥ ५० ॥

सिद्धिर्वाप्यथवासिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्म सिद्ध्यति ॥ ५१ ॥

महाराज ! कार्यमें सिद्धि प्राप्त होगी या असिद्धि, ऐसा संदेह मनमें लेकर आप कर्ममें प्रवृत्त ही न हों, यह उचित नहीं है; क्योंकि बहुत-से कारण एकत्र होनेपर ही कर्ममें सफलता मिलती है ॥ ५१ ॥

गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव च।
अनारम्भे हि न फलं न गुणो दृश्यते क्वचित् ॥ ५२॥

कर्मोंमें किसी अङ्गकी कमी रह जानेपर थोड़ा फल हो सकता है। यह भी सम्भव है कि फल हो ही नहीं। परंतु कर्मका आरम्भ ही न किया जाय तब तो न कहीं फल दिखायी देगा और न कर्ताका कोई गुण (शौर्य आदि) ही दृष्टिगोचर होगा ॥ ५२ ॥

देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्तिवृद्धये।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ ५३॥

धीर मनुष्य मङ्गलमय कल्याणकी वृद्धिके लिये अपनी बुद्धिके द्वारा शक्ति तथा बलका विचार करते हुए देश-कालके अनुसार साम-दाम आदि उपायोंका प्रयोग करे ॥ ५३ ॥

अप्रमत्तेन तत् कार्यमुपदेष्टा पराक्रमः।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु दृष्ट एव पराक्रमः ॥ ५४ ॥

सावधान होकर देश-कालके अनुरूप कार्य करे। इसमें पराक्रम ही उपदेशक (प्रधान) है। कार्यकी समस्त युक्तियोंमें पराक्रम ही सबसे श्रेष्ठ समझा गया है ॥ ५४ ॥

यत्र धीमानवेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः।
साम्नैवार्थं ततो लिप्सेत् कर्म चास्मै प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥

जहाँ बुद्धिमान् पुरुष शत्रुको अनेक गुणोंसे श्रेष्ठ देखे

वहाँ सामनीतिसे ही काम बनानेकी इच्छा करे और उसके लिये जो सन्धि आदि आवश्यक कर्तव्य हो, करे ॥ ५५ ॥

व्यसनं वास्य काङ्क्षेत विवासं वा युधिष्ठिर।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किं पुनर्मर्त्यधर्मिणः ॥ ५६ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! अथवा शत्रुपर कोई भारी संकट आने या देशसे उसके निकाले जानेकी प्रतीक्षा करे; क्योंकि अपना विरोधी यदि समुद्र अथवा पर्वत हो तो उसपर भी विपत्ति लानेकी इच्छा रखनी चाहिये, फिर जो मरणधर्मा मनुष्य है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ५६ ॥

उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्यात्मन एव च ॥ ५७ ॥

शत्रुओंके छिद्रका अन्वेषण करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहे। ऐसा करनेसे वह अपनी और दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें भी निर्दोष होता है ॥ ५७ ॥

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥ ५८ ॥

मनुष्य कभी अपने आपका अनादर न करे—अपने आपको छोटा न समझे। जो स्वयं ही अपना अनादर करता है, उसे उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५८ ॥

एवंसंस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत।
तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ॥ ५९ ॥

भारत ! लोकको इसी प्रकार कार्यसिद्धि प्राप्त होती है—कार्यसिद्धिकी यही व्यवस्था है। काल और अवस्थाके विभागके अनुसार शत्रुकी दुर्बलताके अन्वेषणका प्रयत्न ही सिद्धिका मूल कारण है ॥ ५९ ॥

ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम्।
सोऽपि सर्वामिमां प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ॥ ६० ॥
नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन् मेऽग्राहयत् पुरा।
तेषां सकाशादश्रौषमहमेतां तदा गृहे ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें मेरे पिताजीने अपने घरपर एक विद्वान् ब्राह्मणको ठहराया था। उन्होंने ही पिताजीसे बृहस्पतिजीकी बतायी हुई इस सम्पूर्ण नीतिका प्रतिपादन किया था और मेरे भाइयोंको भी इसीकी शिक्षा दी थी। उस समय अपने भाइयोंके निकट रहकर घरमें ही मैंने भी उस नीतिको सुना था ॥ ६०-६१ ॥

स मां राजन् कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन्।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ॥ ६२ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! मैं उस समय किसी कार्यसे पिताके पास आयी थी और यह सब सुननेकी इच्छासे उनकी गोदमें बैठ गयी थी। तभी उन ब्राह्मण देवताने मुझे सान्त्वना देते हुए इस नीतिका उपदेश किया था ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पुरुषार्थकी प्रशंसा करना और युधिष्ठिरको उत्तेजित करते हुए क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध छेड़नेका अनुरोध

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः।
निःश्वसन्नुपसंगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रुपदकुमारीका वचन सुनकर अमर्षमें भरे हुए भीमसेन क्रोधपूर्वक उच्छ्वास लेते हुए राजाके पास आये और इस प्रकार कहने लगे—॥ १ ॥

राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम्।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥ २ ॥

'महाराज ! श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित और धर्मके अनुकूल जो राज्य-प्राप्तिका मार्ग (उपाय) हो, उसका आश्रय लीजिये। धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंसे वञ्चित होकर इस तपोवनमें निवास करनेपर हमारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ २ ॥

नैव धर्मेण तद् राज्यं नार्जवेन न चौजसा।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥ ३ ॥

'दुर्योधनने धर्मसे, सरलतासे और बलसे भी हमारे राज्यको नहीं लिया है; उसने तो कपटपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उसका हरण कर लिया है ॥ ३ ॥

गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम्।
आमिषं विघसाशेन तद्वद् राज्यं हि नो हृतम् ॥ ४ ॥

'बचे हुए अन्नको खानेवाले दुर्बल गीदड़ जैसे अत्यन्त बलिष्ठ सिंहोंका भोजन हर लें, उसी प्रकार शत्रुओंने हमारे राज्यका अपहरण किया है ॥ ४ ॥

धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन् दुःखेषु परितप्यसे ॥ ५ ॥

'महाराज ! धर्म और कामके उत्पादक राज्य और धनको खोकर लेशमात्र धर्मसे आवृत हुए अब आप क्यों दुःखसे संतप्त हो रहे हैं ? ॥ ५ ॥

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम् ।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥ ६ ॥

'गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हमारे राज्यको इन्द्र भी नहीं छीन सकते थे, परंतु आपकी असावधानीसे वह हमारे देखते-देखते छिन गया ॥ ६ ॥

कुणीनामिव बिल्वानि पङ्गूनामिव धेनवः ।
हृतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ७ ॥

'जैसे लूलोंके पाससे उनके बेल-फल और पंगुओंके निकटसे उनकी गायें छिन जाती हैं और वे जीवित रहकर भी कुछ कर नहीं पाते, उसी प्रकार आपके कारण जीते-जी हमारे राज्यका अपहरण कर लिया गया ॥ ७ ॥

भवतः प्रियमित्येवं महद् व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ॥ ८ ॥

'भारत ! आप धर्मकी इच्छा रखनेवाले हैं; इस रूपमें आपकी प्रसिद्धि है । अतः आपकी प्रिय अभिलाषा सिद्ध हो, इसीलिये हमलोग ऐसे महान् संकटमें पड़ गये हैं ॥ ८ ॥

कर्शयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ॥ ९ ॥

'भरतकुलभूषण ! आपके शासनसे अपने-आपको नियन्त्रणमें रखकर आज हमलोग अपने मित्रोंको दुखी और शत्रुओंको सुखी बना रहे हैं ॥ ९ ॥

यद् वयं न तदैवैतान् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ॥ १० ॥

'आपके शासनको मानकर जो हमलोगोंने उसी समय इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार नहीं डाला, वह दुष्कर्म हमें आज भी संताप दे रहा है ॥ १० ॥

अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्यामिवात्मनः ।
दुर्बलाचरितां राजन् न बलस्थैर्निषेविताम् ॥ ११ ॥

'राजन् ! मृगोंके समान अपनी इस वनचर्यापर ही दृष्टिपात कीजिये । दुर्बल मनुष्य ही इस प्रकार वनमें रहकर समय विताते हैं । बलवान् मनुष्य वनवासका सेवन नहीं करते ॥ ११ ॥

यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाभिमन्युर्न सृंजयाः ।
न चाहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ॥ १२ ॥

'श्रीकृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु, सृञ्जयवंशी वीर, मैं और ये नकुल-सहदेव—कोई भी इस वनचर्याको पसंद नहीं करते ॥ १२ ॥

भवान् धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः ।
कच्चिद् राजन् न निर्वेदादापन्नः क्लीवजीविकाम् ॥ १३ ॥

'राजन् ! आप 'यह धर्म है, यह धर्म है', ऐसा कहकर सदा व्रतोंका पालन करके कष्ट उठाते रहते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप वैराग्यके कारण साहसशून्य हो नपुंसकोंका-सा जीवन व्यतीत करने लगे हों ? ॥ १३ ॥

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं स्वार्थघातकम् ।
अशक्ताः श्रियमाहर्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम् ॥ १४ ॥

'अपनी खोयी हुई राज्यलक्ष्मीका उद्धार करनेमें असमर्थ दुर्बल मनुष्य ही निष्फल और स्वार्थनाशक वैराग्यका आश्रय लेते हैं और उसीको प्रिय मानते हैं ॥ १४ ॥

स भवान् दृष्टिमाञ्छक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम् ।
आनृशंस्यपरो राजन् नानर्थमवबुध्यसे ॥ १५ ॥

'राजन् ! आप समझदार, दूरदर्शी और शक्तिशाली हैं, हमारे पुरुषार्थको देख चुके हैं; तो भी इस प्रकार दयाको अपनाकर इससे होनेवाले अनर्थको नहीं समझ रहे हैं ॥ १५ ॥

अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः ।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद् दुःखं नाहवे वधः ॥ १६ ॥

'हम शत्रुओंके अपराधको क्षमा करते जा रहे हैं, इसलिये समर्थ होते हुए भी हमें ये धृतराष्ट्रके पुत्र निर्बल-से मानने लगे हैं, यही हमारे लिये महान् दुःख है; युद्धमें मारा जाना कोई दुःख नहीं है ॥ १६ ॥

तत्र चेद् युध्यमानानामजिह्ममनिवर्तिनाम् ।
सर्वशो हि वधः श्रेयान् प्रेत्य लोकान् लभेमहि ॥ १७ ॥

'ऐसी दशामें यदि हम पीठ न दिखाकर युद्धमें निष्कपट भावसे लड़ते रहें और उसमें हमारा वध भी हो जाय, तो वह कल्याणकारक है ; क्योंकि युद्धमें मरनेसे हमें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी ॥ १७ ॥

अथवा वयमेवैतान् निहत्य भरतर्षभ ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ॥ १८ ॥

'अथवा भरतश्रेष्ठ ! यदि हम ही इन शत्रुओंको मारकर सारी पृथ्वी ले लें तो वही हमारे लिये कल्याणकर है ॥ १८ ॥

सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
काङ्क्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ॥ १९ ॥

'हम अपने क्षत्रिय-धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न हो वैरका बदला लेना चाहते हैं और संसारमें महान् यशका विस्तार करनेकी अभिलाषा रखते हैं, अतः हमारे लिये सब प्रकारसे युद्ध करना ही उचित है ॥ १९ ॥

आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे ।
अन्यैरपि हृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ॥ २० ॥

'शत्रुओंने हमारे राज्यको छीन लिया है, ऐसे अवसरपर यदि हम अपने कर्तव्यको समझकर अपने लाभके लिये ही युद्ध करें तो भी इसके लिये जगत्‌में हमारी प्रशंसा ही होगी, निन्दा नहीं होगी ॥ २० ॥

कर्शनार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद् राजन् न धर्मः स कुधर्म तत् ॥ २१ ॥

'महाराज ! जो धर्म अपने तथा मित्रोंके लिये क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो, वह तो संकट ही है । वह धर्म नहीं, कुधर्म है ॥ २१ ॥

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ॥ २२ ॥

'तात ! जैसे मुर्दोंको दुःख और सुख दोनों नहीं होते, उसी प्रकार जो सर्वथा और सर्वदा धर्ममें ही तत्पर रहकर उसके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गया है, उसे धर्म और अर्थ दोनों त्याग देते हैं ॥ २२ ॥

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ् न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ॥ २३ ॥

जिसका धर्म केवल धर्मके लिये ही होता है, वह धर्मके नामपर केवल क्लेश उठानेवाला मानव बुद्धिमान् नहीं है । जैसे अन्धा सूर्यकी प्रभाको नहीं जानता, उसी प्रकार वह धर्मके अर्थको नहीं समझता है ॥ २३ ॥

यस्य चार्थार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः ।
रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः ॥ २४ ॥

'जिसका धन केवल धनके ही लिये है, दान आदिके लिये नहीं है, वह धनके तत्त्वको नहीं जानता । जैसे सेवक (ग्वालिया) वनमें गौओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी उस धनका दूसरेके लिये रक्षकमात्र है ॥ २४ ॥

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥ २५ ॥

'जो केवल अर्थके ही संग्रहकी अत्यन्त इच्छा रखनेवाला है और धर्म एवं कामका अनुष्ठान नहीं करता है, वह ब्रह्म-हत्यारेके समान घृणाका पात्र है और सभी प्राणियोंके लिये वध्य है ॥ २५ ॥

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते ॥ २६ ॥

'इसी प्रकार जो निरन्तर कामकी ही अभिलाषा रखकर धर्म और अर्थका सम्पादन नहीं करता, उसके मित्र नष्ट हो जाते हैं (उसको त्यागकर चल देते हैं) और वह धर्म एवं अर्थ दोनोंसे वञ्चित ही रह जाता है ॥ २६ ॥

तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाम्भसः क्षये ॥ २७ ॥

'जैसे पानी सूख जानेपर उसमें रहनेवाली मछलियोंकी मृत्यु निश्चित है, उसी प्रकार जो धर्म-अर्थसे हीन होकर केवल काममें ही रमण करता है, उस काम (भोगसामग्री) की समाप्ति होनेपर उसकी भी अवश्य मृत्यु हो जाती है ॥ २७ ॥

तस्माद् धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्यारणिर्यथा ॥ २८ ॥

'इसलिये विद्वान् पुरुष कभी धर्म और अर्थके सम्पादनमें प्रमाद नहीं करते हैं । धर्म और अर्थ कामकी उत्पत्तिके स्थान हैं (अर्थात् धर्म और अर्थसे ही कामकी सिद्धि होती है) जैसे अरणि अग्निका उत्पत्तिस्थान है ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥ २९ ॥

'अर्थका कारण है धर्म और धर्म सिद्ध होता है अर्थ-संग्रहसे । जैसे मेघसे समुद्रकी पुष्टि होती है और समुद्रसे मेघकी पूर्ति । इस प्रकार धर्म और अर्थको एक-दूसरेके आश्रित समझना चाहिये ॥ २९ ॥

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ॥ ३० ॥

'स्त्री, माला, चन्दन आदि द्रव्योंके स्पर्श और सुवर्ण आदि धनके लाभसे जो प्रसन्नता होती है, उसके लिये जो चित्तमें संकल्प उठता है, उसीका नाम काम है । उस कामका शरीर नहीं देखा जाता (इसीलिये वह 'अनङ्ग' कहलाता है) ॥ ३० ॥

अर्थार्थी पुरुषो राजन् बृहन्तं धर्ममिच्छति ।
अर्थमिच्छति कामार्थी न कामादन्यमिच्छति ॥ ३१ ॥

'राजन् ! धनकी इच्छा रखनेवाला पुरुष महान् धर्मकी अभिलाषा रखता है और कामार्थी मनुष्य धन चाहता है । जैसे धर्मसे धनकी और धनसे कामकी इच्छा करता है, उस प्रकार वह कामसे किसी दूसरी वस्तुकी इच्छा नहीं करता है ॥ ३१ ॥

न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत् ।
उपयोगात् फलस्यैव काष्ठाद् भस्मेव पण्डितैः ॥ ३२ ॥

'जैसे फल उपभोगमें आकर कृतार्थ हो जाता है, उससे दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता तथा जिस प्रकार काष्ठसे भस्म बन सकता है, परंतु उस भस्मसे दूसरा कोई पदार्थ नहीं बन सकता; इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष एक कामसे किसी दूसरे कामकी सिद्धि नहीं मानते, क्योंकि वह साधन नहीं, फल ही है ॥ ३२ ॥

इमाञ्छकुनकान् राजन् हन्ति वैतंसिको यथा ।
एतद् रूपमधर्मस्य भूतेषु हि विहिंसता ॥ ३३ ॥

कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रकृतिं यो न पश्यति।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ॥ ३४ ॥

'राजन्! जैसे पक्षियोंको मारनेवाला व्याध इन पक्षियोंको मारता है, यह विशेष प्रकारकी हिंसा ही अधर्मका स्वरूप है (अतः वह हिंसक सबके लिये वध्य है)। वैसे ही जो खोटी बुद्धि-वाला मनुष्य काम और लोभके वशीभूत होकर धर्मके स्वरूपको नहीं जानता, वह इहलोक और परलोकमें भी सब प्राणियोंका वध्य होता है ॥ ३३-३४ ॥

व्यक्तं ते विदितो राजन्नर्थो द्रव्यपरिग्रहः।
प्रकृतिं चापि वेत्थास्य विकृतिं चापि भूयसीम् ॥ ३५ ॥

'राजन्! आपको यह अच्छी तरह ज्ञात है कि धनसे ही भोग्य-सामग्रीका संग्रह होता है। धनका जो कारण है, उससे भी आप परिचित हैं और धनके द्वारा जो बहुत-से कार्य सिद्ध होते हैं, उसे भी आप जानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्य नाशे विनाशे वा जरया मरणेन वा।
अनर्थ इति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्तते ॥ ३६ ॥

'उस धनका अभाव होनेपर अथवा प्राप्त हुए धनका नाश होनेपर अथवा स्त्री आदि धनके जरा-जीर्ण एवं मृत्यु-ग्रस्त होनेपर मनुष्यकी जो दशा होती है, उसीको सब लोग अनर्थ मानते हैं। वही इस समय हमलोगोंको भी प्राप्त हुआ है ॥

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ॥ ३७ ॥
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम्।

'पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धिकी अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेके समय जो प्रीति होती है, वही मेरी समझमें काम है। वह कर्मोंका उत्तम फल है ॥ ३७½ ॥

एवमेव पृथग् दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च ॥ ३८ ॥
न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान् सेवेत सर्वदा ॥ ३९ ॥
धर्मं पूर्वं धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत्।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४० ॥

'इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम तीनोंको पृथक्-पृथक् समझकर मनुष्य केवल धर्म, केवल अर्थ अथवा केवल कामके ही सेवनमें तत्पर न रहे। उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करे, जिससे इनमें विरोध न हो। इस विषयमें शास्त्रोंका यह विधान है कि दिनके पूर्वभागमें धर्मका, दूसरे भागमें अर्थका और अन्तिम भागमें कामका सेवन करे ॥ ३८-४० ॥

कामं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत्।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४१ ॥

'इसी प्रकार अवस्था-क्रममें शास्त्रका विधान यह है कि आयुके पूर्वभागमें (युवावस्थामें) कामका, मध्यभाग (प्रौढ़-अवस्था) में धनका तथा अन्तिमभाग (वृद्ध-अवस्था)में धर्मका पालन करे ॥ ४१ ॥

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ॥ ४२ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ! उचित कालका ज्ञान रखनेवाला विद्वान् पुरुष धर्म, अर्थ और काम तीनोंका यथावत् विभाग करके उपयुक्त समयपर उन सबका सेवन करे ॥ ४२ ॥

मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् सुखार्थिनाम्।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
तद् वाऽऽशु क्रियतां राजन् प्राप्तिर्वाप्यधिगम्यताम्।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः ॥ ४४ ॥

'कुरुनन्दन! निरतिशय सुखकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंके लिये यह मोक्ष ही परम कल्याणप्रद है। राजन्! इसी प्रकार लौकिक सुखकी इच्छावालोंके लिये धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्ति ही परम श्रेय है। अतः महाराज! भक्ति और योगसहित ज्ञानका आश्रय लेकर आप शीघ्र ही या तो मोक्षकी प्राप्ति कर लीजिये अथवा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्तिके उपायका अवलम्बन कीजिये। जो इन दोनोंके बीचमें रहता है, उसका जीवन तो आर्त मनुष्यके समान दुःखमय ही है ॥ ४३-४४ ॥

विदितश्चैव मे धर्मः सततं चरितश्च ते।
जानन्तस्त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्मचोदनाम् ॥ ४५ ॥

'मुझे मालूम है कि आपने सदा धर्मका ही आचरण किया है, इस बातको जानते हुए भी आपके हितैषी, सगे-सम्बन्धी आपको (धर्मयुक्त) कर्म एवं पुरुषार्थके लिये ही प्रेरित करते हैं ॥ ४५ ॥

दानं यज्ञाः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम्।
एष धर्मः परो राजन् बलवान् प्रेत्य चेह च ॥ ४६ ॥

'महाराज! इहलोक और परलोकमें भी दान, यज्ञ, संतोंका आदर, वेदोंका स्वाध्याय और सरलता आदि ही उत्तम एवं प्रबल धर्म माने गये हैं ॥ ४६ ॥

एष नार्थविहीनेन शक्यो राजन् निषेवितुम्।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ॥ ४७ ॥

'पुरुषसिंह राजन्! यद्यपि मनुष्यमें दूसरे सभी गुण मौजूद हों तो भी यह यज्ञ आदि रूप धर्म धनहीन पुरुषके द्वारा नहीं सम्पादित किया जा सकता ॥ ४७ ॥

धर्ममूलं जगद् राजन् नान्यद् धर्माद् विशिष्यते।
धर्मश्चार्थेन महता शक्यो राजन् निषेवितुम् ॥ ४८ ॥

'महाराज! इस जगत्का मूल कारण धर्म ही है। इस जगत्में धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उस धर्मका अनुष्ठान भी महान् धनसे ही हो सकता है ॥ ४८ ॥

न चार्थो भैक्ष्यचर्येण नापि क्लैब्येन कर्हिचित्।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन् केवलं धर्मबुद्धिना ॥ ४९ ॥

'राजन्! भीख माँगनेसे, कायरता दिखानेसे अथवा केवल धर्ममें ही मन लगाये रहनेसे धनकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥

प्रतिषिद्धा हि ते याच्ञा यया सिद्ध्यति वै द्विजः।
तेजसैवार्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ॥ ५० ॥

'नरश्रेष्ठ! ब्राह्मण जिस याचनाके द्वारा कार्यसिद्धि कर लेता है वह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि क्षत्रियके लिये उसका निषेध है। अतः आप अपने तेजके द्वारा ही धन पानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ५० ॥

भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥ ५१ ॥

'क्षत्रियके लिये न तो भीख माँगनेका विधान है और न वैश्य और शूद्रकी जीविका करनेका ही। उसके लिये तो बल और उत्साह ही विशेष धर्म हैं ॥ ५१ ॥

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून् समागतान्।
धार्तराष्ट्रवनं पार्थ मया पार्थेन नाशय ॥ ५२ ॥

'पार्थ! अपने धर्मका आश्रय लीजिये, प्राप्त हुए शत्रुओंका वध कीजिये। मेरे तथा अर्जुनके द्वारा धृतराष्ट्रपुत्ररूपी जंगलको कटवा डालिये ॥ ५२ ॥

उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि ॥ ५३ ॥

'मनीषी विद्वान् दानशीलताको ही धर्म कहते हैं, अतः आप उस दानशीलताको ही प्राप्त कीजिये। आपको इस दयनीय अवस्थामें नहीं रहना चाहिये ॥ ५३ ॥

अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान् सनातनान्।
क्रूरकर्माभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥ ५४ ॥

'महाराज! आप सनातन धर्मोंको जानते हैं, आप कठोर कर्म करनेवाले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जिससे सबलोग भयभीत रहते हैं; अतः अपने स्वरूप और कर्तव्यकी ओर ध्यान दीजिये ॥ ५४ ॥

प्रजापालनसम्भूतं फलं तव न गर्हितम्।
एष ते विहितो राजन् धात्रा धर्मः सनातनः ॥ ५५ ॥

'जब आप राज्य प्राप्त कर लेंगे, उस समय प्रजापालनरूप धर्मसे आपको जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होगी, वह आपके लिये गर्हित नहीं होगा। महाराज! विधाताने आप-जैसे क्षत्रियका यही सनातन धर्म नियत किया है ॥ ५५ ॥

तस्मादपचितः पार्थ लोके हास्यं गमिष्यसि।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ॥ ५६ ॥

'पार्थ! उस धर्मसे हीन होनेपर तो संसारमें उपहासके पात्र हो जायँगे। मनुष्योंका अपने धर्मसे होना कुछ प्रशंसाकी बात नहीं है ॥ ५६ ॥

स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः।
वीर्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥ ५७ ॥

'कुरुनन्दन! अपने हृदयको क्षत्रियोचित उत्साहसे मनकी इस शिथिलताको दूर करके पराक्रमका आश्रय ले एक धुरन्धर वीर पुरुषकी भाँति युद्धका भार वहन कीजि

न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन।
पार्थिवो व्यजयद् राजन् न भूतिं न पुनः श्रियम् ॥ ५८ ॥

'महाराज! केवल धर्ममें ही लगे रहनेवाले किसी भी आजतक न तो कभी पृथ्वीपर विजय पायी है और न ऐ तथा लक्ष्मीको ही प्राप्त किया है ॥ ५८ ॥

जिह्वां दत्त्वा बहूनां हि क्षुद्राणां लुब्धचेतसाम्।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ॥ ५९ ॥

'जैसे बहेलिया लुब्ध हृदयवाले छोटे-छोटे मृगोंको खानेकी वस्तुओंका लोभ देकर छलसे उन्हें पकड़ लेता उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा शत्रुओंके प्रति कूटनीतिका प्र करके उनसे राज्यको प्राप्त कर लेता है ॥ ५९ ॥

भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पार्थिवर्षभ ॥ ६० ॥

'नृपश्रेष्ठ! आप जानते हैं कि असुरगण देवताओंके भाई हैं, उनसे पहले उत्पन्न हुए हैं और सब प्रकारसे सम शाली हैं तो भी देवताओंने छलसे उन्हें जीत लिया ॥ ६०

एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते।
जहि शत्रून् महाबाहो परां निकृतिमास्थितः ॥ ६१ ॥

'महाराज! महाबाहो! इस प्रकार बलवान्का ही स अधिकार होता है, यह समझकर आप भी कूटनीतिका आ ले अपने शत्रुओंको मार डालिये ॥ ६१ ॥

न ह्यर्जुनसमः कश्चिद् युधि योद्धा धनुर्धरः।
भविता वा पुमान् कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः ॥ ६२ ॥

'युद्धमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर अथवा मेरे स गदाधारी योद्धा न तो है और न आगे होनेकी ही सम्भा है ॥ ६२ ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि।
अप्रमादी महोत्साही सत्त्वस्थो भव पाण्डव ॥ ६३ ॥

'पाण्डुनन्दन! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मब ही युद्ध करता है, इसलिये आप सावधानीपूर्वक महान् उ और आत्मबलका आश्रय लीजिये ॥ ६३ ॥

सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ॥ ६४ ॥

'आत्मबल ही धनका मूल है, इसके विपरीत जो कुछ है, वह मिथ्या है; क्योंकि हेमन्त ऋतुमें वृक्षोंकी छायाके समान वह आत्माकी दुर्बलता किसी भी कामकी नहीं है ॥ ६४ ॥

अर्थत्यागोऽपि कार्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।
बीजौपम्येन कौन्तेय मा ते भूदत्र संशयः ॥ ६५ ॥

'कुन्तीकुमार ! जैसे किसान अधिक अन्नराशि उपजानेकी लालसासे धान्य आदिके अल्प बीजोंका भूमिमें परित्याग कर देता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ अर्थ पानेकी इच्छासे अल्प अर्थका त्याग किया जा सकता है। आपको इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥

अर्थेन तु समो नार्थो यत्र लभ्येत नोदयः ।
न तत्र विपणः कार्यः खरकण्डूयनं हि तत् ॥ ६६ ॥

जहाँ अर्थका उपयोग करनेपर उससे अधिक या समान अर्थकी प्राप्ति न हो वहाँ उस अर्थको नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि वह (परस्पर) गधोंके शरीरको खुजलानेके समान व्यर्थ है ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र धर्मं त्यक्त्वाल्पकं नरः ।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितम् ॥ ६७ ॥

'नरेश्वर ! इसी प्रकार जो मनुष्य अल्प धर्मका परित्याग करके महान् धर्मकी प्राप्ति करता है, वह निश्चय ही बुद्धिमान् है ॥ ६७ ॥

अमित्रं मित्रसम्पन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः ।
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं दुर्बलं कुर्वते वशम् ॥ ६८ ॥

'मित्रोंसे सम्पन्न शत्रुको विद्वान् पुरुष अपने मित्रोंद्वारा भेदनीतिसे उसमें और उसके मित्रोंमें फूट डाल देते हैं, फिर भेदभाव होनेपर मित्र जब उसको त्याग देते हैं, तब वे उस दुर्बल शत्रुको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ६८ ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ॥ ६९ ॥

'राजन् ! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मबलसे ही युद्ध करता है, वह किसी अन्य प्रयत्नसे या प्रशंसाद्वारा सब प्रजाको अपने वशमें नहीं करता ॥ ६९ ॥

सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥ ७० ॥

'जैसे मधुमक्खियाँ संगठित होकर मधु निकालनेवालेको मार डालती हैं, उसी प्रकार सर्वथा संगठित रहनेवाले दुर्बल मनुष्योंद्वारा बलवान् शत्रु भी मारा जा सकता है ॥ ७० ॥

यथा राजन् प्रजाः सर्वाः सूर्यः पाति गभस्तिभिः ।
अत्ति चैव तथैव त्वं सदृशः सवितुर्भव ॥ ७१ ॥

'राजन् ! जैसे भगवान् सूर्य पृथ्वीके रसको ग्रहण करते और अपनी किरणोंद्वारा वर्षा करके उन सबकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी प्रजाओंसे कर लेकर उनकी रक्षा करते हुए सूर्यके ही समान हो जाइये ॥ ७१ ॥

एतच्चापि तपो राजन् पुराणमिति नः श्रुतम् ।
विधिना पालनं भूमेर्यत् कृतं नः पितामहैः ॥ ७२ ॥

'राजेन्द्र ! हमारे बाप-दादोंने जो किया है, वह धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन भी प्राचीनकालसे चला आनेवाला तप ही है; ऐसा हमने सुना है ॥ ७२ ॥

न तथा तपसा राजँल्लोकान् प्राप्नोति क्षत्रियः ।
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ॥ ७३ ॥

'धर्मराज ! क्षत्रिय तपस्याके द्वारा वैसे पुण्यलोकोंको नहीं प्राप्त होता, जिन्हें वह अपने लिये विहित युद्धके द्वारा विजय अथवा मृत्युको अङ्गीकार करनेसे प्राप्त करता है ॥ ७३ ॥

अपेयात् किल भाः सूर्याल्लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा ।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ॥ ७४ ॥

'आपपर जो यह संकट आया है, इस असम्भव-सी घटनाको देखकर लोग यह निश्चयपूर्वक मानने लगे हैं कि सूर्यसे उसकी प्रभा और चन्द्रमासे उसकी चाँदनी भी दूर हो सकती है ॥ ७४ ॥

भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च ।
कथायुक्ताः परिषदः पृथग् राजन् समागताः ॥ ७५ ॥

'राजन् ! साधारण लोग भिन्न-भिन्न सभाओंमें सम्मिलित होकर अथवा अलग-अलग समूह-के-समूह इकट्ठे होकर आपकी प्रशंसा और दुर्योधनकी निन्दासे ही सम्बन्ध रखनेवाली बातें करते हैं ॥ ७५ ॥

इदमभ्यधिकं राजन् ब्राह्मणाः कुरवश्च ते ।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसंधताम् ॥ ७६ ॥

'महाराज ! इसके सिवा, यह भी सुननेमें आया है कि ब्राह्मण और कुरुवंशी एकत्र होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ आपकी सत्यप्रतिज्ञताका वर्णन करते हैं ॥ ७६ ॥

यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्न भयादपि ।
अनृतं किंचिदुक्तं ते न कामान्नार्थकारणात् ॥ ७७ ॥

'उनका कहना है कि आपने कभी न तो मोहसे, न दीनतासे, न लोभसे, न भयसे, न कामनासे और न धनके ही कारणसे किंचिन्मात्र भी असत्य भाषण किया है ॥ ७७ ॥

यदेनः कुरुते किंचिद् राजा भूमिमवाप्नुवन् ।
सर्वं तन्नुदते पश्चाद् यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ७८ ॥

'राजा पृथ्वीको अपने अधिकारमें करते समय युद्धजनित हिंसा आदिके द्वारा जो कुछ पाप करता है, वह सब राज्य-प्राप्तिके पश्चात् भारी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा नष्ट कर देता है ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददद् ग्रामान् गाश्च राजन् सहस्रशः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्य इव चन्द्रमाः ॥ ७९ ॥

'जनेश्वर ! ब्राह्मणोंको बहुत-से गाँव और सहस्रों गौएँ दानमें देकर राजा अपने समस्त पापोंसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे चन्द्रमा अन्धकारसे ॥ ७९ ॥

पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन।
सवृद्धबालसहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ॥ ८० ॥

'कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! प्रायः नगर और जनपदमें निवास करनेवाले आबालवृद्ध सब लोग आपकी प्रशंसा करते हैं ॥८०॥

श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा।
सत्यं स्तेने बलं नार्यां राज्यं दुर्योधने तथा ॥ ८१ ॥

'कुत्तेके चमड़ेकी कुप्पीमें रक्खा हुआ दूध, शूद्रमें स्थित वेद, चोरमें सत्य और नारीमें स्थित बल जैसे अनुचित है, उसी प्रकार दुर्योधनमें स्थित राजत्व भी संगत नहीं है॥८१॥

इति लोके निर्वचनं पुरश्चरति भारत।
अपि चैताः स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमधिकुर्वते ॥ ८२ ॥

'भारत ! लोकमें यह उपर्युक्त सत्य प्रवाद पहलेसे चला आ रहा है। स्त्रियाँ और बच्चेतक इसे नित्य किये जानेवाले पाठकी तरह दुहराते रहते हैं ॥ ८२ ॥

इमामवस्थां च गते सहास्माभिररिंदम।
हन्त नष्टाः स्म सर्वे वै भवतोपद्रवे सति ॥ ८३ ॥

'शत्रुदमन ! बड़े दुःखकी बात है कि हमारे साथ ही आज आप इस दुरवस्थामें पहुँच गये हैं और आपहीके कारण ऐसा उपद्रव आया कि हम सब लोग नष्ट हो गये ॥ ८३ ॥

स भवान् रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम्।
त्वरमाणोऽभिनिर्यातु विप्रेभ्योऽर्थविभावकः ॥ ८४ ॥

'महाराज ! आप विजयमें प्राप्त हुए धनका ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये अस्त्र-शस्त्र आदि सभी आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित रथपर बैठकर शीघ्र यहाँसे युद्धके लिये निकलिये ॥

वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम्।
अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ॥ ८५ ॥
आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा।
अमित्रांस्तेजसा मृद्नन्नसुरानिव वृत्रहा।
श्रियमादत्स्व कौन्तेय धार्तराष्ट्रान् महाबल ॥

'जैसे सर्पोंके समान भयंकर शूरवीर देवताओंसे घिरे वृत्रनाशक इन्द्र असुरोंपर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार अस्त्र-विद्याके ज्ञाता और सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले सब भाइयोंसे घिरे हुए आप श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर आज ही हस्तिनापुरपर चढ़ाई कीजिये। महाबली कुन्तीकुमार ! जैसे इन्द्र अपने तेजसे दैत्योंको मिट्टीमें मिला देते हैं, उसी प्रकार आप अपने प्रभावसे शत्रुओंको मिट्टीमें मिलाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे अपनी राजलक्ष्मी छीन लीजिये ॥ ८५-८६ ॥

न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम्।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥

'मनुष्योंमें कोई ऐसा नहीं है, जो गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान भयंकर गृध्रपङ्खयुक्त बाणोंका स्पर्श सह सके ॥ ८७ ॥

न स वीरो न मातङ्गो न च सोऽश्वोऽस्ति भारत।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥

'भारत ! इसी प्रकार जगत्में ऐसा कोई अश्व, गजराज या कोई वीर पुरुष भी नहीं है, जो रणभूमिमें क्रोधपूर्वक विचरनेवाले मुझ भीमसेनकी गदाका वेग सह सके ॥

सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च।
कथंस्विद् युधि कौन्तेय न राज्यं प्राप्नुयामहे ॥

'कुन्तीनन्दन ! सृंजय और कैकयवंशी वीरों तथा वृष्णिवंशावतंस भगवान् श्रीकृष्णके साथ होकर हम युद्धमें अपना राज्य कैसे नहीं प्राप्त कर लेंगे ? ॥ ८९ ॥

शत्रुहस्तगतां राजन् कथंस्विन्नाहरेर्महीम्।
इह यत्नमुपाहृत्य बलेन महतान्वितः ॥

'राजन् ! आप विशाल सेनासे सम्पन्न हो यहाँ प्रयत्नपूर्वक युद्ध ठानकर शत्रुओंके हाथमें गयी हुई पृथ्वीको क्यों नहीं छीन लेते ?' ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धर्म और नीतिकी बात कहते हुए युधिष्ठिरकी अपनी प्रतिज्ञाके पालनरूप धर्मपर ही डटे रहनेकी घो...

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु महानुभावः
सत्यव्रतो भीमसेनेन राजा।
अजातशत्रुस्तदनन्तरं वै
धैर्यान्वितो वाक्यमिदं बभाषे ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेन...

इस प्रकार अपनी बात पूरी कर चुके, तब महानुभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक उनसे यह बात कही—॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं भारत सत्यमेतद्
यन्मां तुदन् वाक्यशल्यैः क्षिणोषि।
न त्वां विगर्हे प्रतिकूलमेव
ममानयाद्धि व्यसनं व आगात् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भरतकुलनन्दन! तुम मुझे पीड़ा देते हुए अपने वाग्बाणोंद्वारा मेरे हृदयको जो विदीर्ण कर रहे हो, वह निःसंदेह ठीक ही है। मेरे प्रतिकूल होनेपर भी इन बातोंके लिये मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता; क्योंकि मेरे ही अन्यायसे तुमलोगोंपर यह विपत्ति आयी है ॥

अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन्
राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात्।
तन्मां शठः कितवः प्रत्यदेवीत्
सुयोधनार्थं सुबलस्य पुत्रः ॥ ३ ॥

उन दिनों धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके हाथसे उसके राष्ट्र तथा राज्यका अपहरण करनेकी इच्छा रखकर ही मैं द्यूतक्रीड़ामें प्रवृत्त हुआ था; किंतु उस समय धूर्त जुआरी सुबलपुत्र शकुनि दुर्योधनके लिये उसकी ओरसे मेरे विपक्षमें आकर जूआ खेलने लगा ॥ ३ ॥

महामायः शकुनिः पर्वतीयः
सभामध्ये प्रवपन्नक्षपूगान्।
अमायिनं मायया प्रत्यजैषीत्
ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन ॥ ४ ॥

भीमसेन! पर्वतीय प्रदेशका निवासी शकुनि बड़ा मायावी है। उसने द्यूतसभामें पासे फेंककर अपनी मायाद्वारा मुझे जीत लिया; क्योंकि मैं माया नहीं जानता था; इसीलिये मुझे यह संकट देखना पड़ा है ॥ ४ ॥

अक्षांश्च दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत्
कामानुकूलानयुजो युजश्च।
शक्यो नियन्तुमभविष्यदात्मा
मन्युस्तु हन्यात् पुरुषस्य धैर्यम् ॥ ५ ॥

शकुनिके सम और विषम सभी पासोंको उसकी इच्छाके अनुसार ही ठीक-ठीक पड़ते देखकर यदि अपने मनको जूएकी ओरसे रोका जा सकता, तो यह अनर्थ न होता, परंतु क्रोधावेश मनुष्यके धैर्यको नष्ट कर देता है (इसीलिये मैं जूएसे अलग न हो सका) ॥ ५ ॥

यन्तुं नात्मा शक्यते पौरुषेण
मानेन वीर्येण च तात नद्धः।
न ते वाचो भीमसेनाभ्यसूये
मन्ये तथा तद् भवितव्यमासीत् ॥ ६ ॥

तात भीमसेन! किसी विषयमें आसक्त हुए चित्तको पुरुषार्थ, अभिमान अथवा पराक्रमसे नहीं रोका जा सकता (अर्थात् उसे रोकना बहुत ही कठिन है), अतः मैं तुम्हारी बातोंके लिये बुरा नहीं मानता। मैं समझता हूँ, वैसी ही भवितव्यता थी ॥ ६ ॥

स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न्यपातयद् व्यसने राज्यमिच्छन्।
दास्यं च नोऽगमयद् भीमसेन
यत्राभवच्छरणं द्रौपदी नः ॥ ७ ॥

भीमसेन! धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनने राज्य पानेकी इच्छासे हमलोगोंको विपत्तिमें डाल दिया। हमें दासतक बना लिया था, किंतु उस समय द्रौपदी हमलोगोंकी रक्षक हुई ॥

त्वं चापि तद् वेत्थ धनंजयश्च
पुनर्द्यूतायागतानां सभां नः।
यन्माऽब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र
एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम् ॥ ८ ॥

तुम और अर्जुन दोनों इस बातको जानते हो कि जब हम पुनः द्यूतके लिये बुलाये जानेपर उस सभामें आये तो उस समय समस्त भरतवंशियोंके समक्ष धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने मुझसे एक ही दाँव लगानेके लिये इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

वने समा द्वादश राजपुत्र
यथाकामं विदितमजातशत्रो।
अथापरं चाविदितं चरेथाः
सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः ॥ ९ ॥

'राजकुमार अजातशत्रो! (यदि आप हार जायँ तो) आपको बारह वर्षोंतक इच्छानुसार सबकी जानकारीमें और पुनः एक वर्षतक गुप्त वेषमें छिपे रहकर अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करना पड़ेगा ॥ ९ ॥

त्वां चेच्छ्रुत्वा तात तथा चरन्त-
मवभोत्स्यन्ते भरतानां चराश्च।
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्तथा त्वं
निश्चित्य तत् प्रतिजानीहि पार्थ ॥ १० ॥

'कुन्तीकुमार! यदि भरतवंशियोंके गुप्तचर आपके गुप्त निवासका समाचार सुनकर पता लगाने लगें और उन्हें यह मालूम हो जाय कि आपलोग अमुक जगह अमुक रूपमें रह रहे हैं, तब आपको पुनः उतने (बारह) ही वर्षोंतक वनमें रहना पड़ेगा। इस बातको निश्चय करके इसके विषयमें प्रतिज्ञा कीजिये ॥ १० ॥

चरेश्चेन्नोऽविदितः कालमेतं
युक्तो राजन् मोहयित्वा मदीयान्।

ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह
तवैव ता भारत पञ्च नद्यः ॥ ११ ॥

'भरतवंशी नरेश ! यदि आप सावधान रहकर इतने समयतक मेरे गुप्तचरोंको मोहित करके अज्ञातभावसे ही विचरते रहें तो मैं यहाँ कौरवोंकी सभामें यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि उस सारे पञ्चनदप्रदेशपर फिर तुम्हारा ही अधिकार होगा ॥

वयं चैतद् भारत सर्व एव
त्वया जिताः कालमपास्य भोगान्।
वसेम इत्याह पुरा स राजा
मध्ये कुरूणां स मयोक्तस्तथेति ॥ १२ ॥

'भारत ! यदि आपने ही हम सब लोगोंको जीत लिया तो हम भी उतने ही समयतक सारे भोगोंका परित्याग करके उसी प्रकार वास करेंगे।' राजा दुर्योधनने जब समस्त कौरवोंके बीच इस प्रकार कहा, तब मैंने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ॥ १२ ॥

तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं
तस्मिञ्जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे।
इत्थं तु देशाननुसंचरामो
वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः ॥ १३ ॥

फिर वहाँ हमलोगोंका अन्तिम बार निन्दनीय जूआ हुआ। उसमें हम सब लोग हार गये। और घर छोड़कर वनमें निकल आये। इस प्रकार हम कष्टप्रद वेष धारण करके कष्टदायक वनों और विभिन्न प्रदेशोंमें घूम रहे हैं ॥ १३ ॥

सुयोधनश्चापि न शान्तिमिच्छन्
भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत्।
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान्
ये चास्य केचिद् वशमन्वगच्छन् ॥ १४ ॥

उधर दुर्योधन भी शान्तिकी इच्छा न रखकर और भी क्रोधके वशीभूत हो गया है। उसने हमें तो कष्टमें डाल दिया और दूसरे समस्त कौरवोंको जो उसके वशमें होकर उसीका अनुसरण करते रहे हैं, (देशशासक और दुर्गरक्षक आदि) ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित कर दिया है ॥ १४ ॥

तं संधिमास्थाय सतां सकाशे
को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः।
आर्यस्य मन्ये मरणाद् गरीयो
यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत् ॥ १५ ॥

कौरव-सभामें साधु पुरुषोंके समीप वैसी सन्धिका आश्रय लेकर यानी प्रतिज्ञा करके अब यहाँ राज्यके लिये उसे कौन तोड़े ? धर्मका उल्लङ्घन करके पृथ्वीका शासन करना तो किसी श्रेष्ठ पुरुषके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायक है—ऐसा मेरा मत है ॥ १५ ॥

तदैव चेद् वीर कर्माकरिष्यो
यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः।
बाहू दिधक्षन् वारितः फाल्गुनेन
किं दुष्कृतं भीम तदाभविष्यत् ॥ १…
प्रागेव चैवं समयक्रियायाः
किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात्
किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ॥ १…

वीर भीमसेन ! द्यूतके समय जब तुमने मेरी … बाँहोंको जला देनेकी इच्छा प्रकट की और अर्जुनने … रोका, उस समय तुम शत्रुओंपर आघात करनेके … अपनी गदापर हाथ फेरने लगे थे। यदि उसी समय … शत्रुओंपर आघात कर दिया होता तो कितना … हो जाता। तुम अपना पुरुषार्थ तो जानते ही थे। … पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करने लगा उससे पहले ही … ऐसी बात क्यों नहीं कही ? जब प्रतिज्ञाके अनुसार वन… का समय स्वीकार कर लिया, तब पीछे चलकर इस … क्यों मुझसे अत्यन्त कठोर बातें कहते हो ? ॥ १६-१… ॥

भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन
दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा।
यद् याज्ञसेनीं परिक्लिश्यमानां
संदृश्य तत् क्षान्तमिति स्म भीम ॥ १८ ॥

भीमसेन ! मुझे इस बातका भी बड़ा दुःख है … द्रौपदीको शत्रुओंद्वारा क्लेश दिया जा रहा था और ह… अपनी आँखों देखकर भी उसे चुपचाप सह लिया। … कोई विष घोलकर पी ले और उसकी पीड़ासे कराहने … वैसी ही वेदना इस समय मुझे हो रही है ॥ १८ ॥

न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर
कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य
पक्तिं फलानामिव बीजवापः ॥ १९ ॥

भरतवंशके प्रमुख वीर ! कौरव वीरोंके बीच मैंने जो प्रति… की है, उसे स्वीकार कर लेनेके बाद अब इस … आक्रमण नहीं किया जा सकता। जैसे बीज बोने… किसान अपनी खेतीके फलोंके पकनेकी बाट जोहता रह… है, उसी प्रकार तुम भी उस समयकी प्रतीक्षा करो जो ह… लिये सुखकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ १९ ॥

यदा हि पूर्वं निकृतो निकृन्तेद्
वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा।
महागुणं हरति हि पौरुषेण
तदा वीरो जीवति जीवलोके ॥ २० ॥

जब पहले शत्रुके द्वारा धोखा खाया हुआ वीर पु…

उसे फूलता-फलता जानकर अपने पुरुषार्थके द्वारा उसका मूलोच्छेद कर डालता है, तभी उस शत्रुके महान् गुणोंका अपहरण कर लेता है और इस जगत्में सुखपूर्वक जीवित रहता है ॥ २० ॥

श्रियं च लोके लभते समग्रां
मन्ये चास्मै शत्रवः संनमन्ते ।
मित्राणि चैनमचिराद् भजन्ते
देवा इवेन्द्रमुपजीवन्ति चैनम् ॥ २१ ॥

वह वीर पुरुष लोकमें सम्पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। मैं यह भी मानता हूँ कि सभी शत्रु उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। फिर थोड़े ही दिनोंमें उसके बहुत-से मित्र बन जाते हैं और जैसे देवता इन्द्रके सहारे जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार वे मित्रगण उस वीरकी छत्रछायामें रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ २१ ॥

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥ २२ ॥

किंतु भीमसेन ! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो। मैं जीवन और अमरत्वकी अपेक्षा भी धर्मको ही बढ़कर समझता हूँ। राज्य, पुत्र, यश और धन—ये सब-के-सब सत्यधर्मकी सोलहवीं कलाको भी नहीं पा सकते ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

दुःखित भीमसेनका युधिष्ठिरको युद्धके लिये उत्साहित करना

भीमसेन उवाच

संधिं कृत्वैव कालेन ह्यन्तकेन पतत्रिणा ।
अनन्तेनाप्रमेयेण स्रोतसा सर्वहारिणा ॥ १ ॥
प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन् कालबन्धनः ।
फेनधर्मा महाराज फलधर्मा तथैव च ॥ २ ॥

भीमसेन बोले—महाराज ! आप फेनके समान नश्वर, फलके समान पतनशील, तथा कालके बन्धनमें बँधे हुए मरणधर्मा मनुष्य हैं तो भी आपने सबका अन्त और संहार करनेवाले, बाणके समान वेगवान्, अनन्त, अप्रमेय एवं जलस्रोतके समान प्रवाहशील लंबे कालको बीचमें देकर दुर्योधनके साथ सन्धि करके उस कालको अपनी आँखोंके सामने आया हुआ मानते हैं ॥ १-२ ॥

निमेषादपि कौन्तेय यस्यायुरपचीयते ।
सूच्येवाञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥

किंतु कुन्तीकुमार ! सलाईसे थोड़ा-थोड़ा करके उठाये जानेवाले अञ्जनचूर्ण (सुरमे) की भाँति एक-एक निमेषमें जिसकी आयु क्षीण हो रही है, वह क्षणभङ्गुर मानव समयकी प्रतीक्षा क्या कर सकता है ? ॥ ३ ॥

यो नूनममितायुः स्यादथवापि प्रमाणवित् ।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४ ॥

अवश्य ही जिसकी आयुकी कोई माप नहीं है अथवा जो आयुकी निश्चित संख्याको जानता है तथा जिसने सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया है। वही समयकी प्रतीक्षा कर सकता है ॥

प्रतीक्ष्यमाणः कालो नः समा राजंस्त्रयोदश ।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ॥ ५ ॥

राजन् ! तेरह वर्षोंतक हमें जिसकी प्रतीक्षा करनी है। वह काल हमारी आयुको क्षीण करके हम सबको मृत्युके निकट पहुँचा देगा ॥ ५ ॥

शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम् ।
प्रागेव मरणात् तस्माद् राज्यायैव घटामहे ॥ ६ ॥

देहधारीकी मृत्यु सदा उसके शरीरमें ही निवास करती हैं, अतः मृत्युके पहले ही हमें राज्य-प्राप्तिके लिये चेष्टा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

यो न याति प्रसंख्यानमस्पष्टो भूमिवर्धनः ।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ॥ ७ ॥

जिसका प्रभाव छिपा हुआ है, वह भूमिके लिये भाररूप ही है, क्योंकि वह जनसाधारणमें ख्याति नहीं प्राप्त कर सकता। वह वैरका प्रतिशोध न लेनेके कारण बैलकी भाँति दुःख उठाता रहता है ॥ ७ ॥

यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान् ।
अफलं जन्म तस्याहं मन्ये दुर्जातजायिनः ॥ ८ ॥

जिसका बल और उद्यम बहुत कम है, जो वैरका बदला नहीं ले सकता, उस पुरुषका जन्म अत्यन्त घृणित है। मैं तो उसके जन्मको निष्फल मानता हूँ ॥ ८ ॥

हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिवी।
हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुङ्क्ष्व बाहुजितं वसु ॥ ९ ॥

महाराज! आपकी दोनों भुजाएँ सुवर्णकी अधिकारिणी हैं। आपकी कीर्ति राजा पृथुके समान है। आप युद्धमें शत्रुका संहार करके अपने बाहुबलसे उपार्जित धनका उपभोग कीजिये ॥ ९ ॥

हत्वा वै पुरुषो राजन् निकर्तारमरिंदम।
अहाय नरकं गच्छेत् स्वर्गेणास्य स सम्मितः ॥ १० ॥

शत्रुदमन नरेश! यदि मनुष्य अपनेको धोखा देनेवाले शत्रुका वध करके तुरंत ही नरकमें पड़ जाय तो उसके लिये वह नरक भी स्वर्गके तुल्य है ॥ १० ॥

अमर्षजो हि संतापः पावकाद् दीप्तिमत्तरः।
येनाहमभिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये ॥ ११ ॥

अमर्षसे जो संताप होता है, वह आगसे भी बढ़कर जलनेवाला है। जिससे संतप्त होकर मुझे न तो रातमें नींद आती है और न दिनमें ॥ ११ ॥

अयं च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे।
आस्ते परमसंतप्तो नूनं सिंह इवाशये ॥ १२ ॥

ये हमारे भाई अर्जुन धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेमें सबसे श्रेष्ठ हैं; परंतु ये भी निश्चय ही अपनी गुफामें दुखी होकर बैठे हुए सिंहकी भाँति सदा अत्यन्त संतप्त होते रहते हैं ॥ १२ ॥

योऽयमेकोऽभिमनुते सर्वान् लोके धनुर्भृतः।
सोऽयमात्मजमूष्माणं महाहस्तीव यच्छति ॥ १३ ॥

जो अकेले ही संसारके समस्त धनुर्धर वीरोंका सामना कर सकते हैं, वे ही अर्जुन महान् गजराजकी भाँति अपने मानसिक क्रोधजनित संतापको किसी प्रकार रोक रहे हैं ॥ १३ ॥

नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसूः।
तवैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ॥ १४ ॥

नकुल, सहदेव तथा वीर पुत्रोंको जन्म देनेवाली हमारी बूढ़ी माता कुन्ती—ये सबके सब आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर ही मूर्खों और गूँगोंकी भाँति चुप रहते हैं ॥ १४ ॥

सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः।
अहमेकश्च संतप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ॥ १५ ॥

आपके सभी बन्धु-बान्धव और सृञ्जयवंशी योद्धा भी आपका प्रिय करना चाहते हैं। केवल हम दो व्यक्तियोंको ही विशेष कष्ट है। एक तो मैं संतप्त होता हूँ और दूसरी प्रतिविन्ध्यकी माता द्रौपदी ॥ १५ ॥

प्रियमेव तु सर्वेषां यद् ब्रवीम्युत किंचन।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ १६ ॥

मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सबको प्रिय है। हम सब लोग संकटमें पड़े हैं और सभी युद्धका अभिनन्दन करते हैं।

नातः पापीयसी काचिदापद् राजन् भविष्यति।
यन्नो नीचैरल्पबलै राज्यमाच्छिद्य भुज्यते ॥ १७ ॥

राजन्! इससे बढ़कर अत्यन्त दुःखदायिनी विपत्ति और क्या होगी कि नीच और दुर्बल शत्रु हम बलवानोंका राज्य छीनकर उसका उपभोग कर रहे हैं ॥ १७ ॥

शीलदोषाद् घृणाविष्ट आनृशंस्यात् परंतप।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन् नान्यः कश्चित् प्रशंसति ॥ १८ ॥

परंतप युधिष्ठिर! आप शीलस्वभावके दोष से, कोमलतासे एवं दयाभावसे युक्त होनेके कारण इतने क्लेश सह रहे हैं, परंतु महाराज! इसके लिये आपकी कोई प्रशंसा नहीं करता है ॥ १८ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १९ ॥

राजन्! आपकी बुद्धि अर्थज्ञानसे रहित केवल अक्षरमात्रको रटनेवाले मन्दबुद्धि श्रोत्रियकी तरह केवल गुरुकी वाणीका अनुसरण करनेके कारण नष्ट हो गयी है। यह तात्त्विक अर्थको समझने या समझानेवाली नहीं है ॥ १९ ॥

घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेऽभ्यजायथाः।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ॥ २० ॥

आप दयालु ब्राह्मणरूप हैं। पता नहीं, क्षत्रियकुलमें कैसे आपका जन्म हो गया; क्योंकि क्षत्रिय योनिमें तो प्रायः क्रूर बुद्धिके ही पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥

अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान् यथा वै मनुरब्रवीत्।
क्रूरान् निकृतिसम्पन्नान् विहितानशमात्मकान् ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रान् महाराज क्षमसे किं दुरात्मनः।
कर्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् ॥ २२ ॥
बुद्ध्या वीर्येण संयुक्तः श्रुतेनाभिजनेन च।

महाराज! आपने राजधर्मका वर्णन तो सुना ही होगा, जैसा मनुजीने कहा है। फिर क्रूर, मायावी, हमारे हितके विपरीत आचरण करनेवाले तथा अशान्त चित्तवाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंका अपराध आप क्यों क्षमा करते हैं? पुरुषसिंह! आप बुद्धि, पराक्रम, शास्त्रज्ञान तथा उत्तम कुलसे सम्पन्न होकर भी जहाँ कुछ काम करना है, वहाँ अजगरकी भाँति चुपचाप क्यों बैठे हैं? ॥ २१-२२ ॥

तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तं च पर्वतम् ॥ २३ ॥
छन्नमिच्छसि कौन्तेय योऽस्मान् संवर्तुमिच्छसि।

कुन्तीनन्दन! आप अज्ञातवासके समय जो हमलोगोंको छिपाकर रखना चाहते हैं इससे जान पड़ता है कि आप एक मुट्ठी तिनकेसे हिमालय पर्वतको ढक देना चाहते हैं ॥ २४ ॥

अज्ञातचर्या गूढेन पृथिव्यां विश्रुतेन च ॥ २४ ॥

दिवीव पार्थ सूर्येण न शक्याचरितुं त्वया ।

पार्थ ! आप इस भूमण्डलमें विख्यात हैं, जैसे सूर्य आकाशमें छिपकर नहीं रह सकते, उसी प्रकार आप भी कहीं छिपे रहकर अज्ञातवासका नियम नहीं पूरा कर सकते ॥ २४½ ॥

बृहच्छाल इवानूपे शाखापुष्पपलाशवान् ॥ २५ ॥
हस्ती श्वेत इवाज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ।

जहाँ जलकी अधिकता हो, ऐसे प्रदेशमें शाखा, पुष्प और पत्तोंसे सुशोभित विशाल शालवृक्षके समान अथवा श्वेत गजराज ऐरावतके सदृश ये अर्जुन कहीं भी अज्ञात कैसे रह सकेंगे ? ॥ २५½ ॥

इमौ च सिंहसंकाशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ॥ २६ ॥
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ चरिष्यतः ।

कुन्तीकुमार ! ये दोनों भाई बालक नकुल-सहदेव सिंहके समान पराक्रमी हैं । ये दोनों कैसे छिपकर विचर सकेंगे ? ॥ २६½ ॥

पुण्यकीर्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ॥ २७ ॥
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ चरिष्यति ।

पार्थ ! यह वीरजननी पवित्रकीर्ति राजकुमारी द्रौपदी सारे संसारमें विख्यात है । भला, यह अज्ञातवासके नियम कैसे निभा सकेगी ॥ २७½ ॥

मां चापि राजञ्जानन्ति ह्याकुमारमिमाः प्रजाः ॥ २८ ॥
नाज्ञातचर्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ।

महाराज ! मुझे भी प्रजावर्गके बच्चेतक पहचानते हैं, जैसे मेरुपर्वतको छिपाना असम्भव है, उसी प्रकार मुझे अपनी अज्ञातचर्या भी सम्भव नहीं दिखायी देती ॥ २८½ ॥

तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ॥ २९ ॥
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ।
न हि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृता वा निराकृताः ॥ ३० ॥

राजन् ! इसके सिवा एक बात और है, हमलोगोंने भी बहुत-से राजाओं तथा राजकुमारोंको उनके राज्यसे निकाल दिया है । वे सब आकर राजा धृतराष्ट्रसे मिल गये होंगे, हमने जिनको राज्यसे वञ्चित किया अथवा निकाला है, वे कदापि हमारे प्रति शान्तभाव नहीं धारण कर सकते ॥ २९-३० ॥

अवश्यं तैर्निकर्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ।
तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन् प्रच्छन्नान् सुबहूंश्चरान् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा ततः स्यात् सुमहद् भयम् ॥ ३१ ॥

अवश्य ही दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर वे राजालोग भी हमलोगोंको धोखा देना उचित समझकर हमलोगोंकी खोज करनेके लिये बहुत-से छिपे हुए गुप्तचर नियुक्त करेंगे और पता लग जानेपर निश्चय ही दुर्योधनको सूचित कर देंगे । उस दशामें हमलोगोंपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो जायगा ॥ ३१ ॥

अस्माभिरुषिताः सम्यग् वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥ ३२ ॥

हमने अबतक वनमें ठीक-ठीक तेरह महीने व्यतीत कर लिये हैं, आप इन्हींको परिमाणमें तेरह वर्ष समझ लीजिये ॥

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतिकामिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥ ३३ ॥

मनीषी पुरुषोंका कहना है कि मास संवत्सरका प्रतिनिधि है । जैसे पूतिका सोमलताके स्थानपर यज्ञमें काम देती है, उसी प्रकार आप इन तेरह मासोंको ही तेरह वर्षोंका प्रतिनिधि स्वीकार कर लीजिये ॥ ३३ ॥

अथवानडुहे राजन् साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेतस्मादेनसः प्रतिमुच्यते ॥ ३४ ॥

राजन् ! अथवा अच्छी तरह बोझ ढोनेवाले उत्तम बैलको भरपेट भोजन दे देनेपर इस पापसे आपको छुटकारा मिल सकता है ॥ ३४ ॥

तस्माच्छत्रुवधे राजन् क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नान्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ॥ ३५ ॥

अतः महाराज ! आप शत्रुओंका वध करनेका निश्चय कीजिये; क्योंकि समस्त क्षत्रियोंके लिये युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥
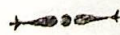
षट्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको समझाना, व्यासजीका आगमन और युधिष्ठिरको प्रतिस्मृतिविद्याप्रदान तथा पाण्डवोंका पुनः काम्यकवनगमन

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
निःश्वस्य पुरुषव्याघ्रः सम्प्रदध्यौ परंतपः ॥ १ ॥
श्रुता मे राजधर्माश्च वर्णानां च विनिश्चयाः ।
आयत्यां च तदात्वे च यः पश्यति स पश्यति ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी

बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन विचार करने लगे—'मैंने राजाओंके धर्म एवं वर्णोंके सुनिश्चित सिद्धान्त भी सुने हैं, परंतु जो भविष्य और वर्तमान दोनोंपर दृष्टि रखता है, वही यथार्थदर्शी है ॥ १-२ ॥

धर्मस्य जानमानोऽहं गतिमग्र्यां सुदुर्विदाम् ।
कथं बलात् करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम् ॥ ३ ॥

'धर्मकी श्रेष्ठ गति अत्यन्त दुर्बोध है, उसे जानता हुआ भी मैं कैसे बलपूर्वक मेरु पर्वतके समान महान् उस धर्मका मर्दन करूँगा' ॥ ३ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार दो घड़ीतक विचार करनेके पश्चात् अपनेको क्या करना है, इसका निश्चय करके युधिष्ठिरने भीमसेनसे अविलम्ब यह बात कही ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
इदमन्यत् समादत्स्व वाच्यं मे वाक्यकोविद ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु भरतकुलतिलक वाक्य-विशारद भीम ! तुम जैसा कह रहे हो, वह ठीक है, तथापि मेरी यह दूसरी बात भी मानो ॥ ५ ॥

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात् ।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन भीमसेन ! जो महान् पापमय कर्म केवल साहसके भरोसे आरम्भ किये जाते हैं, वे सभी कष्टदायक होते हैं ॥

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥ ७ ॥

महाबाहो ! अच्छी तरहसे सलाह और विचार करके पूरा पराक्रम प्रकट करते हुए सुन्दररूपसे जो कार्य किये जाते हैं, वे सफल होते हैं और उसमें दैव भी अनुकूल हो जाता है ॥ ७ ॥

यत् तु केवलचापल्याद् बलदर्पोत्थितः स्वयम् ।
आरब्धव्यमिदं कार्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ॥ ८ ॥

तुम स्वयं बलके घमण्डसे उन्मत्त हो जो केवल चपलतावश स्वयं इस युद्धरूपी कार्यको अभी आरम्भ करनेके योग्य मान रहे हो, उसके विषयमें मेरी बात सुनो ॥ ८ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसंधश्च वीर्यवान् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्योधनपुरोगमाः ।
सर्व एव कृतास्त्राश्च सततं चाततायिनः ॥ १० ॥
राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः ।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च तं प्रति ॥ ११ ॥

भूरिश्रवा, शल, पराक्रमी जलसंध, भीष्म, द्रोण, बलवान् अश्वत्थामा तथा सदाके आततायी दुर्योधन आदि दुर्धर्ष धृतराष्ट्रपुत्र—ये सभी अस्त्र-विद्याके ज्ञाता हैं एवं जिन राजाओं तथा भूमिपालोंको युद्धमें कष्ट पहुँचाया, वे सभी कौरवपक्षमें मिल गये हैं और उधर ही स्नेह हो गया है ॥ ९–११ ॥

दुर्योधनहिते युक्ता न तथास्मासु भारत ।
पूर्णकोशा बलोपेताः प्रयतिष्यन्ति संगरे ॥ १२ ॥

भारत ! वे दुर्योधनके हितमें ही संलग्न होंगे; लोगोंके प्रति उनका वैसा सद्भाव नहीं हो सकता। उनका खजाना भरा-पूरा है और वे सैनिक-शक्तिसे भी सम्पन्न हैं; वे युद्ध छिड़नेपर हमारे विरुद्ध ही प्रयत्न करेंगे ॥ १२ ॥

सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः ।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः ॥ १३ ॥

मन्त्रियों और पुत्रोंके सहित कौरवसेनाके सभी सैनिक दुर्योधनकी ओरसे पूरे वेतन और सब प्रकारकी उप सामग्रीका वितरण किया गया है ॥ १३ ॥

दुर्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे इति मे निश्चिता मतिः ॥ १४ ॥

इतना ही नहीं, दुर्योधनने उन वीरोंका विशेष आ सत्कार भी किया है। अतः मेरा यह विश्वास है कि उसके लिये संग्राममें (हँसते-हँसते) प्राण दे देंगे ॥ १४ ॥

समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च।
द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः ॥ १५ ॥
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः ।
तस्मात् त्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ॥ १६ ॥

महाबाहो ! यद्यपि पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा महामना कृपाचार्यका आन्तरिक स्नेह धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा हम लोगोंपर एक-सा ही है, तथापि वे राजा दुर्योधनका दिया हुआ अन्न खाते हैं, अतः उसका ऋण अवश्य चुकायेंगे, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। युद्ध छिड़नेपर वे भी दुर्योधनके पक्षमें ही लड़कर अपने दुस्त्यज प्राणोंका भी परित्याग कर देंगे ॥ १५-१६ ॥

सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ॥ १७ ॥

वे सब-के-सब दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और धर्मपरायण हैं। मेरी बुद्धिमें तो यहाँतक आता है कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ॥ १८ ॥

उस पक्षमें महारथी कर्ण भी है, जो हमारे प्रति

अमर्ष और क्रोधसे भरा रहता है। वह सब अस्त्रोंका ज्ञाता, अजेय तथा अभेद्य कवचसे सुरक्षित है ॥ १८ ॥

अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान् पुरुषसत्तमान् ।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया ॥ १९ ॥

इन समस्त वीर पुरुषोंको युद्धमें परास्त किये बिना तुम अकेले दुर्योधनको नहीं मार सकते ॥ १९ ॥

न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर ।
अतिसर्वान् धनुर्ग्राहान् सूतपुत्रस्य लाघवम् ॥ २० ॥

वृकोदर ! सूतपुत्र कर्णके हाथोंकी फुर्ती समस्त धनुर्धरोंसे बढ़-चढ़कर है। उसका स्मरण करके मुझे अच्छी तरह नींद नहीं आती है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किंचन ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर अत्यन्त क्रोधी भीमसेन उदास और शङ्कायुक्त हो गये। फिर उनके मुँहसे कोई बात नहीं निकली ॥ २१ ॥

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः ।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ २२ ॥

दोनों पाण्डवोंमें इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास वहाँ आ पहुँचे ॥ २२ ॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ २३ ॥

पाण्डवोंने उठकर उनकी अगवानी की और यथायोग्य पूजन किया। तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासजी युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ २३ ॥

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो वेद्मि ते हृदयस्थितम् ।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ ॥ २४ ॥

व्यासजीने कहा—नरश्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर ! मैं ध्यानके द्वारा तुम्हारे मनका भाव जान चुका हूँ। इसलिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ ॥ २४ ॥

भीष्माद् द्रोणात् कृपात् कर्णाद् द्रोणपुत्राच्च भारत।
दुर्योधनान्नृपसुतात् तथा दुःशासनादपि ॥ २५ ॥
यत् ते भयममित्रघ्न हृदि सम्परिवर्तते ।
तत् तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २६ ॥

शत्रुहन्ता भारत ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन और दुःशासनसे भी जो तुम्हारे मनमें भय समा गया है, उसे मैं शास्त्रीय उपायसे नष्ट कर दूँगा ॥ २५-२६ ॥

तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय ।
प्रतिपाद्य तु राजेन्द्र ततः क्षिप्रं ज्वरं जहि ॥ २७ ॥

राजेन्द्र ! उस उपायको सुनकर धैर्यपूर्वक प्रयत्नद्वारा उसका अनुष्ठान करो। उसका अनुष्ठान करके शीघ्र ही अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो ॥ २७ ॥

तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम् ।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः ॥ २८ ॥

तदनन्तर प्रवचनकुशल पराशरनन्दन व्यासजी युधिष्ठिरको एकान्तमें ले गये और उनसे यह युक्तियुक्त वचन बोले—॥

श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम ।
येनाभिभविता शत्रून् रणे पार्थो धनुर्धरः ॥ २९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे कल्याणका सर्वश्रेष्ठ समय आया है, जिससे धनुर्धर अर्जुन युद्धमें शत्रुओंको पराजित कर देंगे।२९।

गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ॥ ३० ॥

'मेरी दी हुई इस प्रतिस्मृति नामक विद्याको ग्रहण करो, जो मूर्तिमती सिद्धिके समान है। तुम मेरे शरणागत हो, इसलिये मैं तुम्हें इस विद्याका उपदेश करता हूँ ॥ ३० ॥

यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाभिगच्छतु ॥ ३१ ॥
वरुणं च कुबेरं च धर्मराजं च पाण्डव ।
शक्तो ह्येष सुरान् द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥ ३२ ॥

'जिसे तुमसे पाकर महाबाहु अर्जुन अपना सब कार्य सिद्ध करेंगे। पाण्डुनन्दन ! ये अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये देवराज इन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर तथा धर्मराजके पास जायँ। ये अपनी तपस्या और पराक्रमसे देवताओंको प्रत्यक्ष देखनेमें समर्थ होंगे ॥ ३१-३२ ॥

ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान् ।
पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः ॥ ३३ ॥
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च ।
समादाय महाबाहुर्महत् कर्म करिष्यति ॥ ३४ ॥

'भगवान् नारायण जिनके सखा हैं, वे पुरातन महर्षि महातेजस्वी नर ही अर्जुन हैं। सनातन देव, अजेय, विजयशील तथा अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले हैं। महाबाहु अर्जुन इन्द्र, रुद्र तथा अन्य लोकपालोंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके महान् कार्य करेंगे ॥ ३३-३४ ॥

वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद् विचिन्त्यताम् ।
निवासार्थाय यद् युक्तं भवेद् वः पृथिवीपते ॥ ३५ ॥

'कुन्तीकुमार ! पृथिवीपते ! अब तुम अपने निवासके लिये इस वनसे किसी दूसरे वनमें, जो तुम्हारे लिये उपयोगी हो, जानेकी बात सोचो ॥ ३५ ॥

एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत् ।
तापसानां च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ॥ ३६ ॥

'एक ही स्थानपर अधिक दिनोंतक रहना प्रायः रुचिकर नहीं होता । इसके सिवा, यहाँ तुम्हारा चिरनिवास समस्त तपस्वी महात्माओंके लिये तपमें विघ्न पड़नेके कारण उद्वेग-कारक होगा ॥ ३६ ॥

मृगाणामुपयोगश्च वीरुदोषधिसंक्षयः ।
बिभर्षि च बहून् विप्रान् वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ३७ ॥

'यहाँके हिंसक पशुओंके उपयोग—मारनेका काम हो चुका है तथा तुम बहुत-से वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करते हो (और हवन करते हो), इसलिये यहाँ लता-गुल्म और ओषधियोंका क्षय हो गया है ॥'

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान् प्रभुः ।
प्रोवाच लोकतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम् ॥ ३८ ॥
धर्मराजाय धीमान् स व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर लोकतत्त्वके ज्ञाता एवं शक्तिशाली योगी परम बुद्धिमान् सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासजीने अपनी शरणमें आये हुए पवित्र धर्मराज युधिष्ठिरको उस अत्युत्तम विद्याका उपदेश किया और कुन्तीकुमारकी अनुमति लेकर फिर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३८-३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद् ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाभ्यसन् ॥ ४० ॥

धर्मात्मा मेधावी संयतचित्त युधिष्ठिरने उस वेदोक्त मन्त्र-को मनसे धारण किया और समय-समयपर सदा अभ्यास करने लगे ॥ ४० ॥

स व्यासवाक्यमुदितो वनाद् द्वैतवनात् ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम काननम् ॥

तदनन्तर वे व्यासजीकी आज्ञासे प्रसन्नतापूर्वक द्वै काम्यक-वनमें चले गये, जो सरस्वतीके तटपर सुशोभि

तमन्वयुर्महाराज शिक्षाक्षरविशारदाः ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ॥

महाराज ! जैसे महर्षिगण देवराज इन्द्रका अनुसरण हैं, वैसे ही वेदादि शास्त्रोंकी शिक्षा तथा अक्षर ब्रह्म ज्ञानमें निपुण बहुत-से तपस्वी ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरके उस वनमें गये ॥ ४२ ॥

ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभ ।
न्यविशन्त महात्मानः सामात्याः सपरिच्छदाः ॥ ४

भरतश्रेष्ठ ! वहाँसे काम्यकवनमें आकर मन्त्रियों सेवकोंसहित वे महात्मा पाण्डव पुनः वहीं बस गये ॥ ४

तत्र ते न्यवसन् राजन् किंचित् कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वन्तो वेदमुत्तमम् ॥ ४४

राजन् ! वहाँ धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर हो उत्तम वे मन्त्रोंका उद्घोष सुनते हुए उन मनस्वी पाण्डवोंने कु कालतक निवास किया ॥ ४४ ॥

चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ॥ ४५

वे प्रतिदिन हिंसक पशुओंको मारनेके लिये शु (शास्त्रानुकूल) बाणोंद्वारा शिकार खेलते थे एवं शास्त्र विधिके अनुसार नित्य पितरों तथा देवताओंको अपना-अप भाग देते थे अर्थात् नित्य श्राद्ध और नित्य होम करते थे ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि काम्यकवनगमने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें काम्यकवनगमनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनका सब भाई आदिसे मिलकर इन्द्रकील पर्वतपर जाना एवं इन्द्रका दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसंदेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्जुनं पुरुषर्षभम् ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ॥ २ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिंदमः ।
धनंजयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! कुछ कालके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरको व्यासजीके संदेशका स्मरण हो आया । तब उन्होंने परम बुद्धिमान् अर्जुनसे एकान्तमें वार्तालाप किया । शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक वनवासके विषयमें चिन्तन करके किंचित् मुसकराते हुए अर्जुनके शरीरको हाथसे स्पर्श किया और एकान्तमें उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥ १-३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भारत ! आजकल पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा—इन सबमें चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेद प्रतिष्ठित है ॥ ४ ॥

दैवं ब्राह्मं मानुषं च सयत्नं सचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च अभिजानन्ति कृत्स्नशः ॥ ५ ॥

वे दैव, ब्राह्म और मानुष तीनों पद्धतियोंके अनुसार सम्पूर्ण अस्त्रोंके प्रयोगकी सारी कलाएँ जानते हैं । उन अस्त्रोंके ग्रहण और धारणरूप प्रयत्नसे तो वे परिचित हैं ही, शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त हुए अस्त्रोंकी चिकित्सा (निवारणके उपाय) को भी जानते हैं ॥ ५ ॥

ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत् तेषु वर्तते ॥ ६ ॥

उन सबको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने बड़े आश्वासनके साथ रखा है और उपभोगकी सामग्री देकर संतुष्ट किया है । इतना ही नहीं, वह उनके प्रति गुरुजनोचित बर्ताव करता है ॥ ६ ॥

सर्वयोधेषु चैवास्य सदा प्रीतिरनुत्तमा ।
आचार्या मानितास्तुष्टाः शान्तिं व्यवहरन्त्युत ॥ ७ ॥

अन्य सम्पूर्ण योद्धाओंपर भी दुर्योधन सदा ही बहुत प्रेम रखता है । उसके द्वारा सम्मानित और संतुष्ट किये हुए आचार्यगण उसके लिये सदा शान्तिका प्रयत्न करते हैं ॥७॥

शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ।
अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा ॥ ८ ॥
सग्रामनगरा पार्थ ससागरवनाकरा ।
भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ॥ ९ ॥

जो लोग उसके द्वारा समय-समयपर समादृत हुए हैं, वे कभी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होने देंगे । पार्थ ! आज यह सारी पृथ्वी ग्राम, नगर, समुद्र, वन तथा खानोंसहित दुर्योधनके वशमें है । तुम्हीं हम सब लोगोंके अत्यन्त प्रिय हो । हमारे उद्धारका सारा भार तुमपर ही है ॥ ८-९ ॥

अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिंदम ।
कृष्णद्वैपायनात् तात गृहीतोपनिषन्मया ॥ १० ॥

शत्रुदमन ! अब इस समयके योग्य जो कर्तव्य मुझे उचित दिखायी देता है, उसे सुनो । तात ! मैंने श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजीसे एक रहस्यमयी विद्या प्राप्त की है ॥१०॥

तया प्रयुक्तया सम्यग् जगत् सर्वं प्रकाशते ।
तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः ॥ ११ ॥

देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ।
तपसा योजयात्मानमुग्रेण भरतर्षभ ॥ १२ ॥
धनुष्मान् कवची खड्गी मुनिः साधुव्रते स्थितः ।
न कस्यचिद् ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम् ॥ १३ ॥

उसका विधिवत् प्रयोग करनेपर समस्त जगत् अच्छी प्रकारसे ज्यों-का-त्यों स्पष्ट दीखने लगता है । तात ! उस मन्त्र-विद्यासे युक्त एवं एकाग्रचित्त होकर तुम यथासमय देवताओंकी प्रसन्नता प्राप्त करो । भरतश्रेष्ठ ! अपने-आपको उग्र तपस्यामें लगाओ । धनुष, कवच और खड्ग धारण किये साधु-व्रतके पालनमें स्थित हो मौनावलम्बनपूर्वक किसीको आक्रमणका मार्ग न देते हुए उत्तर दिशाकी ओर जाओ ॥ ११–१३ ॥

इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनंजय ।
वृत्राद् भीतैर्बलं देवैस्तदा शक्रे समर्पितम् ॥ १४ ॥

धनंजय ! इन्द्रको समस्त दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है । वृत्रासुरसे डरे हुए सम्पूर्ण देवताओंने उस समय अपनी सारी शक्ति इन्द्रको ही समर्पित कर दी थी ॥ १४ ॥

तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे ।
शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ॥ १५ ॥
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरंदरम् ।

वे सब दिव्यास्त्र एक ही स्थानमें हैं, तुम उन्हें वहींसे प्राप्त कर लोगे; अतः तुम इन्द्रकी ही शरण लो । वही तुम्हें सब अस्त्र प्रदान करेंगे । आज ही दीक्षा ग्रहण करके तुम देवराज इन्द्रके दर्शनकी इच्छासे यात्रा करो ॥ १५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः ॥ १६ ॥
दीक्षितं विधिनानेन धृतवाक्कायमानसम् ।
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शक्तिशाली धर्मराज युधिष्ठिरने मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर दीक्षा ग्रहण करनेवाले अर्जुनको विधिपूर्वक पूर्वोक्त प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश किया । तदनन्तर बड़े भाई युधिष्ठिरने अपने वीर भाई अर्जुनको वहाँसे प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी ॥ १६-१७ ॥

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रष्टुकामः पुरंदरम् ।
धनुर्गाण्डीवमादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ १८ ॥
कवची सतलत्राणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
हुत्वाग्निं ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः ॥ १९ ॥
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः ।
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च ॥ २० ॥

धर्मराजकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका दर्शन करनेकी इच्छा मनमें रखकर महाबाहु धनंजयने अग्निमें आहुति दी और

स्वर्ण मुद्राओंकी दक्षिणा देकर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया तथा गाण्डीव धनुष और दो महान् अक्षय तूणीर साथ ले कवच, तलत्राण (जूते) तथा अङ्गुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चमड़ेका बना हुआ अङ्गुलित्र धारण किया। इसके बाद ऊपरकी ओर देख लंबी साँस खींचकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके वधके लिये महाबाहु अर्जुन धनुष हाथमें लिये वहाँसे प्रस्थित हुए ॥

तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम्।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ॥ २१ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुनको वहाँ धनुष लिये जाते देख सिद्धों, ब्राह्मणों तथा अदृश्य भूतोंने कहा—॥ २१ ॥

क्षिप्रमाप्नुहि कौन्तेय मनसा यद् यदिच्छसि।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः पार्थमिति कृत्वा जयाशिषः ॥ २२ ॥
संसाधयस्व कौन्तेय ध्रुवोऽस्तु विजयस्तव।

'कुन्तीकुमार! तुम अपने मनमें जो-जो इच्छा रखते हो, वह सब तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो।' इसके बाद ब्राह्मणोंने अर्जुनको विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए कहा—'कुन्तीपुत्र! तुम अपना अभीष्ट साधन करो; तुम्हें अवश्य विजय प्राप्त हो' ॥

तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ॥ २३ ॥
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत्।

शाल वृक्षके समान कंधे और जाँघोंसे सुशोभित वीर अर्जुनको इस प्रकार सबके चित्तको चुराकर प्रस्थान करते देख द्रौपदी इस प्रकार बोली ॥ २३½ ॥

कृष्णोवाच

यत् ते कुन्ती महाबाहो जातस्यैच्छद् धनंजय ॥ २४ ॥
तत् तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि।

द्रौपदीने कहा—कुन्तीकुमार महाबाहु धनंजय! आपके जन्म लेनेके समय आर्या कुन्तीने अपने मनमें आपके लिये जो-जो इच्छाएँ की थीं तथा आप स्वयं भी अपने हृदयमें जो-जो मनोरथ रखते हों, वे सब आपको प्राप्त हों ॥

मास्माकं क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ॥ २५ ॥
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां भैक्ष्येण जीविका।

हमलोगोंमेंसे कोई भी क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न न हो। उन ब्राह्मणोंको नमस्कार है, जिनका भिक्षासे ही निर्वाह हो जाता है ॥ २५½ ॥

इदं मे परमं दुःखं यः स पापः सुयोधनः ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा मां गौरिति प्राह प्रहसन् राजसंसदि।

नाथ! मुझे सबसे बढ़कर दुःख इस बातसे हुआ है कि उस पापी दुर्योधनने राजाओंसे भरी हुई सभामें मेरी ओर देखकर और मुझे 'गाय' (अनेक पुरुषोंके उपभोगमें आनेवाली) कहकर मेरा उपहास किया ॥ २६½ ॥

तस्माद् दुःखादिदं दुःखं गरीय इति मे मतिः ॥ २७ ॥
यत् तत् परिषदो मध्ये बह्वयुक्तमभाषत।

उस दुःखसे भी बढ़कर महान् कष्ट मुझे इस बातसे हुआ कि उसने भरी सभामें मेरे प्रति बहुत-सी अनुचित बातें कहीं ॥ २७½ ॥

नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभिः प्रजागरे ॥ २८ ॥
रंस्यन्ते वीर कर्माणि कथयन्तः पुनः पुनः।
नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते ॥ २९ ॥
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि।
त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते ॥ ३० ॥
जीवितं मरणं चैव राज्यमैश्वर्यमेव च।
आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ ३१ ॥

वीरवर! निश्चय ही आपके चले जानेके बाद आपके सभी भाई जागते समय आपहीके पराक्रमकी चर्चा बार-बार करते हुए अपना मन बहलायेंगे। पार्थ! दीर्घकालके लिये आपके प्रवासी हो जानेपर हमारा मन न तो भोगोंमें लगेगा और न धनमें ही। इस जीवनमें भी कोई रस नहीं रह जायगा। आपके बिना हम इन वस्तुओंसे संतोष नहीं पा सकेंगे। पार्थ! हम सबके सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा राज्य-ऐश्वर्य आपपर ही निर्भर हैं। भरतकुलतिलक! कुन्तीकुमार! मैंने आपको विदा दी; आप कल्याणको प्राप्त हों ॥ २८–३१ ॥

बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्यमेतत् त्वयानघ।
प्रयाह्यविघ्नेनैवाशु विजयाय महाबल।
नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ॥ ३२ ॥

निष्पाप महाबली आर्यपुत्र! आप बलवानोंसे विरोध न करें, यह मेरा अनुरोध है। विघ्न-बाधाओंसे रहित हो विजय-प्राप्तिके लिये शीघ्र यात्रा कीजिये। धाता और विधाताको नमस्कार है। आप कुशल और स्वस्थतापूर्वक प्रस्थान कीजिये॥

ह्रीः श्रीः कीर्तिर्द्युतिः पुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती।
इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनंजय ॥ ३३ ॥

धनंजय! ह्री, श्री, कीर्ति, द्युति, पुष्टि, उमा, लक्ष्मी और सरस्वती—ये सब देवियाँ मार्गमें जाते समय आपकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः।
प्रपद्येऽहं वसून् रुद्रानादित्यान् समरुद्गणान् ॥ ३४ ॥
विश्वेदेवांस्तथा साध्याञ्छान्त्यर्थं भरतर्षभ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत ॥ ३५ ॥
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चान्ये परिपन्थिनः।

आप बड़े भाईका आदर करनेवाले हैं, उनकी आज्ञाके पालक हैं। भरतश्रेष्ठ! मैं आपकी शान्तिके लिये वसु, रुद्र, आदित्य, मरुद्गण, विश्वेदेव तथा साध्य देवताओंकी शरण

लेती हूँ। भारत ! भौम, आन्तरिक्ष तथा दिव्य भूतोंसे और दूसरे भी जो मार्गमें विघ्न डालनेवाले प्राणी हैं, उन सबसे आपका कल्याण हो ॥ ३४-३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाऽऽशिषः कृष्णा विरराम यशस्विनी ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसी मङ्गलकामना करके यशस्विनी द्रौपदी चुप हो गयी ॥ ३६ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन् धौम्यं च पाण्डवः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुनने अपना सुन्दर धनुष हाथमें लेकर सभी भाइयों और धौम्यमुनिको दाहिने करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ३७ ॥

तस्य मार्गादपाक्रामन् सर्वभूतानि गच्छतः ।
युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः ॥ ३८ ॥

महान् पराक्रमी और महाबली अर्जुनके यात्रा करते समय उनके मार्गसे समस्त प्राणी दूर हट जाते थे; क्योंकि वे इन्द्रसे मिला देनेवाली प्रतिस्मृतिनामक योगविद्यासे युक्त थे ॥

सोऽगच्छत् पर्वतांस्तात तपोधननिषेवितान् ।
दिव्यं हैमवतं पुण्यं देवजुष्टं परंतपः ॥ ३९ ॥

परंतप अर्जुन तपस्वी महात्माओंद्वारा सेवित पर्वतोंके मार्गसे होते हुए दिव्य, पवित्र तथा देवसेवित हिमालय पर्वतपर जा पहुँचे ॥ ३९ ॥

अगच्छत् पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः ।
मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथानिलः ॥ ४० ॥

महामना अर्जुन योगयुक्त होनेके कारण मनके समान तीव्र वेगसे चलनेमें समर्थ हो गये थे, अतः वे वायुके समान एक ही दिनमें उस पुण्य पर्वतपर पहुँच गये ॥ ४० ॥

हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च ।
अत्यक्रामत् स दुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ ४१ ॥

हिमालय और गन्धमादन पर्वतको लाँघकर उन्होंने आलस्यरहित हो दिन-रात चलते हुए और भी बहुत-से दुर्गम स्थानोंको पार किया ॥ ४१ ॥

इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद् धनंजयः ।
अन्तरिक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा ॥ ४२ ॥

तदनन्तर इन्द्रकील पर्वतपर पहुँचकर अर्जुनने आकाशमें उच्च स्वरसे गूँजती हुई एक वाणी सुनी—'तिष्ठ (यहीं ठहर जाओ)।' तब वे वहीं ठहर गये ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः ।
अथापश्यत् सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम् ॥ ४३ ॥

यह वाणी सुनकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने चारों ओर दृष्टिपात किया। इतनेहीमें उन्हें वृक्षके मूलभागमें बैठे हुए एक तपस्वी महात्मा दिखायी दिये ॥ ४३ ॥

ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम् ।
सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः ॥ ४४ ॥

वे अपने ब्रह्मतेजसे उद्भासित हो रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति पिङ्गलवर्णकी थी। सिरपर जटा बढ़ी हुई थी और शरीर अत्यन्त कृश था। उन महातपस्वीने अर्जुनको वहाँ खड़े हुए देखकर पूछा—॥ ४४ ॥

कस्त्वं तातेह सम्प्राप्तो धनुष्मान् कवची शरी ।
निबद्धासितलत्राणः क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ४५ ॥
नेह शस्त्रेण कर्तव्यं शान्तानामेष आलयः ।
विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ॥ ४६ ॥

'तात ! तुम कौन हो ? जो धनुष-बाण, कवच, तलवार तथा दस्तानेसे सुसज्जित हो क्षत्रियधर्मका अनुगमन करते हुए यहाँ आये हो। यहाँ अस्त्र-शस्त्रकी आवश्यकता नहीं है। यह तो क्रोध और हर्षको जीते हुए तपस्यामें तत्पर शान्त ब्राह्मणोंका स्थान है ॥ ४५-४६ ॥

नेहास्ति धनुषा कार्यं न संग्रामोऽत्र कर्हिचित् ।
निक्षिपैतद् धनुस्तात प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ ४७ ॥

'यहाँ कभी कोई युद्ध नहीं होता; इसलिये यहाँ तुम्हारे धनुषका कोई काम नहीं है। तात ! यह धनुष यहीं फेंक दो, अब तुम उत्तम गतिको प्राप्त हो चुके हो ॥ ४७ ॥

ओजसा तेजसा वीर यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
तथा हसन्निवाभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत् ।
न चैनं चालयामास धैर्यात् सुधृतनिश्चयम् ॥ ४८ ॥

'वीर ! ओज और तेजमें तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है !' इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिने हँसते हुए-से बार-बार अर्जुनसे धनुषको त्याग देनेकी बात कही। परंतु अर्जुन धनुष न त्यागनेका दृढ़ निश्चय कर चुके थे; अतः ब्रह्मर्षि उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं कर सके ॥ ४८ ॥

तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन ॥ ४९ ॥

तब उन ब्राह्मण देवताने पुनः प्रसन्न होकर उनसे हँसते हुए-से कहा—'शत्रुसूदन ! तुम्हारा भला हो, मैं साक्षात् इन्द्र हूँ, मुझसे कोई वर माँगो' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनंजयः ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः ॥ ५० ॥

यह सुनकर कुरुकुलरत्न शूर-वीर अर्जुनने सहस्र नेत्रधारी इन्द्रसे हाथ जोड़कर प्रणामपूर्वक कहा— ॥ ५० ॥

ईप्सितो ह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे ।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५१ ॥

'भगवन् ! मैं आपसे सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, यही मेरा अभीष्ट मनोरथ है; अतः मुझे यही वर दीजिये' ॥ ५१ ॥

प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव ।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनंजय ॥ ५२ ॥
कामान् वृणीष्व लोकांस्त्वं प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनंजयः ॥ ५३ ॥
न लोभान्न पुनः कामान्न देवत्वं पुनः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप ॥ ५४ ॥
भ्रातॄंस्तान् विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च ।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥ ५५ ॥

तब महेन्द्रने प्रसन्नचित्त हो हँसते हुए-से कहा—'धनंजय ! जब तुम यहाँतक आ पहुँचे, तब तुम्हें अस्त्रोंको लेकर क्या करना है ? अब इच्छानुसार उत्तम लोक माँग लो; क्योंकि तुम्हें उत्तम गति प्राप्त हुई है ।' यह सुनकर धनंजयने पुनः देवराजसे कहा—'देवेश्वर ! मैं अपने भाइयोंको वनमें छोड़कर (शत्रुओंसे) वैरका बदला लिये बिना लोभ अथवा कामनाके वशीभूत हो न तो देवत्व चाहता हूँ, न सुख और न सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेनेकी ही मेरी इच्छा है । यदि मैंने वैसा किया तो सदाके लिये सम्पूर्ण लोकोंमें मुझे महान् अपयश प्राप्त होगा' ॥ ५२—५५ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम् ।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ५६ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर विश्ववन्दित, वृत्रविनाशक इन्द्रने मधुर वाणीमें अर्जुनको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ ५६ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम् ।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ॥ ५७ ॥

'तात ! जब तुम्हें तीन नेत्रोंसे विभूषित त्रिशूलधारी भूतनाथ भगवान् शिवका दर्शन होगा, तब मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा ॥ ५७ ॥

क्रियतां दर्शने यत्नो देवस्य परमेष्ठिनः ।
दर्शनात् तस्य कौन्तेय संसिद्धः स्वर्गमेष्यसि ॥ ५८ ॥

'कुन्तीकुमार ! तुम उन परमेश्वर महादेवजीका दर्शन पानेके लिये प्रयत्न करो । उनके दर्शनसे पूर्णतः सिद्ध हो जानेपर तुम स्वर्गलोकमें पधारोगे' ॥ ५८ ॥

इत्युक्त्वा फाल्गुनं शक्रो जगामादर्शनं पुनः ।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ॥ ५९ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर इन्द्र पुनः अदृश्य हो गये । तत्पश्चात् अर्जुन योगयुक्त हुए वहीं रहने लगे ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि इन्द्रदर्शने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें इन्द्रदर्शनविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

(कैरातपर्व)

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनकी उग्र तपस्या और उसके विषयमें ऋषियोंका भगवान् शङ्करके साथ वार्तालाप

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।
विस्तरेण कथामेतां यथास्त्राण्युपलब्धवान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—भगवन् ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनकी यह कथा मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ; उन्होंने किस प्रकार अस्त्र प्राप्त किये ? ॥ १ ॥

यथा च पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनंजयः ।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ॥ २ ॥

पुरुषसिंह महाबाहु तेजस्वी धनंजय उस निर्जन वनमें निर्भयके समान कैसे चले गये थे ? ॥ २ ॥

किं च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम ।
कथं च भगवान् स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! उस वनमें रहकर पार्थने क्या किया ? भगवान् शंकर तथा देवराज इन्द्रको कैसे संतुष्ट किया ? ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम ।
त्वं हि सर्वज्ञ दिव्यं च मानुषं चैव वेत्थ ह ॥ ४ ॥

विप्रवर ! मैं आपकी कृपासे ये सब बातें सुनना चाहता हूँ । सर्वज्ञ ! आप दिव्य और मानुष सभी वृत्तान्तोंको जानते हैं ॥ ४ ॥

अत्यद्भुततमं ब्रह्मन् रोमहर्षणमर्जुनः ।
भवेन सह संग्रामं चकाराप्रतिमं किल ॥ ५ ॥
पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः ।
यच्छ्रुत्वा नरसिंहानां दैन्यहर्षातिविस्मयात् ॥ ६ ॥
शूराणामपि पार्थानां हृदयानि चकम्पिरे ।
यद् यच्च कृतवानन्यत् पार्थस्तदखिलं वद ॥ ७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने सुना है, कभी संग्राममें परास्त न होनेवाले

योद्धाओंमें श्रेष्ठ अर्जुनने पूर्वकालमें भगवान् शङ्करके साथ अत्यन्त अद्भुत, अनुपम और रोमाञ्चकारी युद्ध किया था, जिसे सुनकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके हृदयोंमें भी दैन्य, हर्ष और विस्मयके कारण कँपकँपी छा गयी थी। अर्जुनने और भी जो-जो कार्य किये हों, वे सब भी मुझे बताइये ॥ ५—७ ॥

न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ॥ ८ ॥

शूरवीर अर्जुनका अत्यन्त सूक्ष्म चरित्र भी ऐसा नहीं दिखायी देता है, जिसमें थोड़ी-सी भी निन्दाके लिये स्थान हो; अतः वह सब मुझसे कहिये ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

कथयिष्यामि ते तात कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां पौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तात ! पौरवश्रेष्ठ ! महात्मा अर्जुनकी यह कथा दिव्य, अद्भुत और महत्त्वपूर्ण है; इसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ९ ॥

गात्रसंस्पर्शसम्बद्धां त्र्यम्बकेण सहानघ ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सस्य समागमम् ॥ १० ॥

अनघ ! देवदेव महादेवजीके साथ अर्जुनके शरीरका जो स्पर्श हुआ था, उससे सम्बन्ध रखनेवाली यह कथा है। तुम उन दोनोंके मिलनका यह वृत्तान्त भली-भाँति सुनो ॥

युधिष्ठिरनियोगात् स जगामामितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ॥ ११ ॥
दिव्यं तद् धनुरादाय खड्गं च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ॥ १२ ॥
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन् सर्वलोकमहारथः ॥ १३ ॥

राजन् ! अमित पराक्रमी, महाबली, महाबाहु, कुरुकुलभूषण, इन्द्रपुत्र अर्जुन, जो सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी और सुस्थिर चित्तवाले थे, युधिष्ठिरकी आज्ञासे देवराज इन्द्र तथा देवाधिदेव भगवान् शंकरका दर्शन करनेके लिये कार्यकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर अपने उस दिव्य (गाण्डीव) धनुष और सोनेकी मूँठवाले खड्गको हाथमें लिये उत्तर दिशामें हिमालय पर्वतकी ओर चले ॥

त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः ।
वनं कण्टकितं घोरमेक एवान्वपद्यत ॥ १४ ॥

तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके बड़ी उतावलीके साथ जाते हुए वे अकेले ही एक भयंकर कण्टकाकीर्ण वनमें पहुँचे ॥ १४ ॥

नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ १५ ॥

जो नाना प्रकारके फल-फूलोंसे भरा था, भाँति-भाँतिके पक्षी जहाँ कलरव कर रहे थे, अनेक जातियोंके मृग उन वनमें सब ओर विचरते रहते थे तथा कितने ही सिद्ध और चारण निवास कर रहे थे ॥ १५ ॥

ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम् ।
शङ्खानां पटहानां च शब्दः समभवद् दिवि ॥ १६ ॥

तदनन्तर कुन्तीनन्दन अर्जुनके उस निर्जन वनमें पहुँचते ही आकाशमें शङ्खों और नगाड़ोंका गम्भीर घोष गूँज उठा ॥

पुष्पवर्षं च सुमहन्निपपात महीतले ।
मेघजालं च विततं छादयामास सर्वतः ॥ १७ ॥
सोऽतीत्य वनदुर्गाणि संनिकर्षे महागिरेः ।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ॥ १८ ॥

पृथ्वीपर फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी। मेघोंकी घटा घिरकर आकाशमें सब ओर छा गयी। उन दुर्गम वनस्थलियोंको लाँघकर अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागमें एक महान् पर्वतके निकट निवास करते हुए शोभा पाने लगे ॥ १७-१८ ॥

तत्रापश्यद् द्रुमान् फुल्लान् विहगैर्वल्गुनादितान् ।
नदीश्च विपुलावर्ता वैदूर्यविमलप्रभाः ॥ १९ ॥

वहाँ उन्होंने फूलोंसे सुशोभित बहुत-से वृक्ष देखे, जो पक्षियोंके मधुर शब्दसे गुञ्जायमान हो रहे थे। उन्होंने वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई शोभामयी कितनी ही नदियाँ देखीं, जिनमें बहुत-सी भँवरें उठ रही थीं ॥ १९ ॥

हंसकारण्डवोद्गीताः सारसाभिरुतास्तथा ।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिताः ॥ २० ॥

हंस, कारण्डव तथा सारस आदि पक्षी वहाँ मीठी बोली बोलते थे। तटवर्ती वृक्षोंपर कोयल मनोहर शब्द बोल रही थी। क्रौंचके कलरव और मयूरोंकी केकाध्वनि भी वहाँ सब ओर गूँजती रहती थी ॥ २० ॥

मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्नतिरथोऽर्जुनः ।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन् प्रीतमनाभवत् ॥ २१ ॥

उन नदियोंके आसपास मनोहर वनश्रेणी सुशोभित होती थी। हिमालयके उस शिखरपर पवित्र, शीतल और निर्मल जलसे भरी हुई उन सुन्दर सरिताओंका दर्शन करके अतिरथी अर्जुनका मन प्रसन्नतासे खिल उठा ॥ २१ ॥

रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
तपस्युग्रे वर्तमान उग्रतेजा महामनाः ॥ २२ ॥

उग्र तेजस्वी महामना अर्जुन वहाँ वनके रमणीय प्रदेशोंमें घूम-फिरकर बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न हो गये ॥

दर्भचीरं निवस्याथ दण्डाजिनविभूषितः ।
शीर्णं च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ॥ २३ ॥

कुशाका ही चीर धारण किये तथा दण्ड और मृगचर्मसे

विभूषित अर्जुन पृथ्वीपर गिरे हुए सूखे पत्तोंका ही भोजनके स्थानमें उपयोग करते थे ॥ २३ ॥

पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः ।
द्विगुणेन हि कालेन द्वितीयं मासमत्ययात् ॥ २४ ॥

एक मासतक वे तीन-तीन रातके बाद केवल फलाहार करके रहे । दूसरे मासको उन्होंने पहलेकी अपेक्षा दूने-दूने समयपर अर्थात् छः-छः रातके बाद फलाहार करके व्यतीत किया ॥ २४ ॥

तृतीयमपि मासं स पक्षेणाहारमाचरन् ।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते मासे भरतसत्तमः ॥ २५ ॥
वायुभक्षो महाबाहुरभवत् पाण्डुनन्दनः ।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥ २६ ॥

तीसरा महीना पंद्रह-पंद्रह दिनमें भोजन करके बिताया । चौथा महीना आनेपर भरतश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन केवल वायु पीकर रहने लगे । वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी सहारेके पैरके अंगूठेके अग्रभागके बलपर खड़े रहे ॥ २५-२६ ॥

सदोपस्पर्शनाच्चास्य बभूवुरमितौजसः ।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

अमित तेजस्वी महात्मा अर्जुनके सिरकी जटाएँ नित्य स्नान करनेके कारण विद्युत् और कमलोंके समान हो गयी थीं ॥ २७ ॥

ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ।
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रे समास्थितम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर भयंकर तपस्यामें लगे हुए अर्जुनके विषयमें कुछ निवेदन करनेकी इच्छासे वहाँ रहनेवाले सभी महर्षि पिनाकधारी महादेवजीकी सेवामें गये ॥ २८ ॥

तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ।
एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमास्थितः ॥ २९ ॥
उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन् दिशः ।
तस्य देवेश न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ॥ ३० ॥

उन्होंने महादेवजीको प्रणाम करके अर्जुनका वह तपरूप कर्म कह सुनाया । वे बोले—'भगवन्! ये महातेजस्वी कुन्ती-पुत्र अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागमें स्थित हो अपार एवं दु... तपस्यामें संलग्न हैं और सम्पूर्ण दिशाओंको धूमाच्छादित... रहे हैं । देवेश्वर ! वे क्या करना चाहते हैं, इस वि... हमलोगोंमेंसे कोई कुछ नहीं जानता है ॥ २९-३० ॥

संतापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्यताम् ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ३१ ॥
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ।

'वे अपनी तपस्याके संतापसे हम सब महर्षियोंको सं... कर रहे हैं । अतः आप उन्हें तपस्यासे सद्भावपूर्वक नि... कीजिये ।' पवित्र चित्तवाले उन महर्षियोंका यह वचन सुन... भूतनाथ भगवान् शंकर इस प्रकार बोले ॥ ३१½ ॥

महादेव उवाच

न वो विषादः कर्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः ॥ ३२ ॥
शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः ।
अहमस्य विजानामि संकल्पं मनसि स्थितम् ॥ ३३ ॥

महादेवजीने कहा—महर्षियो ! तुम्हें अर्जुनके विषय... किसी प्रकारका विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं है । तु... आलस्यरहित हो शीघ्र ही प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये हो, वै... ही लौट जाओ । अर्जुनके मनमें जो संकल्प है, मैं उ... भलीभाँति जानता हूँ ॥ ३२-३३ ॥

नास्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्यस्य तथाऽऽयुषः ।
यत् तस्य काङ्क्षितं सर्वं तत् करिष्येऽहमद्य वै ॥ ३४ ॥

उन्हें स्वर्गलोककी कोई इच्छा नहीं है, वे ऐश्वर्य त... आयु भी नहीं चाहते । वे जो कुछ पाना चाहते हैं, वह स... मैं आज ही पूर्ण करूँगा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः ।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथा स्वान् पुनरालयान् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भगवान् शंकरका य... वचन सुनकर वे सत्यवादी महर्षि प्रसन्नचित्त हो फिर अपने... आश्रमोंको लौट गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि मुनिशङ्करसंवादे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महर्षियों तथा भगवान् शङ्करके संवादसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शङ्कर और अर्जुनका युद्ध, अर्जुनपर उनका प्रसन्न होना एवं अर्जुनके द्वारा भगवान् शङ्करकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हरः ॥ १ ॥
कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम् ।
विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवापरः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन सब तपस्वी महात्माओंके चले जानेपर सर्वपापहारी, पिनाकपाणि, भगवान् शङ्कर किरातवेष धारण करके सुवर्णमय वृक्षके सदृश दिव्य कान्तिसे उद्भासित होने लगे । उनका शरीर दूसरे मेरुपर्वतके समान दीप्तिमान् और विशाल था ॥ १-२ ॥

श्रीमद् धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव ॥ ३ ॥

वे एक शोभायमान धनुष और सर्पोंके समान विषाक्त बाण लेकर बड़े वेगसे चले । मानो साक्षात् अग्निदेव ही देह धारण करके निकले हों ॥ ३ ॥

देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेषया ।
नानावेषधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा ॥ ४ ॥
किरातवेषसंच्छन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।
अशोभत तदा राजन् स देशोऽतीव भारत ॥ ५ ॥

उनके साथ भगवती उमा भी थीं, जिनका व्रत और वेष भी उन्हींके समान था । अनेक प्रकारके वेष धारण किये भूतगण भी प्रसन्नतापूर्वक उनके पीछे हो लिये थे । इस प्रकार किरातवेषमें छिपे हुए श्रीमान् शिव सहस्रों स्त्रियोंसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे । भरतवंशी राजन् ! उस समय वह प्रदेश उन सबके चलने-फिरनेसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥ ४-५ ॥

क्षणेन तद् वनं सर्वं निःशब्दमभवत् तदा ।
नादः प्रस्रवणानां च पक्षिणां चाप्युपारमत् ॥ ६ ॥

एक ही क्षणमें वह सारा वन शब्दरहित हो गया । झरनों और पक्षियोंतककी आवाज बंद हो गयी ॥ ६ ॥

स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।
मूकं नाम दनोः पुत्रं ददर्शाद्भुतदर्शनम् ॥ ७ ॥
वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवार्जुनम् ।
हन्तुं परं दीप्यमानं तमुवाचाथ फाल्गुनः ॥ ८ ॥
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ॥ ९ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनके निकट आकर भगवान् शङ्करने अद्भुत दीखनेवाले मूकनामक अद्भुत दानवको देखा, जो सूअरका रूप धारण करके अत्यन्त तेजस्वी अर्जुनको मार डालनेका उपाय सोच रहा था; उस समय अर्जुनने गाण्डीव धनुष और विषैले सर्पोंके समान भयंकर बाण हाथमें ले धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकारसे दिशाओंको प्रतिध्वनित करके कहा—॥ ७-९ ॥

यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहागतम् ।
तस्मात् त्वां पूर्वमेवाहं नेताद्य यमसादनम् ॥ १० ॥

'अरे ! तू यहाँ आये हुए मुझ निरपराधको मारनेकी घातमें लगा है; इसीलिये मैं आज पहले ही तुझे यमलोक भेज दूँगा' ॥ १० ॥

दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शङ्करः ॥ ११ ॥

सुदृढ़ धनुषवाले अर्जुनको प्रहारके लिये उद्यत देख किरातरूपधारी भगवान् शङ्करने उन्हें सहसा रोका ॥ ११ ॥

मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रकीलसमप्रभः ।
अनादृत्य च तद् वाक्यं प्रजहाराथ फाल्गुनः ॥ १२ ॥

और कहा—'इन्द्रकील पर्वतके समान कान्तिवाले इस सूअरको पहलेसे ही मैंने अपना लक्ष्य बना रखा है, अतः तुम न मारो ।' परंतु अर्जुनने किरातके वचनकी अवहेलना करके उसपर प्रहार कर ही दिया ॥ १२ ॥

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥ १३ ॥

साथ ही महातेजस्वी किरातने भी उसी एकमात्र लक्ष्यपर बिजली और अग्निशिखाके समान तेजस्वी बाण छोड़ा ॥ १३ ॥

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः ।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ॥ १४ ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए वे दोनों बाण एक ही साथ मूक दानवके पर्वत-सदृश विशाल शरीरमें लगे ॥ १४ ॥

यथाशनेर्विनिर्घोषो वज्रस्येव च पर्वते ।
तथा तयोः संनिपातः शरयोरभवत् तदा ॥ १५ ॥

जैसे पर्वतपर बिजलीकी गड़गड़ाहट और वज्रपातका भयंकर शब्द होता है, उसी प्रकार उन दोनों बाणोंके आघातका शब्द हुआ ॥ १५ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव ।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान अनेक बाणोंसे घायल होकर वह दानव फिर अपने भयानक राक्षसरूपको प्रकट करते हुए मर गया ॥ १६ ॥

स ददर्श ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम्।
किरातवेषसंच्छन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ॥ १७ ॥
तमब्रवीत् प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव।
को भवानटते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ॥ १८ ॥

इसी समय शत्रुनाशक अर्जुनने सुवर्णके समान कान्तिमान् एक तेजस्वी पुरुषको देखा, जो स्त्रियोंके साथ आकर अपनेको किरातवेषमें छिपाये हुए थे। तब कुन्तीकुमारने प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए-से कहा—'आप कौन हैं जो इस सूने वनमें स्त्रियोंसे घिरे हुए घूम रहे हैं? ॥ १७-१८ ॥

न त्वमस्मिन् वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ।
किमर्थं च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ॥ १९ ॥

'सुवर्णके समान दीप्तिमान् पुरुष! क्या आपको इस भयानक वनमें भय नहीं लगता? यह सूअर तो मेरा लक्ष्य था, आपने क्यों उसपर बाण मारा? ॥ १९ ॥

मयाभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहागतः।
कामात् परिभवाद् वापि न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ २० ॥

'यह राक्षस पहले यहीं मेरे पास आया था और मैंने इसे काबूमें कर लिया था। आपने किसी कामनासे इस शूकरको मारा हो या मेरा तिरस्कार करनेके लिये। किसी दशामें भी मैं आपको जीवित नहीं छोड़ूँगा ॥ २० ॥

न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाद्य कृतो मयि।
तेन त्वां भ्रंशयिष्यामि जीवितात् पर्वताश्रयम् ॥ २१ ॥

'यह मृगयाका धर्म नहीं है, जो आज आपने मेरे साथ किया है। आप पर्वतके निवासी हैं तो भी उस अपराधके कारण मैं आपको जीवनसे वञ्चित कर दूँगा' ॥ २१ ॥

इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर किरातवेषधारी भगवान् शङ्कर जोर-जोरसे हँस पड़े और सव्यसाची पाण्डवसे मधुर वाणीमें बोले—॥ २२ ॥

न मत्कृते त्वया वीर भीः कार्या वनमन्तिकात्।
इयं भूमिः सदास्माकमुचिता वसतां वने ॥ २३ ॥

'वीर! तुम हमारे लिये वनके निकट आनेके कारण भय न करो। हम तो वनवासी हैं, अतः हमारे लिये इस भूमिपर विचरना सदा उचित ही है ॥ २३ ॥

त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः।
वयं तु बहुसत्त्वेऽस्मिन् निवसामस्तपोधन ॥ २४ ॥

'किंतु तुमने यहाँका दुष्कर निवास कैसे पसंद किया? तपोधन! हम तो अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें सदा ही रहते हैं ॥ २४ ॥

भवांस्तु कृष्णवर्त्माभः सुकुमारः सुखोचितः।
कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ॥ २५ ॥

'तुम्हारे अङ्गोंकी प्रभा प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती है। तुम सुकुमार हो और सुख भोगनेके योग्य प्रतीत होते हो। इस निर्जन प्रदेशमें किसलिये अकेले विचर रहे हो?' ॥ २५ ॥

अर्जुन उवाच

गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाग्निसंनिभान्।
निवसामि महारण्ये द्वितीय इव पावकिः ॥ २६ ॥

अर्जुनने कहा—मैं गाण्डीव धनुष और अग्नि-समान तेजस्वी बाणोंका आश्रय लेकर इस महान् वनमें द्वितीय कार्तिकेयकी भाँति (निर्भय) निवास करता हूँ ॥ २६ ॥

एष चापि मया जन्तुर्मृगरूपं समाश्रितः।
राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चागतः ॥ २७ ॥

यह प्राणी हिंसक पशुका रूप धारण करके मुझे ही मारनेके लिये यहाँ आया था; अतः इस भयंकर राक्षसको मैंने मार गिराया है ॥ २७ ॥

किरात उवाच

मयैष धन्वनिर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥ २८ ॥

किरातरूपधारी शिव बोले—मैंने अपने धनुषद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे पहले ही इसे घायल कर दिया था। मेरे ही बाणोंकी चोट खाकर यह सदाके लिये सो रहा है और यमलोकमें पहुँच गया ॥ २८ ॥

ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः।
ममैव च प्रहारेण जीविताद् व्यपरोपितः ॥ २९ ॥

मैंने ही पहले इसे अपने बाणोंका निशाना बनाया, अतः तुमसे पहले इसपर मेरा अधिकार स्थापित हो चुका था। मेरे ही तीव्र प्रहारसे इस दानवको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा है ॥ २९ ॥

दोषान् स्वान् नार्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः।
अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन् न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ ३० ॥

मन्दबुद्धे! तुम अपने बलके घमंडमें आकर अपने दोष दूसरेपर नहीं मढ़ सकते। तुम्हें अपनी शक्तिपर बड़ा गर्व है; अतः अब तुम मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकते ॥

स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीनिव।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ॥ ३१ ॥

धैर्यपूर्वक सामने खड़े रहो, मैं वज्रके समान भयानक बाण छोड़ूँगा। तुम भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे जीतनेका प्रयास करो। मेरे ऊपर अपने बाण छोड़ो ॥ ३१ ॥

अर्जुनकी तपस्या
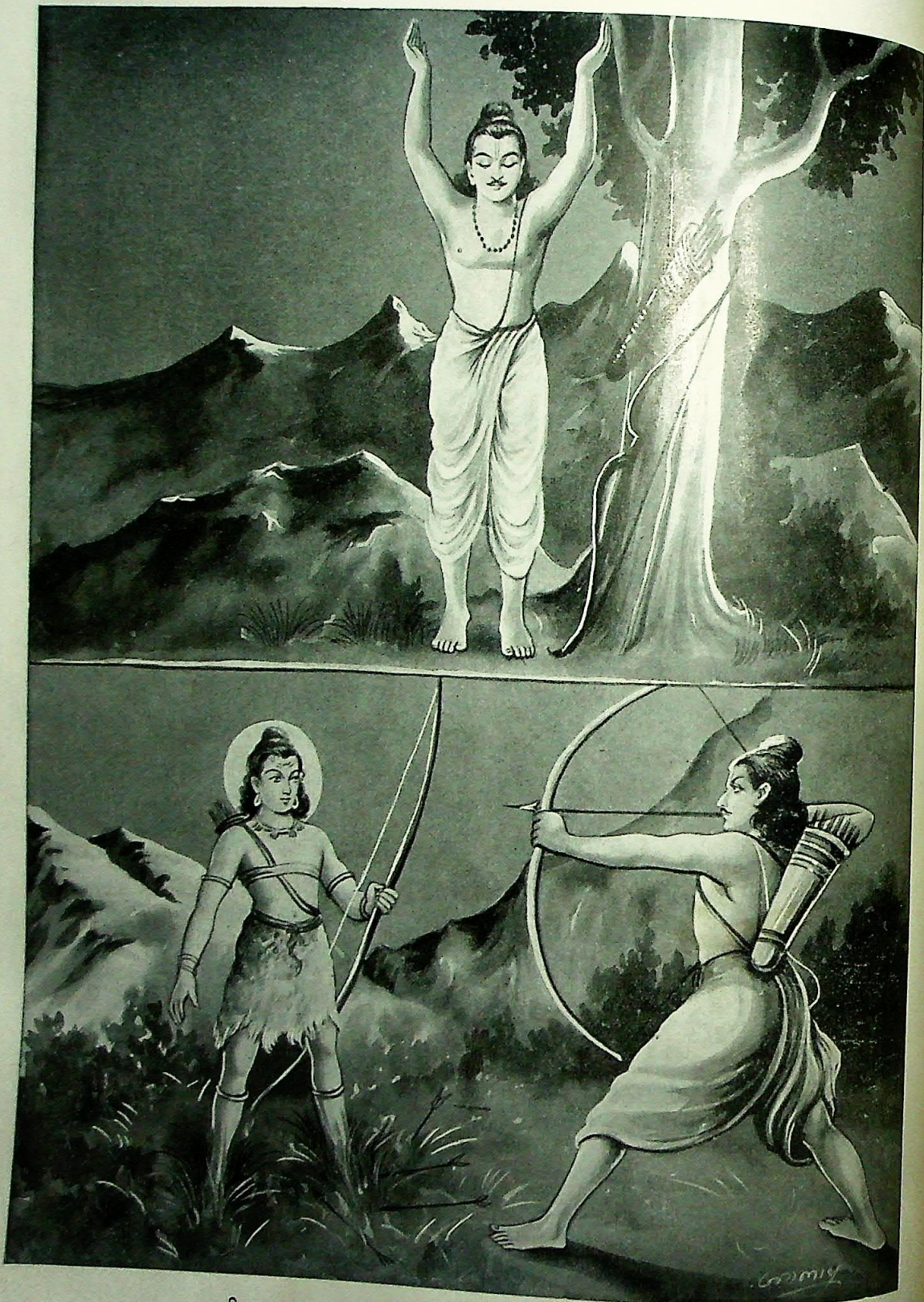
अर्जुनका किरातवेषधारी भगवान् शिवपर बाण चलाना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा किरातस्यार्जुनस्तदा।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥ ३२ ॥

किरातकी वह बात सुनकर उस समय अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने बाणोंसे उसपर प्रहार आरम्भ किया ॥

ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान्।
भूयो भूय इति प्राह मन्दमन्देत्युवाच ह ॥ ३३ ॥
प्रहरस्व शरानेतान् नाराचान् मर्मभेदिनः।

तब किरातने प्रसन्न चित्तसे अर्जुनके छोड़े हुए सभी बाणोंको पकड़ लिया और कहा—'ओ मूर्ख! और बाण मार और बाण मार, इन मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार कर' ॥ ३३½ ॥

इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसार्जुनः ॥ ३४ ॥

उसके ऐसा कहनेपर अर्जुनने सहसा बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ३४ ॥

ततस्तौ तत्र संरब्धौ राजमानौ मुहुर्मुहुः।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वे दोनों क्रोधमें भरकर बारंबार सर्पाकार बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल करने लगे। उस समय उन दोनोंकी बड़ी शोभा होने लगी ॥ ३५ ॥

ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत्।
तत् प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शङ्करः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने किरातपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की; परंतु भगवान् शङ्करने प्रसन्नचित्तसे उन सब बाणोंको ग्रहण कर लिया ॥ ३६ ॥

मुहूर्तं शरवर्षं तत् प्रतिगृह्य पिनाकधृक्।
अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ३७ ॥

पिनाकधारी शिव दो ही घड़ीमें सारी बाणवर्षाको अपनेमें लीन करके पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे। उनके शरीरपर तनिक भी चोट या क्षति नहीं पहुँची थी ॥ ३७ ॥

स दृष्ट्वा बाणवर्षं तु मोघीभूतं धनंजयः।
परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ ३८ ॥

अपनी की हुई सारी बाणवर्षा व्यर्थ हुई देख धनंजयको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे किरातको साधुवाद देने लगे और बोले— ॥ ३८ ॥

अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखराश्रयः।
गाण्डीवमुक्तान् नाराचान् प्रतिगृह्णात्यविह्वलः ॥ ३९ ॥

'अहो! हिमालयके शिखरपर निवास करनेवाले इस किरातके अङ्ग तो बड़े सुकुमार हैं, तो भी यह गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंको ग्रहण कर लेता है और तनिक भी व्याकुल नहीं होता ॥ ३९ ॥

कोऽयं देवो भवेन् साक्षाद् रुद्रो यक्षः सुरोऽसुरः।
विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः ॥ ४० ॥

'यह कौन है? साक्षात् भगवान् रुद्रदेव, यक्ष, देवता अथवा असुर तो नहीं है। इस श्रेष्ठ पर्वतपर देवताओंका आना-जाना होता रहता है ॥ ४० ॥

न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः।
शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥ ४१ ॥

'मैंने सहस्रों बार जिन बाण-समूहोंकी वृष्टि की है, उनका वेग पिनाकधारी भगवान् शङ्करके सिवा दूसरा कोई नहीं सह सकता ॥ ४१ ॥

देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ ४२ ॥

'यदि यह रुद्रदेवसे भिन्न व्यक्ति है तो यह देवता हो या यक्ष—मैं इसे तीखे बाणोंसे मारकर अभी यमलोक भेजता हूँ' ॥ ४२ ॥

ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान् मर्मभेदिनः।
व्यसृजच्छतधा राजन् मयूखानिव भास्करः ॥ ४३ ॥

राजन्! यह सोचकर प्रसन्नचित्त अर्जुनने सहस्रों किरणोंको फैलानेवाले भगवान् भास्करकी भाँति सैकड़ों मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार किया ॥ ४३ ॥

तान् प्रसन्नेन मनसा भगवाँल्लोकभावनः।
शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाचलः ॥ ४४ ॥

परंतु त्रिशूलधारी, भूतभावन भगवान् भवने हर्षभरे हृदयसे उन सब नाराचोंको उसी प्रकार आत्मसात् कर लिया, जैसे पर्वत पत्थरोंकी वर्षाको ॥ ४४ ॥
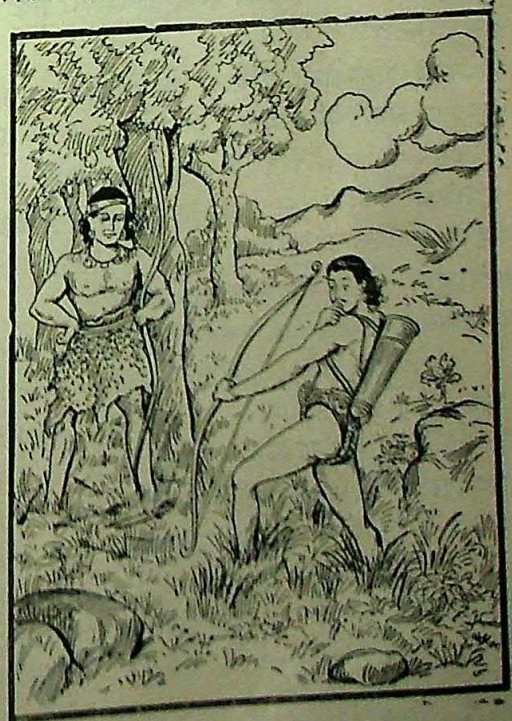
क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा।
भीःसमाविशत् तीव्रा तं दृष्ट्वा शरसंक्षयम् ॥ ४५ ॥

उस समय एक ही क्षणमें अर्जुनके सारे बाण समाप्त हो चले। उन बाणोंका इस प्रकार विनाश देखकर उनके मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ४५ ॥

चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम्।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनास्य खाण्डवे ॥ ४६ ॥

विजयी अर्जुनने उस समय भगवान् अग्निदेवका चिन्तन किया, जिन्होंने खाण्डववनमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें दो अक्षय तूणीर प्रदान किये थे ॥ ४६ ॥

किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः।
अयं च पुरुषः कोऽपि बाणान् ग्रसति सर्वशः ॥ ४७ ॥
हत्वा चैनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम्।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ॥ ४८ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे, 'मेरे सारे बाण नष्ट हो गये, अब मैं धनुषसे क्या चलाऊँगा। यह कोई अद्भुत पुरुष है, जो मेरे सारे बाणोंको खाये जा रहा है। अच्छा, अब मैं शूलके अग्रभागसे घायल किये जानेवाले हाथीकी भाँति इसे धनुषकी कोटि (नोक) से मारकर दण्डधारी यमराजके लोकमें पहुँचा देता हूँ' ॥ ४७-४८ ॥

प्रगृह्याथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेनावकृष्य च।
मुष्टिभिश्चापि हतवान् वज्रकल्पैर्महाद्युतिः ॥ ४९ ॥

ऐसा विचारकर महातेजस्वी अर्जुनने किरातको अपने धनुषकी कोटिसे पकड़कर उसकी प्रत्यञ्चामें उसके शरीरको फँसाकर खींचा और वज्रके समान दुःसह मुष्टिप्रहारसे पीडित करना प्रारम्भ किया ॥ ४९ ॥

सम्प्रयुद्धो धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः ॥ ५० ॥

शत्रु वीरोंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनने जब धनुषकी कोटिसे प्रहार किया, तब उस पर्वतीय किरातने अर्जुनके उस दिव्य धनुषको भी अपनेमें लीन कर लिया ॥

ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत।
युद्धस्यान्तमभीप्सन् वै वेगेनाभिजगाम तम् ॥ ५१ ॥

तदनन्तर धनुषके ग्रस्त हो जानेपर अर्जुन हाथमें तलवार लेकर खड़े हो गये और युद्धका अन्त कर देनेकी इच्छासे वेगपूर्वक उसपर आक्रमण किया ॥ ५१ ॥

तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि।
मुमोच भुजवीर्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ॥ ५२ ॥

उनकी वह तलवार पर्वतोंपर भी कुण्ठित नहीं होती थी। कुरुनन्दन अर्जुनने अपने भुजाओंकी पूरी शक्ति लगाकर किरातके मस्तकपर उस तीक्ष्ण धारवाली तलवारसे वार किया ॥ ५२ ॥

तस्य मूर्धानमासाद्य पफालासिवरो हि सः।
ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फाल्गुनः ॥ ५३ ॥

परंतु उसके मस्तकसे टकराते ही वह उत्तम तल[वार] टूक-टूक हो गयी। तब अर्जुनने वृक्षों और शिलाओंसे [युद्ध] करना आरम्भ किया ॥ ५३ ॥

तदा वृक्षान् महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः।
किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ॥ ५४ ॥
मुष्टिभिर्वज्रसंकाशैर्धूममुत्पादयन् मुखे।
प्रजहार दुराधर्षे किरातसमरूपिणि ॥ ५५ ॥

तब विशालकाय किरातरूपी भगवान् शंकरने वृक्षों और शिलाओंको भी ग्रहण कर लिया। यह देख महाबली कुन्तीकुमार अपने वज्रतुल्य मुक्कोंसे दु[र्धर्ष] किरात सदृश रूपवाले भगवान् शिवपर प्रहार करने ल[गे]। उस समय क्रोधके आवेशसे अर्जुनके मुखसे धूम प्रकट [हो] रहा था ॥ ५४-५५ ॥

ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः।
किरातरूपी भगवानर्दयामास फाल्गुनम् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर किरातरूपी भगवान् शिव भी अत्यन्त दा[रुण] और इन्द्रके वज्रके समान दुःसह मुक्कोंसे मारकर अर्जु[नको] पीड़ा देने लगे ॥ ५६ ॥

ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समपद्यत।
पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युध्यतः ॥ ५७ ॥

फिर तो घमासान युद्धमें लगे हुए पाण्डुनन्दन अ[र्जुन] तथा किरातरूपी शिवके मुक्कोंका एक-दूसरेके शरीरपर प्र[हार] होनेसे बड़ा भयंकर 'चट-चट' शब्द होने लगा ॥ ५७ ॥

सुमुहूर्तं तु तद् युद्धमभवल्लोमहर्षणम्।
भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ॥ ५८ ॥

वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनोंका वह रोमा[ञ्च]कारी बाहुयुद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ॥ ५८ ॥

जघानाथ ततो जिष्णुः किरातमुरसा बली।
पाण्डवं च विचेष्टं तं किरातोऽप्यहनद् बली ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् बलवान् वीर अर्जुनने अपनी छातीसे किरात[को] बड़े जोरसे मारा, तब महाबली किरातने भी विपरीत चे[ष्टा] करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनपर आघात किया ॥ ५९ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषात् संघर्षेणोरसोस्तथा।
समजायत गात्रेषु पावकोऽङ्गारधूमवान् ॥ ६० ॥

उन दोनोंकी भुजाओंके टकराने और वक्षःस्थलोंके संघर्षसे उनके अङ्गोंमें धूम और चिनगारियोंके साथ आ[ग] प्रकट हो जाती थी ॥ ६० ॥

तत एनं महादेवः पीड्य गात्रैः सुपीडितम्।
तेजसा व्यक्रमद् रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर ! महादेवजीने अपने अङ्गोंसे दबाकर अर्जुनको अच्छी तरह पीड़ा दी और उनके चित्तको मूर्च्छित-सा करते

हुए उन्होंने तेज तथा रोषसे उनके ऊपर अपना पराक्रम प्रकट किया ॥ ६१ ॥

ततोऽभिपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवावभौ ।
फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ॥ ६२ ॥

भारत ! तदनन्तर देवाधिदेव महादेवजीके अङ्गोंसे अवरुद्ध हो अर्जुन अपने पीड़ित अवयवोंके साथ मिट्टीके लौंदे-से दिखायी देने लगे ॥ ६२ ॥

निरुच्छ्वासोऽभवच्चैव संनिरुद्धो महात्मना ।
पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाभवत् ॥ ६३ ॥

महात्मा भगवान् शंकरके द्वारा भलीभाँति नियन्त्रित हो जानेके कारण अर्जुनकी श्वासक्रिया बंद हो गयी। वे निष्प्राणकी भाँति चेष्टाहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६३ ॥

स मुहूर्तं तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः ।
रुधिरेणाप्लुताङ्गस्तु पाण्डवो भृशदुःखितः ॥ ६४ ॥

दो घड़ीतक उसी अवस्थामें पड़े रहनेके पश्चात् जब अर्जुनको चेत हुआ, तब वे उठकर खड़े हो गये । उस समय उनका सारा शरीर खूनसे लथपथ हो रहा था और वे बहुत दुखी हो गये थे ॥ ६४ ॥

शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम् ।
मृन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनापूजयद् भवम् ॥ ६५ ॥

तब वे शरणागतवत्सल पिनाकधारी भगवान् शिवकी शरणमें गये और मिट्टीकी वेदी बनाकर उसीपर पार्थिव शिवकी स्थापना करके पुष्पमालाके द्वारा उनका पूजन किया ॥

तच्च माल्यं तदा पार्थः किरातशिरसि स्थितम् ।
अपश्यत् पाण्डवश्रेष्ठो हर्षेण प्रकृतिं गतः ॥ ६६ ॥

कुन्तीकुमारने जो माला पार्थिव शिवपर चढ़ायी थी, वह उन्हें किरातके मस्तकपर पड़ी दिखायी दी । यह देखकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन हर्षसे उल्लसित हो अपने आपेमें आ गये ॥

पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद् भवः ।
उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः ।
जातविस्मयमालोक्य तपःक्षीणाङ्गसंहतिम् ॥ ६७ ॥

और किरातरूपी भगवान् शंकरके चरणोंमें गिर पड़े। उस समय तपस्याके कारण उनके समस्त अवयव क्षीण हो रहे थे और वे महान् आश्चर्यमें पड़ गये थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर सर्वपापहारी भगवान् भव उनपर बहुत प्रसन्न हुए और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोले ॥ ६७ ॥

भव उवाच

भो भोः फाल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाप्रतिमेन ते ।
शौर्येणानेन धृत्या च क्षत्रियो नास्ति ते समः ॥ ६८ ॥

भगवान् शिवने कहा—फाल्गुन ! मैं तुम्हारे इस अनुपम पराक्रम, शौर्य और धैर्यसे बहुत संतुष्ट हूँ । तुम्हारे समान दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं है ॥ ६८ ॥

समं तेजश्च वीर्यं च ममाद्य तव चानघ ।
प्रीतस्तेऽहं महाबाहो पश्य मां भरतर्षभ ॥ ६९ ॥

अनघ ! तुम्हारा तेज और पराक्रम आज मेरे समान सिद्ध हुआ है । महाबाहु भरतश्रेष्ठ ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । मेरी ओर देखो ॥ ६९ ॥

ददामि ते विशालाक्ष चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।
विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान् दिवौकसः ॥ ७० ॥

विशाललोचन ! मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ । तुम पहलेके 'नर' नामक ऋषि हो । तुम युद्धमें अपने शत्रुओंपर, वे चाहे सम्पूर्ण देवता ही क्यों न हों, विजय पाओगे ॥ ७० ॥

प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ।
त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ॥ ७१ ॥

मैं तुम्हारे प्रेमवश तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र दूँगा, जिसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता । तुम क्षणभरमें मेरे उस अस्त्रको धारण करनेमें समर्थ हो जाओगे ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फाल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ॥ ७२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनने शूलपाणि महातेजस्वी महादेवजीका देवी पार्वतीसहित दर्शन किया ॥ ७२ ॥

स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरंजयः ॥ ७३ ॥

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले कुन्तीकुमारने उनके आगे पृथ्वीपर घुटने टेक दिये और सिरसे प्रणाम करके शिवजीको प्रसन्न किया ॥ ७३ ॥

अर्जुन उवाच

कपर्दिन् सर्वदेवेश भगनेत्रनिपातन ।
देवदेव महादेव नीलग्रीव जटाधर ॥ ७४ ॥

अर्जुन बोले—जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर देवदेव महादेव ! आप भगदेवताके नेत्रोंका विनाश करनेवाले हैं । आपकी ग्रीवामें नील चिह्न शोभा पा रहा है । आप अपने मस्तकपर सुन्दर जटा धारण करते हैं ॥ ७४ ॥

कारणानां च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम् ।
देवानां च गतिं देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ॥ ७५ ॥

प्रभो ! मैं आपको समस्त कारणोंमें सर्वश्रेष्ठ कारण मानता हूँ । आप त्रिनेत्रधारी तथा सर्वव्यापी हैं । सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हैं । देव ! यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ७५ ॥

अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः सदेवासुरमानुषैः।
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ॥ ७६ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोक भी आपको पराजित नहीं कर सकते। आप ही विष्णुरूप शिव तथा शिवस्वरूप विष्णु हैं; आपको नमस्कार है ॥ ७६ ॥

दक्षयज्ञविनाशाय हरिरुद्राय वै नमः।
ललाटाक्षाय शर्वाय मीढुषे शूलपाणये ॥ ७७ ॥

दक्षयज्ञका विनाश करनेवाले हरिहररूप आप भगवान्‌को नमस्कार है। आपके ललाटमें तृतीय नेत्र शोभा पाता है। आप जगत्‌का संहारक होनेके कारण शर्व कहलाते हैं। भक्तोंकी अभीष्ट कामनाओंकी वर्षा करनेके कारण आपका नाम मीढ्वान् (वर्षणशील) है। अपने हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ७७ ॥

पिनाकगोप्त्रे सूर्याय मङ्गल्याय च वेधसे।
प्रसादये त्वां भगवन् सर्वभूतमहेश्वर ॥ ७८ ॥

पिनाकरक्षक, सूर्यस्वरूप, मङ्गलकारक और सृष्टिकर्ता आप परमेश्वरको नमस्कार है। भगवन्! सर्वभूतमहेश्वर! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥ ७८ ॥

गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम्।
प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ॥ ७९ ॥

आप भूतगणोंके स्वामी, सम्पूर्ण जगत्‌का कल्याण करनेवाले तथा जगत्‌के कारणके भी कारण हैं। प्रकृति और पुरुष दोनोंसे परे अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप तथा भक्तोंके पापोंको हरनेवाले हैं ॥

व्यतिक्रमं मे भगवन् क्षन्तुमर्हसि शंकर।
भगवन् दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ॥ ८० ॥

कल्याणकारी भगवन्! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। भगवन्! मैं आपहीके दर्शनकी इच्छा लेकर इस महान् पर्वतपर आया हूँ ॥ ८० ॥

दयितं तव देवेश तापसालयमुत्तमम्।
प्रसादये त्वां भगवन् सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ ८१ ॥

देवेश्वर! यह शैल-शिखर तपस्वियोंका उत्तम आश्रय तथा आपका प्रिय निवासस्थान है। प्रभो! सम्पूर्ण जगत् आपके चरणोंमें वन्दना करता है। मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ८१ ॥

न मे स्यादपराधोऽयं महादेवातिसाहसात्।
कृतो मयायमज्ञानाद् विमर्दो यस्त्वया सह।
शरणं प्रतिपन्नाय तत् क्षमस्वाद्य शंकर ॥ ८

महादेव! अत्यन्त साहसवश मैंने जो आपके साथ युद्ध किया है, इसमें मेरा अपराध नहीं है। यह अन[जान]में मुझसे बन गया है। शङ्कर! मैं अब आपकी शरणमें [आया] हूँ। आप मेरी उस धृष्टताको क्षमा करें ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फाल्गुनम् ॥ ८

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! तब महातेजस्वी भगवान् वृषभध्वजने अर्जुनका सुन्दर हाथ पकड़कर हँसते हुए कहा—'मैंने तुम्हारा अपराध पहलेसे ही क्षमा कर दिया' ॥ ८३ ॥

परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान् हरः।
पुनः पार्थं सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः ॥ ८४

फिर उन्हें दोनों भुजाओंसे खींचकर हृदयसे लगा और प्रसन्नचित्त हो वृषके चिह्नसे अङ्कितध्वजा धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने पुनः कुन्तीकुमारको सान्त्वना देते हुए कहा ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि महादेवस्तवे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महादेवजीकी स्तुतिसे सम्बन्ध रखनेवाला उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शङ्करका अर्जुनको वरदान देकर अपने धामको प्रस्थान

देवदेव उवाच

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान्।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान् बहून् ॥ १ ॥

देवदेव महादेवजी बोले—अर्जुन ! तुम पूर्वशरीरमें 'नर' नामक सुप्रसिद्ध ऋषि थे। नारायण तुम्हारे सखा हैं। तुमने बदरिकाश्रममें अनेक सहस्र वर्षोंतक उग्र तपस्या की है॥

त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत्॥ २ ॥

तुममें अथवा पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुमें उत्कृष्ट तेज है। तुम दोनों पुरुषरत्नोंने अपने तेजसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रक्खा है ॥ २ ॥

शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिःस्वनम्।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ॥ ३ ॥

प्रभो ! तुमने और श्रीकृष्णने इन्द्रके अभिषेकके समय मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले महान् धनुषको हाथमें लेकर बहुत-से दानवोंका वध किया था ॥ ३ ॥

तदेतदेव गाण्डीवं तव पार्थ करोचितम्।
मायामास्थाय यद् ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम ॥ ४ ॥

पुरुषप्रवर पार्थ ! तुम्हारे हाथमें रहनेयोग्य यही वह गाण्डीव धनुष है, जिसे मैंने मायाका आश्रय लेकर अपनेमें विलीन कर लिया था ॥ ४ ॥

तूणौ चाप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ यथोचितौ।
भविष्यति शरीरं च नीरुजं कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! और ये रहे तुम्हारे दोनों अक्षय तूणीर, जो सर्वथा तुम्हारे ही योग्य हैं। कुन्तीकुमार ! तुम्हारे शरीरमें जो चोट पहुँची है, वह सब दूर होकर तुम नीरोग हो जाओगे ॥५॥

प्रीतिमानस्मि ते पार्थ भवान् सत्यपराक्रमः।
गृहाण वरमस्मत्तः काङ्क्षितं पुरुषोत्तम ॥ ६ ॥

पार्थ ! तुम्हारा पराक्रम यथार्थ है, इसलिये मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। पुरुषोत्तम ! तुम मुझसे मनोवाञ्छित वर ग्रहण करो ॥ ६ ॥

न त्वया पुरुषः कश्चित् पुमान् मर्त्येषु मानद।
दिवि वा वर्तते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिंदम ॥ ७ ॥

मानद ! मर्त्यलोक अथवा स्वर्गलोकमें भी कोई पुरुष तुम्हारे समान नहीं है। शत्रुदमन ! क्षत्रिय-जातिमें तुम्हीं सबसे श्रेष्ठ हो ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन् ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज।
कामये दिव्यमस्त्रं तद् घोरं पाशुपतं प्रभो ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! वृषध्वज ! यदि आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे इच्छानुसार वर देते हैं तो प्रभो ! मैं उस भयंकर दिव्यास्त्र पाशुपतको प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम्।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत् ॥ ९ ॥

जिसका नाम ब्रह्मशिर है, आप भगवान् रुद्र ही जिसके देवता हैं, जो भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाला तथा दारुण प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्का संहारक है ॥ ९ ॥

कर्णभीष्मकृपद्रोणैर्भविता तु महाहवः।
त्वत्प्रसादान्महादेव जयेयं तान् यथा युधि ॥ १० ॥

महादेव ! कर्ण, भीष्म, कृप, द्रोणाचार्य आदिके साथ मेरा महान् युद्ध होनेवाला है, उस युद्धमें मैं आपकी कृपासे उन सबपर विजय पा सकूँ, इसीके लिये दिव्यास्त्र चाहता हूँ ॥

दहेयं येन संग्रामे दानवान् राक्षसांस्तथा।
भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान् ॥ ११ ॥
यस्मिञ्छूलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः।
शराश्चाशीविषाकाराः सम्भवन्त्यनुमन्त्रिते ॥ १२ ॥

मुझे वह अस्त्र प्रदान कीजिये, जिससे संग्राममें दानवों, राक्षसों, भूतों, पिशाचों, गन्धर्वों तथा नागोंको भस्म कर सकूँ। जिस अस्त्रके अभिमन्त्रित करते ही सहस्रों शूल, देखनेमें भयंकर गदाएँ और विषैले सर्पोंके समान बाण प्रकट हों। ११-१२।

युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा ॥ १३ ॥

उस अस्त्रको पाकर मैं भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा सदा कटु भाषण करनेवाले सूतपुत्र कर्णके साथ भी युद्धमें लड़ सकूँ ॥ १३ ॥

एष मे प्रथमः कामो भगवन् भगनेत्रहन्।
त्वत्प्रसादाद् विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा ॥ १४ ॥

भगदेवताकी आँखें नष्ट करनेवाले भगवन् ! आपके समक्ष यह मेरा सबसे पहला मनोरथ है, जो आपहीके कृपा-प्रसादसे पूर्ण हो सकता है। आप ऐसा करें, जिससे मैं सर्वथा शत्रुओंको परास्त करनेमें समर्थ हो सकूँ ॥ १४ ॥

भव उवाच

ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चासि पाण्डव ॥ १५ ॥

महादेवजीने कहा—पराक्रमशाली पाण्डुकुमार ! मैं अपना परम प्रिय पाशुपतास्त्र तुम्हें प्रदान करता हूँ । तुम इसके धारण, प्रयोग और उपसंहारमें समर्थ हो ॥ १५ ॥

नैतद् वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणोऽप्यथवा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥ १६ ॥

इसे देवराज इन्द्र, यम, यक्षराज कुबेर, वरुण अथवा वायुदेवता भी नहीं जानते । फिर साधारण मानव तो जान ही कैसे सकेंगे ? ॥ १६ ॥

न त्वेतत् सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद् विनाशयेत् सर्वमल्पतेजसि पातितम् ॥ १७ ॥

परंतु कुन्तीकुमार ! तुम सहसा किसी पुरुषपर इसका प्रयोग न करना । यदि किसी अल्पशक्ति योद्धापर इसका प्रयोग किया गया तो यह सम्पूर्ण जगत्का नाश कर डालेगा ॥

अवध्यो नाम नास्त्यत्र त्रैलोक्ये सचराचरे ।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपातयेत् ॥ १८ ॥

चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो इस अस्त्रद्वारा मारा न जा सके । इसका प्रयोग करनेवाला पुरुष अपने मानसिक संकल्पसे, दृष्टिसे, वाणीसे तथा धनुष-बाणद्वारा भी शत्रुओंको नष्ट कर सकता है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
उपसंगम्य विश्वेशमधीष्वेत्यथ सोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुन तुरंत ही पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो शिष्य-भावसे भगवान् विश्वेश्वरकी शरण गये और बोले—'भगवन् ! मुझे इस पाशुपतास्त्रका उपदेश कीजिये' ॥ १९ ॥

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ।
तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवान्तकम् ॥ २० ॥
उपतस्थे च तत् पार्थं यथा त्र्यक्षमुमापतिम् ।
प्रतिजग्राह तच्चापि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥ २१ ॥

तब भगवान् शिवने रहस्य और उपसंहारसहित पाशुपतास्त्रका उन्हें उपदेश दिया । उस समय वह अस्त्र जैसे पहले त्रिनेत्रधारी उमापति शिवकी सेवामें उपस्थित हुआ था, उसी प्रकार मूर्तिमान् यमराजतुल्य पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके पास आ गया । तब अर्जुनने बहुत प्रसन्न होकर उसे ग्रहण किया ॥ २०-२१ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ॥ २२ ॥

अर्जुनके पाशुपतास्त्र ग्रहण करते ही पर्वत, वन, वृक्ष, समुद्र, वनस्थली, ग्राम, नगर तथा आकरों (खानों सारी पृथ्वी काँप उठी ॥ २२ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणां च सहस्रशः ।
तस्मिन् मुहूर्ते सम्प्राप्ते निर्घातश्च महानभूत् ॥

उस शुभ मुहूर्तके आते ही शङ्ख और दुन्दुभियों होने लगे । सहस्रों भेरियाँ बज उठीं । आकाशमें टकरानेका महान् शब्द होने लगा ॥ २३ ॥

अथास्त्रं जाज्वलद् घोरं पाण्डवस्यामितौजसः ।
मूर्तिमद् वै स्थितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ॥

तदनन्तर वह भयंकर अस्त्र मूर्तिमान् हो अग्निके प्रज्वलित तेजस्वी रूपसे अमित पराक्रमी पाण्डुनन्दन अ पार्श्वभागमें खड़ा हो गया । यह बात देवताओं दानवोंने प्रत्यक्ष देखी ॥ २४ ॥

स्पृष्टस्य त्र्यम्बकेणाथ फाल्गुनस्यामितौजसः ।
यत् किंचिदशुभं देहे तत् सर्वं नाशमीयिवत् ॥

भगवान् शङ्करके स्पर्श करनेसे अमित तेजस्वी अ शरीरमें जो कुछ भी अशुभ था, वह नष्ट हो गया ॥ २

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेण तदार्जुनः ।
प्रणम्य शिरसा राजन् प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥ २

उस समय भगवान् त्रिलोचनने अर्जुनको यह आ कि 'तुम स्वर्गलोकको जाओ ।' राजन् ! तब अर्जुनने भगव चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़ उनकी ओर देखने लगे ॥ २६ ॥

ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी
महामतिर्गिरिश उमापतिः शिवः ।
धनुर्महद् दितिजपिशाचसूदनं
ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥ २७

तत्पश्चात् देवताओंके स्वामी, जितेन्द्रिय एवं प बुद्धिमान् कैलासवासी उमावल्लभ भगवान् शिवने पुरुषप्र अर्जुनको वह महान् गाण्डीव-धनुष दे दिया, जो दैत्यों अ पिशाचोंका संहार करनेवाला था ॥ २७ ॥

ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा
सहोमया सिततटसानुकन्दरम् ।
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं
जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः ॥ २८ ॥

जिसके तट, शिखर और कन्दराएँ हिमाच्छादित होनेके कारण श्वेत दिखायी देती हैं, पक्षी और महर्षिगण सदा जिसका सेवन करते हैं, उस मङ्गलमय गिरिश्रेष्ठ इन्द्रकीलको छोड़कर भगवान् शङ्कर भगवती उमादेवीके साथ अर्जुनके देखते-देखते आकाशमार्गसे चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि शिवप्रस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें शिवप्रस्थानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनके पास दिक्पालोंका आगमन एवं उन्हें दिव्यास्त्र-प्रदान तथा इन्द्रका उन्हें स्वर्गमें चलनेका आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

तस्य सम्पश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः।
जगामादर्शनं भानुर्लोकस्येवास्तमीयिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके देखते-देखते पिनाकधारी भगवान् वृषभध्वज अदृश्य हो गये मानो भुवनभास्कर भगवान् सूर्य अस्त हो गये हों ॥ १ ॥

ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत ॥ २ ॥

भारत ! तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनको यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज मुझे महादेवजीका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना ॥ ३ ॥

मैं धन्य हूँ ! भगवान्‌का मुझपर बड़ा अनुग्रह है कि त्रिनेत्रधारी, सर्वपापहारी एवं अभीष्ट वर देनेवाले पिनाकपाणि भगवान् शंकरने मूर्तिमान् होकर मुझे दर्शन दिया और अपने करकमलोंसे मेरे अङ्गोंका स्पर्श किया ॥ ३ ॥

कृतार्थं चावगच्छामि परमात्मानमाहवे।
शत्रूंश्च विजितान् सर्वान् निर्वृत्तं च प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

आज मैं अपने-आपको परम कृतार्थ मानता हूँ, साथ ही यह विश्वास करता हूँ कि महासमरमें अपने समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा। अब मेरा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो गया ॥ ४ ॥

इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्यामिततेजसः।
ततो वैदूर्यवर्णाभो भासयन् सर्वतो दिशः।
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः ॥ ५ ॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके पास जलके स्वामी श्रीमान् वरुणदेव जल-जन्तुओंसे घिरे हुए आ पहुँचे। उनकी अङ्गकान्ति वैदूर्य मणिके समान थी और वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे ॥ ५ ॥

नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः।
वरुणो यादसां भर्ता वशी तं देशमागमत् ॥ ६ ॥

नागों, नद और नदियोंके देवताओं, दैत्यों तथा साध्यदेवताओंके साथ जलजन्तुओंके स्वामी जितेन्द्रिय वरुणदेवने उस स्थानको अपने शुभागमनसे सुशोभित किया ॥ ६ ॥

अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा।
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः ॥ ७ ॥

तदनन्तर स्वर्णके समान शरीरवाले भगवान् कुबेर महातेजस्वी विमानद्वारा वहाँ आये। उनके साथ बहुत-से यक्ष भी थे ॥ ७ ॥

विद्योतयन्निवाकाशमद्भुतोपमदर्शनः।
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः ॥ ८ ॥

वे अपने तेजसे आकाशमण्डलको प्रकाशित-से कर रहे थे। उनका दर्शन अद्भुत एवं अनुपम था। परम सुन्दर श्रीमान् धनाध्यक्ष कुबेर अर्जुनको देखनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ ८ ॥

तथा लोकान्तकृच्छ्रीमान् यमः साक्षात् प्रतापवान्।
मर्त्यमूर्तिधरैः सार्धं पितृभिर्लोकभावनैः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार समस्त जगत्‌का अन्त करनेवाले श्रीमान् प्रतापी यमराजने प्रत्यक्षरूपमें वहाँ दर्शन दिया। उनके साथ मानव-शरीरधारी विश्वभावन पितृगण भी थे ॥ ९ ॥

दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत्।
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनावभासयन् ॥ १० ॥
त्रीँल्लोकान् गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान्।
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते ॥ ११ ॥

उनके हाथमें दण्ड शोभा पा रहा था। सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाले अचिन्त्यात्मा सूर्यपुत्र धर्मराज अपने (तेजस्वी) विमानसे तीनों लोकों, गुह्यकों, गन्धर्वों तथा नागोंको प्रकाशित कर रहे थे। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर दिखायी देनेवाले द्वितीय सूर्यकी भाँति उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ १०-११ ॥

ते भानुमन्ति चित्राणि शिखराणि महागिरेः।
समास्थायार्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम् ॥ १२ ॥

उन सब देवताओंने उस महापर्वतके विचित्र एवं तेजस्वी शिखरोंपर पहुँचकर वहाँ तपस्वी अर्जुनको देखा ॥ १२ ॥

ततो मुहूर्ताद् भगवानैरावतशिरोगतः।
आजगाम सहेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् दो ही घड़ीके बाद भगवान् इन्द्र इन्द्राणीके साथ ऐरावतकी पीठपर बैठकर वहाँ आये। देवताओंके समुदायने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ १३ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिव स्थितः ॥ १४ ॥

संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ॥ १५ ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे शुभ्र वर्णके मेघखण्डसे आच्छादित चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे। बहुत-से तपस्वी-ऋषि तथा गन्धर्वगण उनकी स्तुति करते थे। वे उस पर्वतके शिखरपर आकर ठहर गये, मानो वहाँ सूर्य प्रकट हो गये हों ॥ १४-१५ ॥

अथ मेघस्वनो धीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ।
यमः परमधर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ १६ ॥

तदनन्तर मेघके समान गम्भीर स्वरवाले परम धर्मज्ञ एवं बुद्धिमान् यमराज दक्षिण दिशामें स्थित हो यह शुभ वचन बोले —॥ १६ ॥

अर्जुनार्जुन पश्यास्मांल्लोकपालान् समागतान् ।
दृष्टिं ते वितरामोऽद्य भवानर्हति दर्शनम् ॥ १७ ॥
पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः ।
नियोगाद् ब्रह्मणस्तात मर्त्यतां समुपागतः ॥ १८ ॥

अर्जुन ! हम सब लोकपाल यहाँ आये हुए हैं। तुम हमें देखो। हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं। तुम हमारे दर्शनके अधिकारी हो। तुम महामना एवं महाबली पुरातन महर्षि नर हो। तात ! ब्रह्माजीकी आज्ञासे तुमने मानव-शरीर ग्रहण किया है ॥ १७-१८ ॥

त्वया च वसुसम्भूतो महावीर्यः पितामहः ।
भीष्मः परमधर्मात्मा संसाध्यश्च रणेऽनघ ॥ १९ ॥
क्षत्रं चाग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम् ।
दानवाश्च महावीर्या ये मनुष्यत्वमागताः ॥ २० ॥
निवातकवचाश्चैव दानवाः कुरुनन्दन ।
पितुर्ममांशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ॥ २१ ॥
कर्णश्च सुमहावीर्यस्त्वया वध्यो धनंजय ।

'अनघ ! वसुओंके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी और परम धर्मात्मा पितामह भीष्मको तुम संग्राममें जीत लोगे। भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित क्षत्रियसमुदाय भी, जिसका स्पर्श अग्निके समान भयंकर है, तुम्हारेद्वारा पराजित होगा। कुरुनन्दन ! मानव-शरीरमें उत्पन्न हुए महाबली दानव तथा निवातकवच नामक दैत्य भी तुम्हारे हाथसे मारे जायँगे। धनंजय ! सम्पूर्ण जगत्को उष्णता प्रदान करनेवाले मेरे पिता भगवान् सूर्यदेवके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी कर्ण भी तुम्हारा वध्य होगा ॥ १९–२१½ ॥

अंशाश्च क्षितिसम्प्राप्ता देवदानवरक्षसाम् ॥ २२ ॥
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ।
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय यथास्वमरिकर्षण ॥ २३ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार ! देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंके जो अंश पृथ्वीपर उत्पन्न [हुए हैं,] वे युद्धमें तुम्हारेद्वारा मारे जाकर अपने कर्मफलके [अनुसार] यथोचित गति प्राप्त करेंगे ॥ २२-२३ ॥

अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फाल्गुन ।
त्वया साक्षान्महादेवस्तोषितो हि महामृधे ॥

'फाल्गुन ! संसारमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित [रहेगी;] तुमने यहाँ महासमरमें साक्षात् महादेवजीको संतुष्ट किया [है।]

लघ्वी वसुमती चापि कर्तव्या विष्णुना सह ।
गृहाणास्त्रं महाबाहो दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनास्त्रेण सुमहत् त्वं हि कर्म करिष्यसि ॥

'महाबाहो ! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मिलकर तु[म्हें] पृथ्वीका भार भी हल्का करना है, अतः यह मेरा द[ण्डास्त्र] ग्रहण करो। इसका वेग कहीं भी कुण्ठित नहीं [होता।] इसी अस्त्रके द्वारा तुम बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करोगे' ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिजग्राह तत् पार्थो विधिवत् कुरुनन्दनः ।
समन्त्रं सोपचारं च समोक्षविनिवर्तनम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरु[नन्दन] कुन्तीकुमार अर्जुनने विधिपूर्वक मन्त्र, उपचार, प्रयोग [और] उपसंहारसहित उस अस्त्रको ग्रहण किया ॥२६ ॥

ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन् प्रभुः ॥ २[७] ॥

इसके बाद जलजन्तुओंके स्वामी मेघके समान [श्याम] कान्तिवाले प्रभावशाली वरुण पश्चिम दिशामें खड़े [हो] इस प्रकार बोले-- ॥ २७ ॥

पार्थ क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ॥ २[८] ॥

'पार्थ ! तुम क्षत्रियोंमें प्रधान एवं क्षत्रिय-धर्ममें [स्थित] हो। विशाल तथा लाल नेत्रोंवाले अर्जुन ! मेरी ओर देखो [। मैं] जलका स्वामी वरुण हूँ ॥ २८ ॥

मया समुद्यतान् पाशान् वारुणाननिवारितान् ।
प्रतिगृह्णीष्व कौन्तेय सरहस्यनिवर्तनम् ॥ २९ ॥

'कुन्तीकुमार ! मेरे दिये हुए इन वरुण-पाशोंको र[हस्य] और उपसंहारसहित ग्रहण करो। इनके वेगको कोई [नहीं] रोक नहीं सकता ॥ २९ ॥

एभिस्तदा मया वीर संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ॥ ३० ॥

'वीर ! मैंने इन पाशोंद्वारा तारकामय संग्राममें सह[स्रों] महाकाय दैत्योंको बाँध लिया था ॥ ३० ॥

तस्मादिमान् महासत्त्व मत्प्रसादसमुत्थितान् ।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ॥ ३१ ॥

'अतः महाबली पार्थ ! मेरे कृपाप्रसादसे प्रकट हुए इन पाशोंको तुम ग्रहण करो । इनके द्वारा आक्रमण करनेपर मृत्यु भी तुम्हारे हाथसे नहीं छूट सकती ॥ ३१ ॥

अनेन त्वं यदास्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि ।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ॥ ३२ ॥

'इस अस्त्रके द्वारा जब तुम संग्रामभूमिमें विचरण करोगे, उस समय यह सारी वसुन्धरा क्षत्रियोंसे शून्य हो जायगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत ।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ॥ ३३ ॥
प्रीतोऽहमपि ते प्राज्ञ पाण्डवेय महाबल ।
त्वया सह समागम्य अजितेन तथैव च ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वरुण और यमके दिव्यास्त्र प्रदान कर चुकनेपर कैलासनिवासी धनाध्यक्ष कुबेरने कहा—'महाबली बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन ! मैं भी तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम अपराजित वीर हो । तुमसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ३३-३४ ॥

सव्यसाचिन् महाबाहो पूर्वदेव सनातन ।
सहास्माभिर्भवाञ्छ्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ॥ ३५ ॥
दर्शनात् ते त्विदं दिव्यं प्रदिशामि नरर्षभ ।
अमनुष्यान् महाबाहो दुर्जयानपि जेष्यसि ॥ ३६ ॥

'सव्यसाचिन् ! महाबाहो ! पुरातन देव ! सनातनपुरुष ! पूर्वकल्पोंमें मेरे साथ तुमने सदा तपके द्वारा परिश्रम उठाया है। नरश्रेष्ठ ! आज तुम्हें देखकर यह दिव्यास्त्र प्रदान करता हूँ । महाबाहो ! इसके द्वारा तुम दुर्जय मानवेतर प्राणियोंको भी जीत लोगे ॥ ३५-३६ ॥

मत्तश्चैव भवानाशु गृह्णात्वस्त्रमनुत्तमम् ।
अनेन त्वमनीकानि धार्तराष्ट्रस्य धक्ष्यसि ॥ ३७ ॥

'तुम मुझसे शीघ्र ही इस अत्युत्तम अस्त्रको ग्रहण कर लो । तुम इसके द्वारा दुर्योधनकी सारी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालोगे ॥ ३७ ॥

तदिदं प्रतिगृह्णीष्व अन्तर्धानं प्रियं मम ।
ओजस्तेजोद्युतिकरं प्रस्वापनमरातिनुत् ॥ ३८ ॥

'यह मेरा परम प्रिय अन्तर्धान नामक अस्त्र है । इसे ग्रहण करो । यह ओज, तेज और कान्ति प्रदान करनेवाला, शत्रुसेनाको सुला देनेवाला और समस्त शत्रुओंका विनाश करनेवाला है ॥ ३८ ॥

महात्मना शङ्करेण त्रिपुरं निहतं यदा ।
तदैतदस्त्रं निर्मुक्तं येन दग्धा महासुराः ॥ ३९ ॥

'परमात्मा शङ्करने जब त्रिपुरासुरके तीनों नगरोंका विनाश किया था, उस समय इस अस्त्रका उनके द्वारा प्रयोग किया गया था; जिससे बड़े-बड़े असुर दग्ध हो गये थे ॥ ३९ ॥

त्वदर्थमुद्यतं चेदं मया सत्यपराक्रम ।
त्वमर्हो धारणे चास्य मेरुप्रतिमगौरव ॥ ४० ॥

'सत्यपराक्रमी और मेरुके समान गौरवशाली पार्थ ! तुम्हारे लिये यह अस्त्र मैंने उपस्थित किया है । तुम इसे धारण करनेके योग्य हो' ॥ ४० ॥

ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत् कुरुनन्दनः ।
कौबेरमधिजग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ॥ ४१ ॥

तब कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु महाबली अर्जुनने कुबेरके उस 'अन्तर्धान' नामक दिव्य अस्त्रको ग्रहण किया ॥ ४१ ॥

ततोऽब्रवीद् देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिःस्वनः॥ ४२ ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्रने अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनको मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरसे कहा—॥४२॥

कुन्तीमातर्महाबाहो त्वमीशानः पुरातनः ।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद् देवगतिं गतः ॥ ४३ ॥

'महाबाहु कुन्तीकुमार ! तुम पुरातन शासक हो । तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है । तुम साक्षात् देवगतिको प्राप्त हुए हो ॥ ४३ ॥

देवकार्यं तु सुमहत् त्वया कार्यमरिंदम ।
आरोढव्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ॥ ४४ ॥

'शत्रुदमन ! तुम्हें देवताओंका बड़ा भारी कार्य सिद्ध करना है । महाद्युते ! तैयार हो जाओ । तुम्हें स्वर्गलोकमें चलना है ॥ ४४ ॥

रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम् ।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव ॥ ४५ ॥

'मातलिके द्वारा जोता हुआ दिव्य रथ तुम्हें लेनेके लिये पृथ्वीपर आनेवाला है । कुरुनन्दन ! वहीं (स्वर्गमें) मैं तुम्हें दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा' ॥ ४५ ॥

तान् दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान् गिरिमूर्धनि ।
जगाम विस्मयं धीमान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४६ ॥

उस पर्वतशिखरपर एकत्र हुए उन सभी लोकपालोंका दर्शन करके परम बुद्धिमान् धनंजयको बड़ा विस्मय हुआ ॥

ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान् समागतान्।
पूजयामास विधिवद् वाग्भिरद्भिः फलैरपि ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी अर्जुनने वहाँ पधारे हुए लोकपालोंका मीठे वचन, जल और फलोंके द्वारा भी विधिपूर्वक पूजन किया ॥

ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिमान्य धनंजयम् ।
यथागतेन विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ॥ ४८ ॥

इसके बाद इच्छानुसार मनके समान वेगवाले समस्त देवता अर्जुनके प्रति सम्मान प्रकट करके जैसे आये थे वैसे ही चले गये ॥ ४८ ॥

ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः ।
कृतार्थमथ चात्मानं स मेने पूर्णमानसम् ॥

तदनन्तर देवताओंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके पु... अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई; उन्होंने अपने-आपको कृत... पूर्णमनोरथ माना ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि देवप्रस्थाने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें देवप्रस्थानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१

(इन्द्रलोकाभिगमनपर्व)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका हिमालयसे विदा होकर मातलिके साथ स्वर्गलोकको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिवर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! लोकपालोंके चले जानेपर शत्रुसंहारक अर्जुनने देवराज इन्द्रके रथका चिन्तन किया ॥ १ ॥

ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥ २ ॥

निद्राविजयी बुद्धिमान् पार्थके चिन्तन करते ही मातलि-सहित महातेजस्वी रथ वहाँ आ गया ॥ २ ॥

नभो वितिमिरं कुर्वञ्जलदान् पाटयन्निव ।
दिशः सम्पूरयन् नादैर्महामेघरवोपमैः ॥ ३ ॥

वह रथ आकाशको अन्धकारशून्य मेघोंकी घटाको विदीर्ण और महान् मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्दसे दिशाओंको परिपूर्ण-सा कर रहा था ॥ ३ ॥

असयः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ॥ ४ ॥
तथैवाशनयश्चैव चक्रयुक्तास्तुलागुडाः ।
वायुस्फोटाः सनिर्घाता महामेघस्वनास्तथा ॥ ५ ॥

उस रथमें तलवार, भयंकर शक्ति, उग्र गदा, दिव्य प्रभावशाली प्रास, अत्यन्त कान्तिमती विद्युत्, अशनि एवं चक्रयुक्त भारी वजनवाले प्रस्तरके गोले रखे हुए थे, जो चलाते समय हवामें सनसनाहट पैदा करते थे तथा जिनसे वज्रगर्जन और महामेघोंकी गम्भीर ध्वनिके समान शब्द होते थे ॥ ४-५ ॥

तत्र नागा महाकाया ज्वलितास्याः सुदारुणाः ।
सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च तथोपलाः ॥

उस स्थानमें अत्यन्त भयंकर तथा प्रज्वलित मु... विशालकाय सर्प मौजूद थे । श्वेत बादलोंके समूहकी... ढेर-के-ढेर युद्धमें फेंकने योग्य पत्थर भी रखे हुए थे।

दशवाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम् ।
वहन्ति यं नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ॥

वायुके समान वेगशाली दस हजार श्वेत-पीत ... घोड़े नेत्रोंमें चकाचौंध पैदा करनेवाले उस दिव्य म... रथको वहन करते थे ॥ ७ ॥

तत्रापश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम् ।
ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ॥

अर्जुनने उस रथपर अत्यन्त नीलवर्णवाले महा... 'वैजयन्त' नामक इन्द्रध्वजको फहराता देखा। उसकी सुषमा नील कमलकी शोभाको तिरस्कृत कर रही थी। ध्वजके दण्डमें सुवर्ण मढ़ा हुआ था ॥ ८ ॥

तस्मिन् रथे स्थितं सूतं तप्तहेमविभूषितम् ।
दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवान्वतर्कयत् ॥

महाबाहु कुन्तीकुमारने उस रथपर बैठे हुए सार... ओर देखा, जो तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित... उसे देखकर उन्होंने कोई देवता ही समझा ॥ ९ ॥

तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याथ मातलिः ।
संनतः प्रस्थितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥

इस प्रकार विचार करते हुए अर्जुनके सम्मुख उप... हो मातलिने विनीतभावसे कहा ॥ १० ॥

मातलिरुवाच

भो भोः शक्रात्मज श्रीमाञ्छक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति।
आरोहतु भवाञ्छीघ्रं रथमिन्द्रस्य सम्मतम् ॥ ११ ॥

मातलि बोला—इन्द्रकुमार ! श्रीमान् देवराज इन्द्र आपको देखना चाहते हैं। यह उनका प्रिय रथ है। आप इसपर शीघ्र आरूढ़ होइये ॥ ११ ॥

आह माममरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।
कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ॥ १२ ॥
एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥ १३ ॥

आपके पिता देवेश्वर शतक्रतुने मुझसे कहा है कि 'तुम कुन्तीनन्दन अर्जुनको यहाँ ले आओ, जिससे सब देवता उन्हें देखें।' देवताओं, महर्षियों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंसे घिरे हुए इन्द्र आपको देखनेके लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १२-१३ ॥

अस्माल्लोकाद् देवलोकं पाकशासनशासनात् ।
आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ॥ १४ ॥

आप देवराजकी आज्ञासे इस लोकसे मेरे साथ देवलोकको चलिये। वहाँसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके लौट आइयेगा ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम् ॥ १५ ॥

अर्जुनने कहा—मातले ! आप जल्दी चलिये। अपने इस उत्तम रथपर पहले आप चढ़िये। यह सैकड़ों राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १५ ॥

पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ॥ १६ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, महान् सौभाग्यशाली, यज्ञपरायण भूमिपालों, देवताओं अथवा दानवोंके लिये भी इस उत्तम रथपर आरूढ़ होना कठिन है ॥ १६ ॥

नातप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च ॥ १७ ॥

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे इस महान् दिव्य रथका दर्शन या स्पर्श भी नहीं कर सकते, फिर इसपर आरूढ़ होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ १७ ॥

त्वयि प्रतिष्ठिते साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथारोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा ॥ १८ ॥

साधु सारथे ! आप इस रथपर स्थिरतापूर्वक बैठकर जब घोड़ोंको काबूमें कर लें, तब जैसे पुण्यात्मा सन्मार्गपर आरूढ़ होता है, उसी प्रकार पीछे मैं भी इस रथपर आरूढ़ होऊँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान् येमे च रश्मिभिः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनका यह वचन सुनकर इन्द्रसारथि मातलि शीघ्र ही रथपर जा बैठा और बागडोर खींचकर घोड़ोंको काबूमें किया ॥ १९ ॥

ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत् कुरुनन्दनः ॥ २० ॥

तदनन्तर कुरुनन्दन कुन्तीकुमार अर्जुनने प्रसन्नमनसे गङ्गामें स्नान किया और पवित्र हो विधिपूर्वक जपने योग्य मन्त्रका जप किया ॥ २० ॥

ततः पितॄन् यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥

फिर विधिपूर्वक न्यायोचित रीतिसे पितरोंका तर्पण करके विस्तृत शैलराज हिमालयसे विदा लेनेका उपक्रम किया ॥ २१ ॥

साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम् ।
त्वं सदा संश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणाम् ॥ २२ ॥

'गिरिराज ! तुम साधु-महात्माओं, पुण्यात्मा मुनियों तथा स्वर्गमार्गकी अभिलाषा रखनेवाले पुण्यकर्मा मनुष्योंके सदा शुभ आश्रय हो ॥ २२ ॥

त्वत्प्रसादात् सदा शैल ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्ति स्म देवैः सह गतव्यथाः ॥ २३ ॥

'गिरिराज ! तुम्हारे कृपाप्रसादसे सदा कितने ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्वर्गमें जाकर व्यथारहित हो देवताओंके साथ विचरते हैं ॥ २३ ॥

अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन् ।
गच्छाम्यामन्त्रयामि त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि ॥ २४ ॥

'अद्रिराज ! महाशैल ! मुनियोंके निवासस्थान ! तीर्थोंसे विभूषित हिमालय ! मैं तुम्हारे शिखरपर सुखपूर्वक रहा हूँ, अतः तुमसे आज्ञा माँगकर यहाँसे जा रहा हूँ ॥ २४ ॥

तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च ।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ॥ २५ ॥

'तुम्हारे शिखर, कुञ्जवन, नदियाँ, झरने और परम पुण्यमय तीर्थस्थान मैंने अनेक बार देखे हैं ॥ २५ ॥

फलानि च सुगन्धीनि भक्षितानि ततस्ततः ।
सुसुगन्धाश्च वार्योघास्त्वच्छरीरविनिःसृताः ॥ २६ ॥
अमृतास्वादनीया मे पीताः प्रस्रवणोदकाः ।

'यहाँके विभिन्न स्थानोंसे सुगन्धित फल लेकर भोजन किये हैं। तुम्हारे शरीरसे प्रकट हुए परम सुगन्धित प्रचुर जलका सेवन किया है। तुम्हारे झरनेका अमृतके समान स्वादिष्ट जल मैंने प्रतिदिन पान किया है ॥ २६½ ॥

शिशुर्यथा पितुरङ्के सुसुखं वर्तते नग ॥ २७ ॥
तथा तवाङ्के ललितं शैलराज मया प्रभो ।

'प्रभो नगराज ! जैसे शिशु अपने पिताके अङ्कमें बड़े सुखसे रहता है, उसी प्रकार मैंने भी तुम्हारी गोदमें आमोद-पूर्वक क्रीड़ाएँ की हैं ॥ २७½ ॥

अप्सरोगणसंकीर्णे ब्रह्मघोषानुनादिते ॥ २८ ॥
सुखमस्म्युषितः शैल तव सानुषु नित्यदा ।

'शैलराज ! अप्सराओंसे व्याप्त और वैदिक मन्त्रोंके उच्च घोषसे प्रतिध्वनित तुम्हारे शिखरोंपर मैंने प्रतिदिन बड़े सुखसे निवास किया है' ॥ २८½ ॥

एवमुक्त्वार्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ॥ २९ ॥
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ।

ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुन शैल-राजसे आज्ञा माँगकर उस दिव्य रथको देदीप्यमान करते हुए-से उसपर आरूढ़ हो गये, मानो सूर्य सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे हों ॥ २९½ ॥

स तेनादित्यरूपेण दिव्येनाद्भुतकर्मणा ॥ ३० ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान् प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ।
सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ॥ ३१ ॥

परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन अर्जुन बड़े प्रसन्न होकर उस अद्भुत चालसे चलनेवाले सूर्यस्वरूप दिव्य रथके द्वारा ऊपरकी ओर जाने लगे । धीरे-धीरे धर्मात्मा मनुष्योंके दृष्टि-पथसे दूर हो गये ॥ ३०-३१ ॥
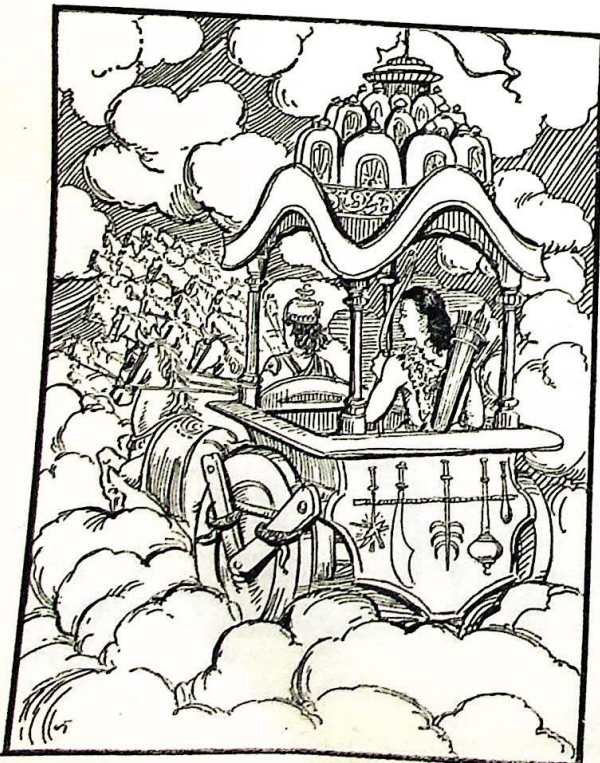
ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ।
न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ॥ ३२ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने सहस्रों अद्भुत विमान देखे । वहाँ न सूर्य प्रकाशित होते हैं, न चन्द्रमा । अग्निकी प्रभा वहाँ काम नहीं देती है ॥ ३२ ॥

स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया ।
तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै ॥ ३३ ॥
दीपवद् विप्रकृष्टत्वात् तनूनि सुमहान्त्यपि ।
तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः ॥ ३४ ॥
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्तः स्वयार्चिषा ।
तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ॥ ३५ ॥

वहाँ स्वर्गके निवासी अपने पुण्यकर्मोंसे प्राप्त हुई अपनी प्रभासे प्रकाशित होते हैं । यहाँ प्रकाशमान तारोंके रूपमें जो होनेके कारण दीपककी भाँति छोटे और बड़े प्रकाशपुञ्ज दिखा देते हैं, उन सभी प्रकाशमान स्वरूपोंको पाण्डुनन्दन अर्जुन देखा । जो अपने-अपने अधिष्ठानोंमें अपनी ही ज्योति देदीप्यमान हो रहे थे । उन लोकोंमें वे सिद्ध राजर्षि निवास करते थे, जो युद्धमें प्राण देकर वहाँ पहुँचे थे ॥ ३३-३५ ॥

तपसा च जितं स्वर्गं सम्पेतुः शतसङ्घशः ।
गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलिततेजसाम् ॥ ३६ ॥
गुह्यकानामृषीणां च तथैवाप्सरसां गणान् ।
लोकानात्मप्रभान् पश्यन् फाल्गुनो विस्मयान्वितः ॥ ३७ ॥

सैकड़ों झुंड-के-झुंड तपस्वी पुरुष स्वर्गमें जा रहे थे जिन्होंने तपस्याद्वारा उसपर विजय पायी थी । सूर्यके समान प्रकाशमान सहस्रों गन्धर्वों, गुह्यकों, ऋषियों तथा अप्सराओं के समूहोंको और उनके स्वतः प्रकाशित होनेवाले लोकोंको देखकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ ३६-३७ ॥

पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाप्येनमुवाच ह ।
एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः ॥ ३८ ॥
तान् दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले ।

अर्जुनने प्रसन्नतापूर्वक मातलिसे उनके विषयमें पूछा, तब मातलिने उनसे कहा—'कुन्तीकुमार ! ये वे ही पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो अपने-अपने लोकोंमें निवास करते हैं । विभो ! उन्हीं को भूतलपर आपने तारोंके रूपमें चमकते देखा है' ॥ ३८½ ॥

ततोऽपश्यत् स्थितं द्वारि शुभं वैजयिनं गजम् ॥ ३९ ॥
ऐरावतं चतुर्दन्तं कैलासमिव श्रृङ्गिणम् ।
स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ॥ ४० ॥
व्यरोचत यथापूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ।
अभिचक्राम लोकान् स राज्ञां राजीवलोचनः ॥ ४१ ॥

गजराज ऐरावतको देखा, जिसके चार दाँत बाहर निकले हुए थे। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो अनेक शिखरोंसे सुशोभित कैलास पर्वत हो। कुरु-पाण्डवशिरोमणि अर्जुन सिद्धोंके मार्गपर आकर वैसे ही शोभा पाने लगे, जैसे पूर्वकालमें भूपालशिरोमणि मान्धाता सुशोभित होते थे। कमलनयन अर्जुनने उन पुण्यात्मा राजाओंके लोकोंमें भ्रमण किया॥ ३९-४१॥

एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः ।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरींताममरावतीम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार महायशस्वी पार्थने स्वर्गलोकमें विचरते हुए आगे जाकर इन्द्रपुरी अमरावतीका दर्शन किया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा देवराज इन्द्रका दर्शन तथा इन्द्रसभामें उनका स्वागत

वैशम्पायन उवाच

ददर्श स पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनने सिद्धों और चारणोंसे सेवित उस रम्य अमरावती पुरीको देखा, जो सभी ऋतुओंके कुसुमोंसे विभूषित पुण्यमय वृक्षोंसे सुशोभित थी॥

तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

वहाँ सुगन्धयुक्त कमल तथा पवित्र गन्धवाले अन्य पुष्पोंकी पवित्र गन्धसे मिली हुई वायु मानो व्यजन डुला रही थी ॥

नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥ ३ ॥

अप्सराओंसे सेवित दिव्य नन्दनवनका भी उन्होंने दर्शन किया, जो दिव्य पुष्पोंसे भरे हुए वृक्षोंद्वारा मानो उन्हें अपने पास बुला रहा था ॥ ३ ॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नानाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः ॥ ४ ॥

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, जो अग्निहोत्रसे दूर रहे हैं तथा जिन्होंने युद्धमें पीठ दिखा दी है, ऐसे लोग पुण्यात्माओंके उस लोकका दर्शन भी नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

नायज्वभिर्नाव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नानाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥ ५ ॥

जिन्होंने यज्ञ नहीं किया है, व्रतका पालन नहीं किया है, जो वेद और श्रुतियोंके स्वाध्यायसे दूर रहे हैं, जिन्होंने तीर्थोंमें स्नान नहीं किया है तथा जो यज्ञ और दान आदि सत्कर्मोंसे वञ्चित रहे हैं, ऐसे लोगोंको भी उस पुण्यलोकका दर्शन नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

नापि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥ ६ ॥

जो यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाले नीच, शराबी, गुरुपत्नीगामी, मांसाहारी तथा दुरात्मा हैं, वे तो किसी भी प्रकार उस दिव्य लोकका दर्शन नहीं पा सकते ॥ ६ ॥

स तद् दिव्यं वनं पश्यन् दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥ ७ ॥

जहाँ सब ओर दिव्य सङ्गीत गूँज रहा था, उस दिव्य वनका दर्शन करते हुए महाबाहु अर्जुनने देवराज इन्द्रकी प्रिय नगरी अमरावतीमें प्रवेश किया ॥ ७ ॥

तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शायुतशस्तदा ॥ ८ ॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चानुवीजितः ॥ ९ ॥

वहाँ स्वेच्छानुसार गमन करनेवाले देवताओंके सहस्रों विमान स्थिरभावसे खड़े थे और हजारों इधर-उधर आते-जाते थे। उन सबको पाण्डुनन्दन अर्जुनने देखा। उस समय गन्धर्व और अप्सराएँ उनकी स्तुति कर रही थीं। फूलोंकी सुगन्धका भार वहन करनेवाली पवित्र मन्द-मन्द वायु मानो उनके लिये चँवर डुला रही थी ॥ ८-९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः सम्पूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ॥ १० ॥

तदनन्तर देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनका स्वागत-सत्कार किया ॥ १० ॥

आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ॥ ११ ॥
नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम् ।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥

कहीं उन्हें आशीर्वाद मिलता और कहीं स्तुति-प्रशंसा प्राप्त होती थी। स्थान-स्थानपर दिव्य वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे उनका स्वागत हो रहा था। इस प्रकार महाबाहु अर्जुन शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर नादसे गूँजते हुए 'सुरवीथी' नामसे प्रसिद्ध विस्तृत नक्षत्र-मार्गपर चलने लगे। इन्द्रकी आज्ञासे कुन्तीकुमारका सब ओर स्तवन हो रहा था और इस प्रकार वे गन्तव्य मार्गपर बढ़ते चले जा रहे थे॥११-१२॥

तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाश्विनौ तथा।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः॥ १३॥
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हहाहुहूः॥ १४॥

वहाँ साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, आदित्य, वसु, रुद्र तथा विशुद्ध ब्रह्मर्षिगण और अनेक राजर्षिगण एवं दिलीप आदि बहुत-से राजा, तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू आदि गन्धर्वगण विराजमान थे॥ १३-१४॥

तान् स सर्वान् समागम्य विधिवत् कुरुनन्दनः।
ततोऽपश्यद् देवराजं शतक्रतुमरिंदमः॥१५॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उन सबसे विधिपूर्वक मिलकर अन्तमें सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्रका दर्शन किया॥ १५॥

ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात्।
ददर्श साक्षाद् देवेशं पितरं पाकशासनम्॥ १६॥

उन्हें देखते ही महाबाहु पार्थ उस उत्तम रथसे उतर पड़े और देवेश्वर पिता पाकशासन (इन्द्र) को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा॥

पाण्डुरेणातपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता॥ १७॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिसमें मनोहर स्वर्णमय दण्ड शोभा पा रहा था। उनके उभय पार्श्वमें दिव्य सुगन्धसे वासित चँवर डुलाये जा रहे थे॥ १७॥

विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैः स्तुतिवन्दनैः।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसम्भवैः॥ १८॥

विश्वावसु आदि गन्धर्व स्तुति और वन्दनापूर्वक उनके गुण गाते थे। श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिगण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके इन्द्रदेवतासम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा उनका स्तवन कर रहे थे॥ १८॥

ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाभ्यगमद् बली।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत॥ १९॥

तदनन्तर बलवान् कुन्तीकुमारने निकट जाकर देवेन्द्रके चरणोंमें मस्तक रख दिया और उन्होंने अपनी गोल-गोल मोटी भुजाओंसे उठाकर अर्जुनको हृदयसे लगा लिया॥१९॥

ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके॥ २०

तत्पश्चात् इन्द्रने अर्जुनका हाथ पकड़कर अ देवर्षिगणसेवित पवित्र सिंहासनपर उन्हें पास ही बिठा लिया॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा।
अङ्कमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा॥ २१

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले देवराजने विनीतभा आये हुए अर्जुनका मस्तक सूँघा और उन्हें अपनी गोद बिठा लिया॥ २१॥

सहस्राक्षनियोगात् स पार्थः शक्रासनं गतः।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः॥ २२

उस समय सहस्रनेत्रधारी देवेन्द्रके आदेशसे उन सिंहासनपर बैठे हुए अपरिमित प्रभावशाली कुन्तीकुमार दू इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे॥ २२॥

ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम्।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन्॥ २३॥

इसके बाद वृत्रासुरके शत्रु इन्द्रने पवित्र गन्धयुक्त हाथसे बड़े प्रेमके साथ अर्जुनको सब प्रकारसे आश्वासन देते हुए उनके सुन्दर मुखका स्पर्श किया॥ २३॥

प्रमार्जमानः शनकैर्बाहू चास्यायतौ शुभौ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरण्मयौ॥ २४॥

अर्जुनकी सुन्दर विशाल भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचकर बाण चलानेकी रगड़से कठोर हो गयी थीं। वे देखनेमें सोनेके खंभे जैसी जान पड़ती थीं। देवराज उन भुजाओंपर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे॥

वज्रग्रहणचिह्नेन करेण परिसान्त्वयन्।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू आस्फोटलक्षणौ ॥ २५ ॥

वज्रधारी इन्द्र वज्र धारण करनेके चिह्नसे सुशोभित अपने हाथसे अर्जुनको बारम्बार सान्त्वना देते हुए उनकी भुजाओंको धीरे-धीरे थपथपाने लगे ॥ २५ ॥

स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक्।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चातृप्यत वृत्रहा ॥ २६ ॥

सहस्र नयनोंसे सुशोभित वृत्रसूदन इन्द्र निद्राविजयी अर्जुनको मुसकराते हुए-से देख रहे थे। उस समय इन्द्रकी आँखें हर्षसे खिल उठी थीं। वे उन्हें देखनेसे तृप्त नहीं होते थे ॥ २६ ॥

एकासनोपविष्टौ तौ शोभयाञ्चक्रतुः सभाम्।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम्नि चतुर्दश्यामिवोदितौ ॥ २७ ॥

जैसे कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको उदित हुए सूर्य और चन्द्रमा आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार एक सिंहासनपर बैठे हुए देवराज इन्द्र और कुन्तीकुमार अर्जुन देवसभाको सुशोभित कर रहे थे ॥ २७ ॥

तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥ २८ ॥

उस समय वहाँ सामगानमें निपुण तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्वगण सामगानके नियमानुसार अत्यन्त मधुर स्वरसे गाथागान करने लगे ॥ २८ ॥

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥ २९ ॥
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वरा ॥ ३० ॥
एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥ ३१ ॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ॥ ३२ ॥

घृताची, मेनका, रम्भा, पूर्वचित्ति, स्वयंप्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरूथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनि, प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा, सहा और मधुरस्वरा—ये तथा और भी सहस्रों अप्सराएँ वहाँ इन्द्रसभामें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर नृत्य करने लगीं। वे कमललोचना अप्सराएँ सिद्ध पुरुषोंके भी चित्तको प्रसन्न करनेमें संलग्न थीं। उनके कटि-प्रदेश और नितम्ब विशाल थे। नृत्य करते समय उनके उन्नत स्तन कम्पमान हो रहे थे। उनके कटाक्ष, हाव-भाव तथा माधुर्य आदि मन, बुद्धि एवं चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका अपहरण कर लेते थे ॥ २९—३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि इन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें इन्द्रसभादर्शनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनको अस्त्र और सङ्गीतकी शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायार्घ्यमुत्तमम्।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! [illegible] देवराज इन्द्रका अभिप्राय जानकर देवताओं और गन्धर्वोंने [illegible] कुन्तीकुमार अर्जुनका [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] च [illegible]।
[illegible] पुरन्दरनिवेशनम् ॥ २ ॥

[illegible] ॥ २ ॥

[illegible]।
[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible]।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥

उन्होंने इन्द्रके हाथसे उनके प्रिय एवं दुःसह अस्त्र वज्र और भारी गड़गड़ाहट पैदा करनेवाली उन अशनियोंको ग्रहण किया, जिनका प्रयोग करनेपर जगत्‌में मेघोंकी घटा [illegible] और मयूर नृत्य करने लगते हैं ॥ ४ ॥

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् सस्मार पाण्डवः।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दमवसत् सुखी ॥ ५ ॥

[illegible] अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण कर लेनेपर पाण्डुपुत्र अर्जुनने [illegible] स्मरण किया। परंतु पुरन्दरके विशेष [illegible] ([illegible] अनुसार) पाँच वर्षोंतक वहीं [illegible] ॥ ५ ॥

[illegible] काल आगते।
[illegible] ॥ ६ ॥

[illegible] ॥ ६ ॥

वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते।
तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति॥ ७॥

'कुन्तीनन्दन! मनुष्यलोकमें जो अबतक प्रचलित नहीं है, देवताओंकी उस वाद्यकलाका ज्ञान प्राप्त कर लो। इससे तुम्हारा भला होगा'॥

सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरन्दरः।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः॥ ८॥

पुरन्दरने अर्जुनको सङ्गीतकी शिक्षा देनेके लिये उन्हींके मित्र चित्रसेनको नियुक्त कर दिया। मित्रसे मिलकर दुःख-शोकसे रहित अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए॥ ८॥

गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवादिदेश ह।
तथापि नालभच्छर्म तपस्वी द्यूतकारितम्॥ ९॥

चित्रसेनने उन्हें गीत, वाद्य और नृत्यकी बार-बार शिक्षा दी तो भी द्यूतजनित अपमानका स्मरण करके तपस्वी अर्जुनको तनिक भी शान्ति नहीं मिली॥ ९॥

दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च।
ततस्तेनातुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित् क्वचित्।
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान्॥

उन्हें दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिके वधके मनमें बड़ा रोष होता था तथा चित्रसेनके सहवाससे कभी उन्हें अनुपम प्रसन्नता प्राप्त होती थी, जिससे गीत, नृत्य और वाद्यकी उस अनुपम कलाको (पूर्ण उपलब्ध कर लिया॥ १०॥

स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान्
वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान्।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता
भ्रातॄन् स्मरन् मातरं चैव कुन्तीम्।

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले वीर अर्जुनने नृत्य अनेक गुणोंकी शिक्षा पायी। वाद्य और गीतविषयक गुण सीख लिये। तथापि भाइयों और माता कुन्तीका करके उन्हें कभी चैन नहीं पड़ता था॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें अर्जुनकी अस्त्रादिशिक्षासे सम्बन्ध रखनेवाला चौवालीसवाँ अध्याय पूरा

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

चित्रसेन और उर्वशीका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

आदावेवाथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत्।
पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक समय इन्द्रने अर्जुनके नेत्र उर्वशीके प्रति आसक्त जानकर चित्रसेन गन्धर्वको बुलाया और प्रथम ही एकान्तमें उनसे यह बात कही—
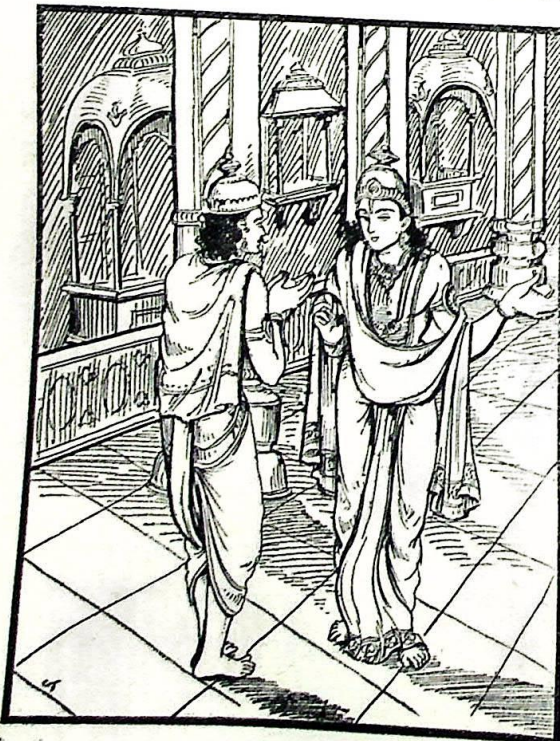
गन्धर्वराज गच्छाद्य प्रहितोऽप्सरसां वराम्।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्र सोपातिष्ठतु फाल्गुनम्॥

'गन्धर्वराज! तुम मेरे भेजनेसे आज अप्सराओंमें उर्वशीके पास जाओ। पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हें वहाँ भेजनेका उ यह है कि उर्वशी अर्जुनकी सेवामें उपस्थित हो॥ २॥

यथार्चितो गृहीतास्त्रो विद्यया मन्नियोगतः।
तथा त्वया विधातव्यं स्त्रीषु संगविशारदः॥ ३

'जैसे अस्त्रविद्या सीख लेनेके पश्चात् अर्जुनको मेरी आ तुमने सङ्गीतविद्याद्वारा सम्मानित किया है, उसी प्रकार स्त्रीसङ्गविशारद हो सकें, ऐसा प्रयत्न करो'॥ ३॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात्।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम्॥ ४

इन्द्रके इस प्रकार कहनेपर 'तथास्तु' कहकर उनसे आ ले गन्धर्वराज चित्रसेन सुन्दरी अप्सरा उर्वशीके पास गये

तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनार्चितस्तया।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत्॥ ५

उससे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उर्वशीने चि सेनको आया जान स्वागतपूर्वक उनका सत्कार किया। वे आरामसे बैठ गये, तब सुखपूर्वक सुन्दर आसनपर बै हुई उर्वशीसे मुसकराकर बोले—॥ ५॥

विदितं तेऽस्तु सुश्रोणि यदर्थमहमागतः ।
त्रिदिवस्यैकराजेन त्वत्प्रसादाभिनन्दिना ॥ ५ ॥

सुश्रोणि ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि स्वर्गके एकमात्र सम्राट् इन्द्रने जो तुम्हारे कृपाप्रसादका अभिनन्दन करते हैं, मुझे तुम्हारे पास भेजा है। उन्हींकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ ॥ ६ ॥

यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः ।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ।
प्रख्यातो बलवीर्येण सम्मतः प्रतिभानवान् ॥ ७ ॥
वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः ।
साङ्गोपनिषदान् वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ॥ ८ ॥
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाष्टगुणाश्रयाम् ।
ब्रह्मचर्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसापि च ॥ ९ ॥
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ।
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः ॥ १० ॥
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति ।
सत्यवाक् पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः ॥ ११ ॥
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसंगरः ।
प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः ॥ १२ ॥
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात् ।
त्वं तु शक्राभ्यनुज्ञाता तस्य पादान्तिकं व्रज ।
तदेवं कुरु कल्याणि प्रसन्नस्त्वां धनंजयः ॥ १३ ॥

'सुन्दरी ! जो अपने स्वाभाविक सद्गुण, श्री, शील (स्वभाव), मनोहर रूप, उत्तम व्रत और इन्द्रियसंयमके कारण देवताओं तथा मनुष्योंमें विख्यात हैं। बल और पराक्रमके द्वारा जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि है; जो सबके प्रिय, प्रतिभाशाली, वर्चस्वी, तेजस्वी, क्षमाशील तथा ईर्ष्यारहित हैं, जिन्होंने छहों अङ्गोंसहित चारों वेदों, उपनिषदों और पञ्चम वेद (इतिहास-पुराण) का अध्ययन किया है। जिन्हें गुरुशुश्रूषा तथा आठ गुणोंसे[1] युक्त मेधाशक्ति प्राप्त है, जो ब्रह्मचर्यपालन, कार्य-दक्षता, संतान तथा युवावस्थाके द्वारा अकेले ही देवराज इन्द्रकी भाँति स्वर्गलोककी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, जो अपने मुँहसे अपने गुणोंकी कभी प्रशंसा नहीं करते, दूसरोंको सम्मान देते, सूक्ष्म तथा विषयको भी स्थूलकी भाँति शीघ्र ही समझ लेते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं, जो अपने सुहृदोंके लिये नाना प्रकारके अन्नपानकी वर्षा करते और सदा सत्य बोलते हैं; जिनका सर्वत्र आदर होता है, जो अच्छे वक्ता तथा मनोहर रूपवाले होकर भी अहंकारशून्य हैं, जिनके हृदयमें अपने प्रेमी भक्तोंके लिये अत्यन्त कृपा भरी हुई है, जो कान्तिमान्, प्रिय तथा प्रतिज्ञापालन एवं युद्धमें स्थिरतापूर्वक डटे रहनेवाले हैं; जिनके सद्गुणोंकी दूसरे लोग स्पृहा रखते हैं और उन्हीं गुणोंके कारण जो महेन्द्र और वरुणके समान आदरणीय माने जाते हैं; उन वीरवर अर्जुनको तुम अच्छी तरह जानती हो। उन्हें स्वर्गमें आनेका फल अवश्य मिलना चाहिये। तुम देवराजके आज्ञाके अनुसार आज अर्जुनके चरणोंके समीप जाओ। कल्याणि ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कुन्तीकुमार धनंजय तुमपर प्रसन्न हों' ॥ ७–१३ ॥

एवमुक्ता स्मितं कृत्वा सम्मानं बहु मन्य च ।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीता चित्रसेनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

चित्रसेनके ऐसा कहनेपर उर्वशीके अधरोंपर मुसकान दौड़ गयी। उसने इस आदेशको अपने लिये बड़ा सम्मान समझा। अनिन्द्य सुन्दरी उर्वशी उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर चित्रसेनसे इस प्रकार बोली— ॥ १४ ॥

यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम ।
तं श्रुत्वाव्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ॥ १५ ॥

'गन्धर्वराज ! तुमने जो अर्जुनके लेशमात्र गुणोंका मेरे सामने वर्णन किया है, वह सब सत्य है। मैं दूसरे लोगोंके मुखसे भी उनकी प्रशंसा सुनकर उनके लिये व्यथित हो उठी हूँ। अतः इससे अधिक मैं अर्जुनका क्या वरण करूँ ? ॥ १५ ॥

महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः सम्प्रणयेन च ।
तस्य चाहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्मथा ।
गच्छ त्वं हि यथाकाममागमिष्याम्यहं सुखम् ॥ १६ ॥

'महेन्द्रकी आज्ञासे, तुम्हारे प्रेमपूर्ण बर्तावसे तथा अर्जुनके सद्गुण-समुदायसे मेरा उनके प्रति कामभाव हो गया है। अतः अब तुम जाओ। मैं इच्छानुसार सुखपूर्वक उनके स्थानपर यथासमय आऊँगी' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चित्रसेनोर्वशीसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें चित्रसेन-उर्वशीसंवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उर्वशीका कामपीड़ित होकर अर्जुनके पास जाना और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देकर लौट आना

वैशम्पायन उवाच

ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता ।
उर्वशी चाकरोत् स्नानं पार्थदर्शनलालसा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कृतकृत्य हुए गन्धर्वराज चित्रसेनको विदा करके पवित्र मुसकानवाली उर्वशीने अर्जुनसे मिलनेके लिये उत्सुक हो स्नान किया ॥ १ ॥

[1] शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान तथा तत्त्वविज्ञान—ये बुद्धिके आठ गुण हैं।

स्नानालंकरणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः ।
धनंजयस्य रूपेण शरैर्मन्मथचोदितैः ॥ २ ॥
अतिविद्धेन मनसा मन्मथेन प्रदीपिता ।
दिव्यास्तरणसंस्तीर्णे विस्तीर्णे शयनोत्तमे ॥ ३ ॥
चित्तसंकल्पभावेन सुचित्तानन्यमानसा ।
मनोरथेन सम्प्राप्तं रमन्त्येनं हि फाल्गुनम् ॥ ४ ॥

धनंजयके रूप-सौन्दर्यसे प्रभावित उसका हृदय कामदेवके बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो चुका था । वह मदनाग्निसे दग्ध हो रही थी । स्नानके पश्चात् उसने चमकीले और मनोभिराम आभूषण धारण किये । सुगन्धित दिव्य पुष्पोंके हारोंसे अपनेको अलंकृत किया । फिर उसने मन-ही-मन संकल्प किया—दिव्य बिछौनोंसे सजी हुई एक सुन्दर विशाल शय्या बिछी हुई है । उसका हृदय सुन्दर तथा प्रियतमके चिन्तनमें एकाग्र था । उसने मनकी भावनाद्वारा ही यह देखा कि कुन्तीकुमार अर्जुन उसके पास आ गये हैं और वह उनके साथ रमण कर रही है ॥ २–४ ॥

निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे ।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥ ५ ॥

संध्याको चन्द्रोदय होनेपर जब चारों ओर चाँदनी छिटक गयी, उस समय वह विशाल नितम्बोंवाली अप्सरा अपने भवनसे निकलकर अर्जुनके निवासस्थानकी ओर चली ॥ ५ ॥

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुमुदोत्करधारिणा ।
केशहस्तेन ललना जगामाथ विराजती ॥ ६ ॥

उसके कोमल, घुँघराले और लम्बे केशोंका समूह वेणीके रूपमें आबद्ध था । उनमें कुमुदपुष्पोंके गुच्छे लगे हुए थे । इस प्रकार सुशोभित वह ललना अर्जुनके गृहकी ओर बढ़ी जा रही थी ॥ ६ ॥

भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैः कान्त्या सौम्यतयापि च ।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽऽह्वयन्तीव गच्छति॥ ७ ॥

भौंहोंकी भंगिमा, वार्तालापकी मधुरिमा, उज्ज्वल कान्ति और सौम्यभावसे सम्पन्न अपने मनोहर मुखचन्द्रद्वारा वह चन्द्रमाको चुनौती-सी देती हुई इन्द्रभवनके पथपर चल रही थी ॥ ७ ॥

दिव्याङ्गरागौ सुमुखौ दिव्यचन्दनरूषितौ ।
गच्छन्त्या हाररुचिरौ स्तनौ तस्या ववल्गतुः ॥ ८ ॥

चलते समय सुन्दर हारोंसे विभूषित उर्वशीके उठे हुए स्तन जोर-जोरसे हिल रहे थे । उनपर दिव्य अङ्गराग लगाये गये थे । उनके अग्रभाग अत्यन्त मनोहर थे । वे दिव्य चन्दनसे चर्चित हो रहे थे ॥ ८ ॥

स्तनोद्वहनसंक्षोभान्नम्यमाना पदे पदे ।
त्रिवलीदामचित्रेण मध्येनातीवशोभिना ॥ ९ ॥

स्तनोंके भारी भारको वहन करनेके कारण थक... पग-पगपर झुकी जाती थी । उसका अत्यन्त सुन्दर म... (उदर) त्रिवली रेखासे विचित्र शोभा धारण करता...

अधो भूधरविस्तीर्णं नितम्बोन्नतपीवरम् ।
मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम् ॥
ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम् ।
सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ॥ ...

सुन्दर महीन वस्त्रोंसे आच्छादित उसका जघ... अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हो रहा था । वह काम... उज्ज्वल मन्दिर जान पड़ता था । नाभिके नीचेके... पर्वतके समान विशाल नितम्ब ऊँचा और स्थूल प्रतीत... था । कटिमें बँधी हुई करधनीकी लड़ियाँ उस जघनप्र... सुशोभित कर रही थीं । वह मनोहर अङ्ग (जघन) देवलो... महर्षियोंके भी चित्तको क्षुब्ध कर देनेवाला था ॥ १०-१...

गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायततलाङ्गुली ।
कूर्मपृष्ठोन्नतौ चापि शोभेते किङ्किणीकिणौ ॥ ...

उसके दोनों चरणोंके गुल्फ (टखने) मांसल... हुए थे । उसके विस्तृत तलवे और अँगुलियाँ लाल... थीं । वे दोनों पैर कछुएकी पीठके समान ऊँचे होनेके... ही घुँघुरुओंके चिह्नसे सुशोभित थे ॥ १२ ॥

सीधुपानेन चाल्पेन तुष्ट्याथ मदनेन च ।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराभवत् ॥ ...

वह अल्प सुरापानसे, संतोषसे, कामसे और ... प्रकारकी विलासिताओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त द... हो रही थी ॥ १३ ॥

सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी ।
बह्वाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ॥ ...
सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता ।
तनुरभ्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छति ॥ ...

जाती हुई उस विलासिनी अप्सराकी आकृति ... आश्चर्योंसे भरे हुए स्वर्गलोकमें भी सिद्ध, चारण ... गन्धर्वोंके लिये देखनेके ही योग्य हो रही ... अत्यन्त महीन मेघके समान श्याम रंगकी सुन्दर ... ओढ़े तन्वङ्गी उर्वशी आकाशमें बादलोंसे ढकी हुई चन्द्र... सी चली जा रही थी ॥ १४-१५ ॥

ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी ।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥ ...

मन और वायुके समान तीव्र वेगसे चलनेवाली... पवित्र मुसकानसे सुशोभित अप्सरा क्षणभरमें पाण्डु... अर्जुनके महलमें जा पहुँची ॥ १६ ॥

तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता ।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ॥ ...

उपातिष्ठत तद् वेश्म निर्मलं सुमनोहरम्।
सशङ्कितमना राजन् प्रत्युद्गच्छत तां निशि ॥ १८ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय! महलके द्वारपर पहुँचकर वह ठहर गयी। उस समय द्वारपालोंने अर्जुनको उसके आगमनकी सूचना दी। तब सुन्दर नेत्रोंवाली उर्वशी रात्रिमें अर्जुनके अत्यन्त मनोहर तथा उज्ज्वल भवनमें उपस्थित हुई। राजन्! अर्जुन सशङ्क हृदयसे उसके सामने गये ॥ १७-१८ ॥

दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः।
तदाभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥

उर्वशीको आयी देख अर्जुनके नेत्र लज्जासे मुँद गये। उस समय उन्होंने उसके चरणोंमें प्रणाम करके उसका गुरुजनोचित सत्कार किया ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ॥ २० ॥

अर्जुन बोले—देवि! श्रेष्ठ अप्सराओंमें भी तुम्हारा सबसे ऊँचा स्थान है। मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। बताओ, मेरे लिये क्या आज्ञा है? मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये उपस्थित हूँ ॥ २० ॥

फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ॥ २१ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर उर्वशीके होश-हवास गुम हो गये, उस समय उसने गन्धर्वराज चित्रसेनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ २१ ॥

उर्वश्युवाच

यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा चाहमिहागता ॥ २२ ॥

उर्वशीने कहा—पुरुषोत्तम! चित्रसेनने मुझे जैसा संदेश दिया है और उसके अनुसार जिस उद्देश्यको लेकर मैं यहाँ आयी हूँ, वह सब मैं तुम्हें बता रही हूँ ॥ २२ ॥

उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्तमाने मनोरमे।
तवागमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ॥ २३ ॥
रुद्राणां चैव सांनिध्यमादित्यानां च सर्वशः।
समागमेऽश्विनोश्चैव वसूनां च नरोत्तम ॥ २४ ॥
महर्षीणां च संघेषु राजर्षिप्रवरेषु च।
सिद्धचारणयक्षेषु महोरगगणेषु च ॥ २५ ॥
उपविष्टेषु सर्वेषु स्थानमानप्रभावतः।
ऋद्ध्या प्रज्वलमानेषु अग्निसोमार्कवर्ष्मसु ॥ २६ ॥
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन ॥ २७ ॥
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह।
त्वं किलानिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ॥ २८ ॥

देवराज इन्द्रके इस मनोरम निवासस्थानमें तुम्हारे शुभागमनके उपलक्ष्यमें एक महान् उत्सव मनाया गया। वह उत्सव स्वर्गलोकका सबसे बड़ा उत्सव था। उसमें रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और वसुगण—इन सबका सब ओरसे समागम हुआ था। नरश्रेष्ठ! महर्षिसमुदाय, राजर्षिप्रवर, सिद्ध, चारण, यक्ष तथा बड़े-बड़े नाग—ये सभी अपने पद, सम्मान और प्रभावके अनुसार योग्य आसनोंपर बैठे थे। इन सबके शरीर अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी थे और ये समस्त देवता अपनी अद्भुत समृद्धिसे प्रकाशित हो रहे थे। विशाल नेत्रोंवाले इन्द्रकुमार! उस समय गन्धर्वोंद्वारा अनेक वीणाएँ बजायी जा रही थीं। दिव्य मनोरम संगीत छिड़ा हुआ था और सभी प्रमुख अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। कुरुकुलनन्दन पार्थ! उस समय तुम मेरी ओर निर्निमेष नयनोंसे निहार रहे थे ॥ २३-२८ ॥

तत्र चावभृथे तस्मिन्नुपस्थाने दिवौकसाम्।
तव पित्राभ्यनुज्ञाता गताः स्वं स्वं गृहं सुराः ॥ २९ ॥
तथैवाप्सरसः सर्वा विशिष्टाः स्वगृहं गताः।
अपि चान्याश्च शत्रुघ्न तव पित्रा विसर्जिताः ॥ ३० ॥

देवसभामें जब उस महोत्सवकी समाप्ति हुई, तब तुम्हारे पिताकी आज्ञा लेकर सब देवता अपने-अपने भवनको चले गये। शत्रुदमन! इसी प्रकार आपके पितासे विदा लेकर सभी प्रमुख अप्सराएँ तथा दूसरी साधारण अप्सराएँ भी अपने-अपने घरको चली गयीं ॥ २९-३० ॥

ततः शक्रेण संदिष्टश्चित्रसेनो ममान्तिकम्।
प्राप्तः कमलपत्राक्ष स च मामब्रवीदथ ॥ ३१ ॥

कमलनयन! तदनन्तर देवराज इन्द्रका संदेश लेकर गन्धर्वप्रवर चित्रसेन मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—॥

त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि।
प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवात्मनश्च ह ॥ ३२ ॥

'वरवर्णिनि! देवेश्वर इन्द्रने तुम्हारे लिये एक संदेश देकर मुझे भेजा है। तुम उसे सुनकर महेन्द्रका, मेरा तथा मुझसे अपना भी प्रिय कार्य करो ॥ ३२ ॥

शक्रतुल्यं रणे शूरं सदौदार्यगुणान्वितम्।
पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि त्वमित्येवं तदाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

'सुश्रोणि! जो संग्राममें इन्द्रके समान पराक्रमी और उदारता आदि गुणोंसे सदा सम्पन्न हैं, उन कुन्तीनन्दन अर्जुनकी सेवा तुम स्वीकार करो।' इस प्रकार चित्रसेनने मुझसे कहा था ॥ ३३ ॥

ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ।
तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिंदम ॥ ३४ ॥

अनघ ! शत्रुदमन ! तदनन्तर चित्रसेन और तुम्हारे पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं तुम्हारी सेवाके लिये तुम्हारे पास आयी हूँ ॥ ३४ ॥

त्वद्गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता ।
चिराभिलषितो वीर ममाप्येष मनोरथः ॥ ३५ ॥

तुम्हारे गुणोंने मेरे चित्तको अपनी ओर खींच लिया है। मैं कामदेवके वशमें हो गयी हूँ। वीर ! मेरे हृदयमें भी चिरकालसे यह मनोरथ चला आ रहा था ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जाऽऽवृतोऽर्जुनः ।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! स्वर्गलोकमें उर्वशीकी यह बात सुनकर अर्जुन अत्यन्त लज्जासे गड़ गये और हाथोंसे दोनों कान मूँदकर बोले—॥ ३६ ॥

दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भाविनि ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ॥ ३७ ॥

'सौभाग्यशालिनि ! भाविनि ! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिये बड़े दुःखकी बात है। वरानने ! निश्चय ही तुम मेरी दृष्टिमें गुरुपत्नियोंके समान पूजनीया हो ॥

यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणि नात्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥

'कल्याणि ! मेरे लिये जैसी महाभागा कुन्ती और इन्द्राणी शची हैं, वैसी ही तुम भी हो। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यच्चेक्षितासि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे ।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते ॥ ३९ ॥

'शुभे ! पवित्र मुसकानवाली उर्वशी ! मैंने जो उस समय सभामें तुम्हारी ओर एकटक दृष्टिसे देखा था, उसका एक विशेष कारण था, उसे सत्य बताता हूँ सुनो ॥ ३९ ॥

इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति ह ।
त्वामहं दृष्टवांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ॥ ४० ॥
न मामर्हसि कल्याणि अन्यथा ध्यातुमप्सरः ।
गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम त्वं वंशवर्धिनी ॥ ४१ ॥

'यह आनन्दमयी उर्वशी ही पूरुवंशकी जननी है, ऐसा समझकर मेरे नेत्र खिल उठे और इस पूज्य भावको लेकर ही मैंने तुम्हें वहाँ देखा था। कल्याणमयी अप्सरा ! तुम मेरे विषयमें कोई अन्यथा भाव मनमें न लाओ। तुम मेरे वंशकी वृद्धि करनेवाली हो; अतः गुरुसे भी अधिक गौरवशालिनी हो'॥

उर्वश्युवाच

अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ।
गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहार्हसि ॥

उर्वशीने कहा—वीर देवराजनन्दन ! हम सब अ[illegible] स्वर्गवासियोंके लिये अनावृत हैं—हमारा किसीके सा[illegible] पर्दा नहीं है। अतः तुम मुझे गुरुजनके स्थानपर न करो ॥ ४२ ॥

पूरोर्वंशे हि ये पुत्रा नप्तारो वा त्विहागताः ।
तपसा रमयन्त्यस्मान्न च तेषां व्यतिक्रमः ॥
तत् प्रसीद न मामार्तां विसर्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च संतप्तां भक्तां च भज मानद ॥

पूरुवंशके कितने ही पोते-नाती तपस्या करके यहाँ [illegible] हैं और वे हम सब अप्सराओंके साथ रमण करते हैं। उनका कोई अपराध नहीं समझा जाता। मानद ! [illegible] प्रसन्न होओ। मैं कामवेदनासे पीडित हूँ, मेरा त्याग न [illegible] मैं तुम्हारी भक्त हूँ और मदनाग्निसे दग्ध हो रही हूँ; मुझे अङ्गीकार करो ॥ ४३-४४ ॥

अर्जुन उवाच

शृणु सत्यं वरारोहे यत् त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥ ४[illegible]

अर्जुनने कहा—वरारोहे ! अनिन्दिते ! मैं तुम[illegible] कुछ कहता हूँ, मेरे उस सत्य वचनको सुनो। ये [illegible] विदिशा तथा उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ भी सुन लें ॥ ४[illegible]

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥ ४[illegible]

अनघे ! मेरी दृष्टिमें कुन्ती, माद्री और शचीका जो [illegible] है, वही तुम्हारा भी है। तुम पूरुवंशकी जननी होनेके [illegible] आज मेरे लिये परम गुरुस्वरूप हो ॥ ४६ ॥

गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥ ४[illegible]

वरवर्णिनि ! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्[illegible] शरणमें आया हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टिमें तुम मात[illegible] समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्रके समान मानकर मेरी [illegible] करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्रा शशापाथ धनंजयम् ॥ ४८

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमार अर्जु[illegible] के ऐसा कहनेपर उर्वशी क्रोधसे व्याकुल हो उठी। उसका शरी[illegible]

इदममरवरात्मजस्य घोरं
शुचि चरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य।
व्यपगतमददम्भरागदोषा-
स्त्रिदिवगता विरमन्ति मानवेन्द्राः॥ ६३॥

देवराज इन्द्रके पुत्र अर्जुनके इस अत्यन्त दुष्कर पवित्र चरित्रको सुनकर मद, दम्भ तथा विषयासक्ति आदि दोषोंसे रहित श्रेष्ठ मानव स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि उर्वशीशापो नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें उर्वशीशाप नामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

लोमश मुनिका स्वर्गमें इन्द्र और अर्जुनसे मिलकर उनका संदेश ले काम्यकवनमें आना

वैशम्पायन उवाच

कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः ।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ॥ १ ॥
स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः ।
ददर्शार्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य हि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक समयकी बात है, महर्षि लोमश इधर-उधर घूमते हुए इन्द्रसे मिलनेकी इच्छा लेकर स्वर्गलोकमें गये । उन महामुनिने देवराज इन्द्रसे मिलकर उन्हें नमस्कार किया और देखा, पाण्डुनन्दन अर्जुन इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हैं ॥ १-२ ॥

ततः शक्राभ्यनुज्ञात आसने विष्टरोत्तरे ।
निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३ ॥

तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे एक उत्तम सिंहासनपर, जहाँ ऊपर कुशका आसन बिछा हुआ था, महर्षियोंसे पूजित द्विजवर लोमशजी बैठे ॥ ३ ॥

तस्य दृष्ट्वाभवद् बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम्।
कथं नु क्षत्रियः पार्थः शक्रासनमवाप्तवान् ॥ ४ ॥

इन्द्रके सिंहासनपर बैठे हुए कुन्तीकुमार अर्जुनको देखकर लोमशजीके मनमें यह विचार हुआ कि 'क्षत्रिय होकर भी कुन्तीकुमारने इन्द्रका आसन कैसे प्राप्त कर लिया ? ॥ ४ ॥

किं त्वस्य सुकृतं कर्म के लोका वै विनिर्जिताः ।
स एवमनुसम्प्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ॥ ५ ॥

'इनका पुण्य-कर्म क्या है ? इन्होंने किन-किन लोकोंपर विजय पायी है ? किस पुण्यके प्रभावसे इन्होंने यह देववन्दित स्थान प्राप्त किया है ?' ॥ ५ ॥

तस्य विज्ञाय संकल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
लोमशं प्रहसन् वाक्यमिदमाह शचीपतिः ॥ ६ ॥

लोमश मुनिके सकल्पको जानकर वृत्रहन्ता शचीपति इन्द्रने हँसते हुए उनसे कहा—॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षे श्रूयतां यत् ते मनसैतद् विवक्षितम् ।
नायं केवलमर्त्यो वै मानुषत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आपके मनमें जो प्रश्न उठा है' उसका समाधान कर रहा हूँ, सुनिये । ये अर्जुन मानवयोनिमें उत्पन्न हुए केवल मरणधर्मा मनुष्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः ।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित् कारणान्तरात्॥ ८ ॥
अहो नैनं भवान् वेत्ति पुराणमृषिसत्तमम् ।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन् योऽयं यच्चास्य कारणम्॥ ९ ॥

'महर्षे ! ये महाबाहु धनंजय कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न हुए मेरे पुत्र हैं और कुछ कारणवश अस्त्रविद्या सीखनेके लिये यहाँ आये हैं । आश्चर्य है कि आप इन पुरातन ऋषिप्रवरको नहीं जानते हैं । ब्रह्मन् ! इनका जो स्वरूप है और इनके अवतार-ग्रहणका जो कारण है, वह सब मैं बता रहा हूँ । आप मेरे मुँहसे यह सब सुनिये ॥ ८-९ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
ताविमावनुजानीहि हृषीकेशधनंजयौ ॥ १० ॥

'नर-नारायण नामसे प्रसिद्ध जो पुरातन मुनीश्वर हैं' वे ही श्रीकृष्ण और अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं, यह बात आप जान लें ॥ १० ॥

विख्यातौ त्रिषु लोकेषु नरनारायणावृषी ।
कार्यार्थमवतीर्णौ तौ पृथ्वीं पुण्यप्रतिश्रयाम् ॥ ११ ॥

'तीनों लोकोंमें विख्यात नर-नारायण ऋषि ही देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये पुण्यके आधाररूप भूतलपर अवतीर्ण हुए हैं ॥ ११ ॥

यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः ।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरीनाम विश्रुतम् ॥ १२ ॥
स निवासोऽभवद् विप्र विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च ।
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ॥ १३ ॥

'देवता अथवा महात्मा महर्षि भी जिसे देखनेमें समर्थ नहीं, वह बदरी नामसे विख्यात पुण्यतीर्थ इनका आश्रम है । वही पूर्वकालमें इन श्रीहरि और अर्जुनका (नारायण और

नरका) निवासस्थान था। जहाँसे सिद्ध-चारणसेवित गङ्गाका प्राकट्य हुआ है ॥ १२-१३ ॥

तौ मन्नियोगाद् ब्रह्मर्षे क्षितौ जातौ महाद्युती।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ॥ १४ ॥

'ब्रह्मर्षे ! ये दोनों महातेजस्वी नर और नारायण मेरे अनुरोधसे पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं। इनकी शक्ति महान् है, ये दोनों इस पृथ्वीका भार उतारेंगे ॥ १४ ॥

उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति।
विप्रियेषु स्थितास्माकं वरदानेन मोहिताः ॥ १५ ॥

'इन दिनों निवातकवच नामसे प्रसिद्ध कुछ असुरगण बड़े उद्दण्ड हो रहे हैं, वे वरदानसे मोहित होकर हमारा अनिष्ट करनेमें लगे हुए हैं ॥ १५ ॥

तर्कयन्ते सुरान् हन्तुं बलदर्पसमन्विताः।
देवान् न गणयन्त्येते तथा दत्तवरा हि ते ॥ १६ ॥

'उनमें बल तो है ही, बली होनेका अभिमान भी है। वे देवताओंको मार डालनेका विचार करते हैं। देवताओंको तो वे लोग कुछ गिनते ही नहीं; क्योंकि उन्हें वैसा ही वरदान प्राप्त हो चुका है ॥ १६ ॥

पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः।
सर्वदेवनिकाया हि नालं योधयितुं हि तान् ॥ १७ ॥
योऽसौ भूमिगतः श्रीमान् विष्णुर्मधुनिषूदनः।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः ॥ १८ ॥

'वे महाबली भयंकर दानव पातालमें निवास करते हैं। सम्पूर्ण देवता मिलकर भी उनके साथ युद्ध नहीं कर सकते। इस समय भूतलपर जिनका अवतार हुआ है, वे श्रीमान् मधुसूदन विष्णु ही कपिल नामसे प्रसिद्ध देवता हुए हैं। वे ही भगवान् अपराजित हरि हैं ॥ १७-१८ ॥

येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम्।
दर्शनादेव निहताः सगरस्यात्मजा विभो ॥ १९ ॥

'महर्षे ! पूर्वकालमें रसातलको खोदनेवाले सगरके महामना पुत्र उन्हीं कपिलकी दृष्टिमात्र पड़नेसे भस्म हो गये थे ॥ १९ ॥

तेन कार्यं महत् कार्यमस्माकं द्विजसत्तम।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यां न संशयः ॥ २० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! वे भगवान् श्रीहरि हमारा महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं। कुन्तीकुमार अर्जुनसे भी हमारा कार्य सिद्ध हो सकता है। यदि श्रीकृष्ण और अर्जुन किसी महायुद्धमें एक दूसरेसे मिल जायँ तो वे दोनों एक साथ होकर महान्-से-महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं,' इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

सोऽसुरान् दर्शनादेव शक्तो हन्तुं सहानुगान्।
निवातकवचान् सर्वान् नागानिव महाह्रदे ॥ २१ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण तो दृष्टिनिक्षेपमात्रसे ही महान् कुण्डमें निवास करनेवाले नागोंकी भाँति समस्त 'निवातकवच' नामक दानवोंको उनके अनुयायियोंसहित मार डालनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

किं तु नाल्पेन कार्येण प्रबोध्यो मधुसूदनः।
तेजसः सुमहाराशिः प्रबुद्धः प्रदहेज्जगत् ॥ २२ ॥

'परंतु किसी छोटे कार्यके लिये भगवान् मधुसूदनको सूचना देनी उचित नहीं जान पड़ती। वे तेजके महान् राशि हैं; यदि प्रज्वलित हों तो सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर सकते हैं ॥ २२ ॥

अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने।
तान् निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ॥ २३ ॥

'ये शूरवीर अर्जुन अकेले ही उन समस्त निवातकवचोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। उन सबको युद्धमें मारकर ये फिर मनुष्यलोकको लौट जायँगे ॥ २३ ॥

भवानस्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम्।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

'मुने ! आप मेरे अनुरोधसे कृपया भूलोकमें जाइये और काम्यकवनमें निवास करनेवाले युधिष्ठिरसे मिलिये ॥ २४ ॥

स वाच्यो मम संदेशाद् धर्मात्मा सत्यसंगरः।
नोत्कण्ठा फाल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति ॥ २५ ॥

'वे बड़े धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ हैं। उनसे मेरा यह संदेश कहियेगा—'राजन् ! आप अर्जुनके वापस लौटनेके विषयमें उत्कण्ठित न हों। वे अस्त्रविद्या सीखकर शीघ्र ही लौट आयेंगे ॥ २५ ॥

नाशुद्धबाहुवीर्येण नाकृतास्त्रेण वा रणे।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ॥ २६ ॥

'जिसका बाहुबल पूर्ण अस्त्रशिक्षाके अभावसे त्रुटिपूर्ण हो तथा जिसने अस्त्रविद्याका पूर्ण ज्ञान न प्राप्त किया हो, वह युद्धमें भीष्म-द्रोण आदिका सामना नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः।
नृत्यवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमीयिवान् ॥ २७ ॥

'महाबाहु महामना अर्जुन अस्त्रविद्याकी पूरी शिक्षा पा चुके हैं। वे दिव्य नृत्य, वाद्य एवं गीतकी कलामें भी पारङ्गत हो गये हैं ॥ २७ ॥

भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिंदम ॥ २८ ॥
तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र सुखी विगतकल्मषः ॥ २९ ॥

'मनुजेश्वर ! शत्रुदमन ! आप भी अपने सभी भाइयोंके साथ

पवित्र तीर्थोंका दर्शन कीजिये। राजेन्द्र! पुण्यतीर्थोंमें स्नान करके पाप-तापसे रहित हो सुखी एवं निष्कलंक जीवन बिताते हुए आप राज्यभोग करेंगे' ॥ २८-२९ ॥

भवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ पर्यटन्तं महीतलम्।
त्रातुमर्हति विप्राग्र्य तपोबलसमन्वितः ॥ ३० ॥

'द्विजश्रेष्ठ! आप भी भूतलपर विचरनेवाले राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करते रहें; क्योंकि आप तपोबलसे सम्पन्न हैं ॥ ३० ॥

गिरिदुर्गेषु च सदा देशेषु विषमेषु च।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षां विधास्यति ॥ ३१ ॥

'पर्वतोंके दुर्गम स्थानोंमें तथा ऊँची-नीची भूमियोंमें भयंकर राक्षस निवास करते हैं; उनसे आप भाइयोंसहित युधिष्ठिरकी रक्षा कीजियेगा' ॥ ३१ ॥

एवमुक्तो महेन्द्रेण बीभत्सुरपि लोमशम्।
उवाच प्रयतो वाक्यं रक्षेथाः पाण्डुनन्दनम् ॥ ३२ ॥

महेन्द्रके ऐसा कहनेपर अर्जुनने भी विनीत होकर लोमश मुनिसे कहा—'मुने! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी भाइयों-सहित रक्षा कीजिये ॥ ३२ ॥

यथा गुप्तस्त्वया राजा चरेत् तीर्थानि सत्तम।
दानं दद्याद् यथा चैव तथा कुरु महामुने ॥ ३३ ॥

'साधुशिरोमणे! महामुने! आपसे सुरक्षित रहकर युधिष्ठिर तीर्थोंमें भ्रमण करें और दान दें—ऐसी कीजिये' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति सम्प्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! 'बहुत अच्छा' कहकर महातपस्वी लोमशजीने उनका अनुरोध मान लिया और काम्यकवनमें जानेके लिये भूलोककी ओर प्रस्थान किया ॥ ३४ ॥

ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिंदमम्।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ॥ ३५ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने शत्रुदमन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरको भाइयों तथा तपस्वी मुनियोंसे घिरा हुआ देखा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि लोमशगमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें लोमशगमनविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

दुःखित धृतराष्ट्रका संजयके सम्मुख अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करना

जनमेजय उवाच

अत्यद्भुतमिदं कर्म पार्थस्यामिततेजसः।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः श्रुत्वा विप्र किमब्रवीत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! अमित तेजस्वी कुन्ती-कुमार अर्जुनका यह कर्म तो अत्यन्त अद्भुत है। परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने भी यह सब अवश्य सुना होगा। उसे सुनकर उन्होंने क्या कहा था? यह बतलाइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाम्बिकासुतः।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात् संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने ऋषि द्वैपायन व्यासके मुखसे अर्जुनके इन्द्रलोकगमनका समाचार सुनकर संजयसे यह बात कही ॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रुतं मे सूत कात्स्न्र्येन कर्म पार्थस्य धीमतः।
कच्चित् तवापि विदितं याथातथ्येन सारथे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूत! मैंने परम बुद्धिमान् कुन्ती-कुमार अर्जुनका सारा वृत्तान्त सुना है। सारथे! क्या तुम्हें भी इस विषयमें यथार्थ बातें ज्ञात हुई हैं? ॥ ३ ॥

प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ४ ॥

मेरा मूढ़बुद्धि पुत्र तो विषयभोगोंमें फँसा हुआ है। उसका विचार सदा पापपूर्ण ही बना रहता है। प्रमादमें पड़ा हुआ वह अत्यन्त दुर्बुद्धि दुर्योधन एक दिन सारे भूमण्डलका नाश करा देगा ॥ ४ ॥

यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः॥ ५ ॥

जिन महात्माके मुखसे हँसीमें भी सदा सत्य ही बातें निकलती हैं और जिनकी ओरसे लड़नेवाले धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरके लिये इस कौरव-राज्यको जीतनेकी तो बात ही क्या है, वे तीनों लोकोंपर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं ॥ ५ ॥

अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान्।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेदपि मृत्युर्जरातिगः ॥ ६ ॥

जो पत्थरपर रगड़कर तेज किये गये हैं, जिनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं, उन कर्णिनामक नाराचोंका प्रहार करनेवाले अर्जुनके आगे कौन योद्धा ठहर सकता है ? जराविजयी मृत्यु भी उनका सामना नहीं कर सकती ॥ ६ ॥

मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशानुगाः।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम् ॥ ७ ॥

मेरे सभी दुरात्मा पुत्र मृत्युके वशमें हो गये हैं; क्योंकि उनके सामने दुर्धर्ष वीर पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेका अवसर उपस्थित हुआ है ॥ ७ ॥

तथैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि य एनमुदियाद् रथी ॥ ८ ॥

मैं दिन-रात विचार करनेपर भी यह नहीं समझ पाता कि युद्धमें 'गाण्डीवधन्वा' अर्जुनका सामना कौन रथी कर सकता है ? ॥ ८ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे।
महान् स्यात् संशयो लोके तत्र पश्यामि नो जयम्॥ ९॥

द्रोण और कर्ण उस अर्जुनका सामना कर सकते हैं। भीष्म भी युद्धमें उनसे लोहा ले सकते हैं; परंतु तो भी मेरे मनमें महान् संशय ही बना हुआ है। मुझे इस लोकमें अपने पक्षकी जीत नहीं दिखायी देती ॥ ९ ॥

घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः।
अमर्षी बलवान् पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ॥ १० ॥
सम्भवेत् तुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम्।
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः ॥ ११ ॥

कर्ण दयालु और प्रमादी है। आचार्य द्रोण वृद्ध एवं गुरु हैं। उधर कुन्तीकुमार अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए और बलवान् हैं। उद्योगी और दृढ़ पराक्रमी हैं। सब ओरसे घमासान युद्ध छिड़नेकी सम्भावना हो गयी है। युद्धमें पाण्डवोंकी पराजय नहीं हो सकती; क्योंकि उनकी ओर सभी अस्त्रविद्याके विद्वान् शूरवीर और महान् यशस्वी हैं ॥ १०-११ ॥

अपि सर्वेश्वरत्वं हि ते वाञ्छन्त्यपराजिताः।
वधे नूनं भवेच्छान्तिरेतेषां फाल्गुनस्य वा ॥ १२ ॥

और वे पराजित न होकर सर्वेश्वर सम्राट् बननेकी इच्छा रखते हैं। इन कर्ण आदि योद्धाओंका वध हो जाय अथवा अर्जुन ही मारे जायँ तो इस विवादकी शान्ति हो सकती है ॥

न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता वास्य न विद्यते।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति समुत्थितः॥ १३ ॥

परंतु अर्जुनको मारनेवाला या जीतनेवाला कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनका बढ़ा हुआ क्रोध कैसे शान्त हो सकता है ? ॥ १३ ॥

त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत्।
जिगाय पार्थिवान् सर्वान् राजसूये महाक्रतौ ॥ १४ ॥

अर्जुन इन्द्रके समान वीर हैं। उन्होंने खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया तथा राजसूय महायज्ञमें समस्त राजाओंपर विजय पायी ॥ १४ ॥

शेषं कुर्याद् गिरेर्वज्रो निपतन् मूर्ध्नि संजय।
न तु कुर्युः शराः शेषं क्षिप्तास्तात किरीटिना ॥ १५ ॥

संजय ! पर्वतके शिखरपर गिरनेवाला वज्र भले ही कुछ बाकी छोड़ दे; किंतु तात ! किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण कुछ भी शेष नहीं छोड़ेंगे ॥ १५ ॥

यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम्।
तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मत्सुतान्॥ १६ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें चराचर जगत्को संतप्त करती हैं, उसी प्रकार अर्जुनकी भुजाओंद्वारा चलाये गये बाण मेरे पुत्रोंको संतप्त कर देंगे ॥ १६ ॥

अपि तद्रथघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमूः ॥ १७ ॥

मुझे तो आज भी सव्यसाची अर्जुनके रथकी घरघराहटसे सारी कौरव-सेना भयातुर हो छिन्न-भिन्न-सी होती प्रतीत हो रही है ॥ १७ ॥

यदोद्वहन् प्रवपंश्चैव बाणान्
स्थाताऽऽततायी समरे किरीटी।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
भवेद् यथा तद्वदपारणीयः ॥ १८ ॥

जब किरीटधारी अर्जुन हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये (तूणीरसे)

बाण निकालते और चलाते हुए समरभूमिमें खड़े होंगे, उस समय उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा। वे ऐसे जान पड़ेंगे; मानो विधाताने किसी दूसरे सर्वसंहारकारी यमरा सृष्टि कर दी हो ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयके द्वारा धृतराष्ट्रकी बातोंका अनुमोदन और धृतराष्ट्रका संताप

संजय उवाच

यदेतत् कथितं राजंस्त्वया दुर्योधनं प्रति ।
सर्वमेतद् यथातत्त्वं नैतन्मिथ्या महीपते ॥ १ ॥

संजय बोला—राजन्! आपने दुर्योधनके विषयमें जो बातें कही हैं; वे सभी यथार्थ हैं। महीपते! आपका वचन मिथ्या नहीं है ॥ १ ॥

मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्ते महौजसः ।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ २ ॥
दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः ।
कर्णस्य च महाराज जुगुप्सन्तीति मे मतिः ॥ ३ ॥

महातेजस्वी वे पाण्डव अपनी धर्मपत्नी यशस्विनी कृष्णाको सभामें लायी गयी देखकर क्रोधसे भरे हुए हैं और महाराज! दुःशासन तथा कर्णकी वे कठोर बातें सुनकर पाण्डव आपलोगोंकी निन्दा करते हैं; ऐसा मुझे विश्वास है ॥ २-३ ॥

श्रुतं हि मे महाराज यथा पार्थेन संयुगे ।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र! मैंने यह भी सुना है कि कुन्तीकुमार अर्जुनने एकादश मूर्तिधारी भगवान् शंकरको भी अपने धनुष-बाणकी कलाद्वारा संतुष्ट किया है ॥ ४ ॥

कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फाल्गुनम् ।
जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान् स्वयम् ॥ ५ ॥

जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर भगवान् शंकरने स्वयं ही अर्जुनके बलकी परीक्षा लेनेके लिये किरातवेष धारण करके उनके साथ युद्ध किया था ॥ ५ ॥

तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरर्जुनम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ॥ ६ ॥

वहाँ अस्त्रप्राप्तिके लिये विशेष उद्योगशील कुरुकुलरत्न अर्जुनको उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन लोकपालोंने भी दर्शन दिया था ॥ ६ ॥

नैतदुत्सहते चान्यो लब्धुमन्यत्र फाल्गुनात् ।
साक्षाद् दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ॥ ७ ॥

इस संसारमें अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य ऐसा नहीं है; जो इन लोकेश्वरोंका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सके

महेश्वरेण यो राजन् न जीर्णो ह्यष्टमूर्तिना ।
कस्तमुत्सहते वीरो युद्धे जरयितुं पुमान् ॥ ८

राजन्! अष्टमूर्ति[1] भगवान् महेश्वर भी जिसे युद्धमें पराजि कर सके; उन्हीं वीरवर अर्जुनको दूसरा कौन वीर पु जीतनेका साहस कर सकता है ॥ ८ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ॥ ९

भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचकर पाण्डवोंको कु करनेवाले आपके पुत्रोंने स्वयं ही इस रोमाञ्चकारी, अत भयंकर एवं घमासान युद्धको निमन्त्रित किया है ॥ ९ ॥

यत् तु प्रस्फुरमाणौष्ठो भीमः प्राह वचोऽर्थवत् ।
दृष्ट्वा दुर्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ॥ १०

जब दुर्योधनने द्रौपदीको अपनी दोनों जाँघें दिख थीं, उस समय यह देखकर भीमसेनने फड़कते हुए ओठ जो बात कही थी, वह व्यर्थ नहीं हो सकती ॥ १० ॥

ऊरू भेत्स्यामि ते पाप गदया भीमवेगया ।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ॥ ११

उन्होंने कहा था—'पापी दुर्योधन! मैं तेरहवें वर्षके अन्त अपनी भयानक वेगवाली गदासे तुझ कपटी जुआरी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा' ॥ ११ ॥

सर्वे प्रहरतां श्रेष्ठाः सर्वे चामिततेजसः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसो देवैरपि सुदुर्जयाः ॥ १२

सभी पाण्डव प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं सभी अपरिमित तेजसे सम्पन्न हैं तथा सबको सभी अस्त्रों परिज्ञान है, अतः वे देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय हैं।

मन्ये मन्युसमुद्भूताः पुत्राणां तव संयुगे ।
अन्तं पार्थाः करिष्यन्ति भार्यामर्षसमन्विताः ॥ १३

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अपनी पत्नीके अपमान जनित अमर्षसे युक्त और रोषसे उत्तेजित हो समस्त कुन्तीपु संग्राममें आपके पुत्रोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३ ॥

1. सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, दीक्षित ब्राह्मण त चन्द्रमा—ये शिवजीकी आठ मूर्तियाँ हैं। (विष्णुपुराण १।८।८)

धृतराष्ट्र उवाच

किं कृतं सूत कर्णेन वदता परुषं वचः।
पर्याप्तं वैरमेतावद् यत् कृष्णा सा सभां गता ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूत! कर्णने कठोर बातें कहकर क्या किया, पूरा वैर तो इतनेसे ही बढ़ गया कि द्रौपदीको सभामें (केश पकड़कर) लाया गया ॥ १४ ॥

अपीदानीं मम सुतास्तिष्ठेरन् मन्दचेतसः।
येषां भ्राता गुरुर्ज्येष्ठो विनये नावतिष्ठते ॥ १५ ॥

अब भी मेरे मूर्ख पुत्र चुपचाप बैठे हैं। उनका बड़ा भाई दुर्योधन विनय एवं नीतिके मार्गपर नहीं चलता ॥ १५ ॥

ममापि वचनं सूत न शुश्रूषति मन्दभाक्।
दृष्ट्वा मां चक्षुषा हीनं निर्विचेष्टमचेतसम् ॥ १६ ॥

सूत! वह मन्दभागी दुर्योधन मुझे अन्धा, अकर्मण्य और अविवेकी समझकर मेरी बात भी नहीं सुनना चाहता ॥

ये चास्य सचिवा मन्दाः कर्णसौबलकादयः।
ते तस्य भूयसो दोषान् वर्धयन्ति विचेतसः ॥ १७ ॥

कर्ण और शकुनि आदि जो उसके मूर्ख मन्त्री हैं, वे भी विचारशून्य होकर उसके अधिक-से-अधिक दोष बढ़ानेकी ही चेष्टा करते हैं ॥ १७ ॥

स्वैरमुक्ता ह्यपि शराः पार्थेनामिततेजसा।
निर्दहेयुर्मम सुतान् किं पुनर्मन्युनेरिताः ॥ १८ ॥

अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा स्वेच्छापूर्वक छोड़े हुए बाण भी मेरे पुत्रोंको जलाकर भस्म कर सकते हैं, फिर क्रोधपूर्वक छोड़े हुए बाणोंके लिये तो कहना ही क्या है? ॥

पार्थबाहुबलोत्सृष्टा महाचापविनिःसृताः।
दिव्यास्त्रमन्त्रमुदिताः सादयेयुः सुरानपि ॥ १९ ॥

अर्जुनके बाहु-बलद्वारा चलाये और उनके महान् धनुषसे छूटे हुए दिव्यास्त्रमन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित बाण देवताओंका भी संहार कर सकते हैं ॥ १९ ॥

यस्य मन्त्री च गोप्ता च सुहृच्चैव जनार्दनः।
हरिस्त्रैलोक्यनाथः स किं नु तस्य न निर्जितम् ॥ २० ॥

जिनके मन्त्री, संरक्षक और सुहृद् त्रिभुवननाथ, जनार्दन श्रीहरि हैं, वे किसे नहीं जीत सकते? ॥ २० ॥

इदं हि सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह संजय।
महादेवेन बाहुभ्यां यत् समेत इति श्रुतिः ॥ २१ ॥

संजय! अर्जुनका यह पराक्रम तो बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि उन्होंने महादेवजीके साथ बाहुयुद्ध किया, यह मेरे सुननेमें आया है ॥ २१ ॥

प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत् कृतं पुरा।
फाल्गुनेन सहायार्थे वह्नेर्दामोदरेण च ॥ २२ ॥

आजसे पहले खाण्डववनमें अग्निदेवकी सहायताके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ किया है, वह तो सम्पूर्ण जगत्की आँखोंके सामने है ॥ २२ ॥

सर्वथा न हि मे पुत्राः सहामात्याः ससौबलाः।
क्रुद्धे पार्थे च भीमे च वासुदेवे च सात्वते ॥ २३ ॥

जब कुन्तीपुत्र अर्जुन, भीमसेन और यदुकुलतिलक वासुदेव श्रीकृष्ण क्रोधमें भरे हुए हैं, तब मुझे यह विश्वास कर लेना चाहिये कि शकुनि तथा अन्य मन्त्रियोंसहित मेरे सभी पुत्र सर्वथा जीवित नहीं रह सकते ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रखेदे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रखेदविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

वनमें पाण्डवोंका आहार

जनमेजय उवाच

यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने।
प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—मुने! वीर पाण्डवोंको वनमें निर्वासित करके राजा धृतराष्ट्रने जो इतना शोक किया, यह सब व्यर्थ था ॥ १ ॥

कथं च राजा पुत्रं तमुपेक्षेताल्पचेतसम्।
दुर्योधनं पाण्डुपुत्रान् कोपयानं महारथान् ॥ २ ॥

उस मन्दबुद्धि राजकुमार दुर्योधनको ही किसी तरह त्याग देना उनके लिये सर्वथा उचित था, जो महारथी पाण्डवोंको अपने दुर्व्यवहारसे कुपित करता जा रहा था ॥ २ ॥

किमासीत् पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम्।
वानेयमथवा कृष्टमेतदाख्यातु नो भवान् ॥ ३ ॥

विप्रवर! बताइये, पाण्डवलोग वनमें क्या भोजन करते थे? जंगली फल-मूल या खेतीसे पैदा हुआ ग्रामीण अन्न? इसका आप स्पष्ट वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

वानेयांश्च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान्।
ब्राह्मणानां निवेद्याग्रमभुञ्जन् पुरुषर्षभाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जंगली फल-मूल और खेतीसे पैदा हुए अन्नादि भी पहले ब्राह्मणोंको निवेदन करके फिर स्वयं खाते थे एवं सब लोगोंकी रक्षाके लिये केवल बाणोंके द्वारा ही हिंसक पशुओंको मारा करते थे ॥ ४ ॥

तांस्तु शूरान् महेष्वासांस्तदा निवसतो वने ।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन् साग्नयोऽनग्नयस्तथा ॥ ५ ॥

राजन्! उन दिनों वनमें निवास करनेवाले महाधनुर्धर शूरवीर पाण्डवोंके साथ बहुत-से साग्निक (अग्निहोत्री) और निरग्निक (अग्निहोत्ररहित) ब्राह्मण भी रहते थे ॥५॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
दश मोक्षविदां तत्र यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिर जिनका पालन करते थे, वे महात्मा, स्नातक, मोक्षवेत्ता ब्राह्मण दस हजारकी संख्यामें थे ॥ ६ ॥

रुरून् कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चान्यान् वनेचरान् ।
बाणैरुन्मथ्य विविधैर्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

वे रुरुमृग, कृष्णमृग तथा अन्य जो मेध्य (पवित्र)* हिंसक वनजन्तु थे, उन सबको विविध बाणोंद्वारा मारकर उनके चर्म ब्राह्मणोंको आसनादि बनानेके लिये अर्पित कर देते थे॥

न तत्र कश्चिद् दुर्वर्णो व्याधितो वापि दृश्यते ।
कृशो वा दुर्बलो वापि दीनो भीतोऽपि वा पुनः ॥ ८ ॥

वहाँ उन ब्राह्मणोंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके शरीरका रंग दूषित हो अथवा जो किसी रोगसे ग्रस्त हो। उनमेंसे कोई कृशकाय, दुर्बल, दीन अथवा भयभीत भी नहीं जान पड़ता था ॥ ८ ॥

पुत्रानिव प्रियान् भ्रातॄञ्ज्ञातीनिव सहोदरान् ।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः

कुरुकुलतिलक धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों पुत्रोंकी भाँति तथा ज्ञातिजनोंका सहोदर भाइयोंके पालन-पोषण करते थे ॥ ९ ॥

पतींश्च द्रौपदी सर्वान् द्विजातींश्च यशस्विनी
मातृवद् भोजयित्वाग्रे शिष्टमाहारयत् तदा

इसी प्रकार यशस्विनी द्रौपदी भी पतियों तथा द्विजातियोंको माताके समान पहले भोजन कराकर पीछे खुचा आप खाती थी ॥ १० ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
यमौ प्रतीचीमथ वाप्युदीचीम् ।
धनुर्धराणां सहितो मृगाणां
क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ॥

राजा युधिष्ठिर पूर्व दिशामें, भीमसेन दक्षिण दिशामें नकुल-सहदेव पश्चिम एवं उत्तर दिशामें और कभी मिलकर नित्य वनमें निकल जाते और धनुषधारी (डाकु तथा हिंसक पशुओंका संहार किया करते थे ॥ ११ ॥

तथा तेषां वसतां काम्यके वै
विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम् ।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयु-
रधीयतां जपतां जुह्वतां च ॥ १

इस प्रकार काम्यकवनमें अर्जुनसे वियुक्त एवं उ लिये उत्कण्ठित होकर निवास करनेवाले पाण्डवोंके पाँच व्यतीत हो गये। इतने समयतक उनका स्वाध्याय, जप होम सदा पूर्ववत् चलता रहा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें पाण्डवोंके भोजनका वर्णनविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५०

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके प्रति श्रीकृष्णादिके द्वारा की हुई दुर्योधनादिके वधकी प्रतिज्ञाका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम् ।
चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
अब्रवीत् संजयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरुषरत्न जनमेजय! पाण्डवोंका वह अद्भुत एवं अलौकिक चरित्र सुनकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रका मन चिन्ता और शोकमें डूब गया। वे अत्यन्त खिन्न हो उठे और लंबी एवं गरम साँस खींचकर अपने सारथि संजयको निकट बुलाकर बोले—॥ १-२

न रात्रौ न दिवा सूत शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम् ।
संचिन्त्य दुर्नयं घोरमतीतं द्यूतजं हि तत् ॥ ३ ॥

'सूत! मैं बीते हुए द्यूतजनित घोर अन्यायका स्मरण करके दिन तथा रातमें क्षणभर भी शान्ति नहीं पाता ॥३॥

तेषामसह्यवीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम् ।
अन्योन्यमनुरागं च भ्रातॄणामतिमानुषम् ॥ ४ ॥

* सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जानवरोंको मार देनेसे वे मारनेवालेको पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये उनको पवित्र कहा गया है।

'मैं देखता हूँ, पाण्डवोंके पराक्रम असह्य हैं। उनमें शौर्य, धैर्य तथा उत्तम धारणाशक्ति है। उन सब भाइयोंमें परस्पर अलौकिक प्रेम है ॥ ४ ॥

देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती।
नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥

'देवपुत्र महाभाग नकुल-सहदेव देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। वे दोनों ही पाण्डव युद्धमें प्रचण्ड हैं ॥ ५ ॥

दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ६ ॥

'उनके आयुध दृढ़ हैं। वे दूरतक निशाना मारते हैं। युद्धके लिये उनका भी दृढ़ निश्चय है। वे दोनों ही बड़ी शीघ्रतासे हस्तसंचालन करते हैं। उनका क्रोध भी अत्यन्त दृढ़ है। वे सदा उद्योगशील और बड़े वेगवान् हैं ॥ ६ ॥

भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ॥ ७ ॥
न शेषमिह पश्यामि मम सैन्यस्य संजय।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ॥ ८ ॥

'जिस समय भीमसेन और अर्जुनको आगे रखकर वे दोनों सिंहके समान पराक्रमी और अश्विनीकुमारोंके समान दुःसह वीर युद्धके मुहानेपर खड़े होंगे, उस समय मुझे अपनी सेनाका कोई वीर शेष रहता नहीं दिखायी देता है। संजय! देवपुत्र महारथी नकुल-सहदेव युद्धमें अनुपम हैं। कोई भी रथी उनका सामना नहीं कर सकता ॥ ७-८ ॥

द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ।
वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ॥ ९ ॥
युधि सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ १० ॥

'अमर्षमें भरे हुए माद्रीकुमार द्रौपदीको दिये गये उस कष्टको कभी क्षमा नहीं करेंगे। महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी, महातेजस्वी पाञ्चाल योद्धा और युद्धमें सत्यप्रतिज्ञ वासुदेव श्रीकृष्णसे सुरक्षित कुन्तीपुत्र निश्चय ही मेरे पुत्रोंकी सेनाको भस्म कर डालेंगे ॥ ९-१० ॥

रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ॥ ११ ॥

'सूतनन्दन! बलराम और श्रीकृष्णसे प्रेरित वृष्णिवंशी योद्धाओंके वेगको युद्धमें समस्त कौरव मिलकर भी नहीं सह सकते ॥ ११ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः।
शैक्यया वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ १२ ॥
तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ १३ ॥

'उनके बीचमें जब भयानक पराक्रमी महान् धनुर्धर भीमसेन बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाली आकाशमें ऊपर उठी हुई गदा लिये विचरेंगे तब उन भीमकी गदाके वेगको तथा वज्रगर्जनके समान गाण्डीव धनुषकी टंकारको भी कोई नरेश नहीं सह सकता ॥ १२-१३ ॥

ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः।
स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ॥ १४ ॥

'उस समय मैं दुर्योधनके वशमें होनेके कारण अपने हितैषी सुहृदोंकी उन याद रखनेयोग्य बातोंको याद करूँगा, जिनका पालन मैंने पहले नहीं किया' ॥ १४ ॥

संजय उवाच

व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः।
समर्थेनापि यन्मोहात् पुत्रस्ते न निवारितः ॥ १५ ॥

संजयने कहा—राजन्! आपके द्वारा यह बहुत बड़ा अन्याय हुआ है, जिसकी आपने जान-बूझकर उपेक्षा की है। (उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की है); वह यह है कि आपने समर्थ होते हुए भी मोहवश अपने पुत्रको कभी रोका नहीं ॥

श्रुत्वा हि निर्जितान् द्यूते पाण्डवान् मधुसूदनः।
त्वरितः काम्यके पार्थान् समभावयदच्युतः ॥ १६ ॥

भगवान् मधुसूदनने ज्यों ही सुना कि पाण्डव द्यूतमें पराजित हो गये, त्यों ही वे काम्यकवनमें पहुँचकर कुन्तीपुत्रोंसे मिले और उन्हें आश्वासन दिया ॥ १६ ॥

द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
विराटो धृष्टकेतुश्च केकयाश्च महारथाः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार द्रुपदके धृष्टद्युम्न आदि पुत्र, विराट, धृष्टकेतु और महारथी कैकय—इन सबने पाण्डवोंसे भेंट की ॥ १७ ॥

तैश्च यत् कथितं राजन् दृष्ट्वा पार्थान् पराजितान्।
चारेण विदितं सर्वं तन्मयाऽऽवेदितं च ते ॥ १८ ॥

राजन्! पाण्डवोंको जूएमें पराजित देखकर उन सबने जो बातें कहीं, उन्हें गुप्तचरोंद्वारा जानकर मैंने आपकी सेवामें निवेदन कर दिया था ॥ १८ ॥

समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः।
सारथ्ये फाल्गुनस्याजौ तथेत्याह च तान् हरिः ॥ १९ ॥

पाण्डवोंने मिलकर मधुसूदन श्रीकृष्णको युद्धमें अर्जुनका सारथि होनेके लिये वरण किया और श्रीहरिने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ १९ ॥

अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तथा गतान्।
कृष्णाजिनोत्तरासंगानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी कुन्तीपुत्रोंको उस अवस्थामें काला मृगचर्म ओढ़कर आये हुए देख उस समय अमर्षमें भर गये और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ॥ २० ॥

या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह ।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा ॥२१॥

'इन्द्रप्रस्थमें कुन्तीकुमारोंके पास जो समृद्धि थी तथा राजसूय-यज्ञके समय जिसे मैंने अपनी आँखों देखा था, वह अन्य नरेशोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ थी ॥ २१ ॥

यत्र सर्वान् महीपालाञ्छस्त्रतेजोभयार्दितान् ।
सवङ्गाङ्गान् सपौण्ड्रोड्रान् सचोलद्राविडान्ध्रकान् ।२२।
सागरानूपकांश्चैव ये च प्रान्ताभिवासिनः ।
सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लङ्कानिवासिनः ।२३।
पश्चिमानि च राष्ट्राणि शतशः सागरान्तिकान् ।
पह्लवान् दरदान् सर्वान् किरातान् यवनाञ्छकान् ।२४।
हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्धवांस्तथा ।
जागुडान् रामठान् मुण्डान् स्त्रीराज्यमथ तङ्गणान् ।२५।
केकयान् मालवांश्चैव तथा काश्मीरकानपि ।
अद्राक्षमहमाहूतान् यज्ञे ते परिवेषकान् ॥२६॥

'उस समय सब भूमिपाल पाण्डवोंके शस्त्रोंके तेजसे भयभीत थे । अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, उड्र, चोल, द्राविड़, आन्ध्र, सागरतटवर्ती द्वीप तथा समुद्रके समीप निवास करनेवाले जो राजा थे, वे सभी राजसूय-यज्ञमें उपस्थित थे । सिंहल, बर्बर, म्लेच्छ, लङ्कानिवासी, पश्चिमके राष्ट्र, सागरके निकटवर्ती सैकड़ों प्रदेश, पह्लव, दरद, समस्त किरात, यवन, शक, हार-हूण, चीन, तुषार, सैन्धव, जागुड़, रामठ, मुण्ड, स्त्रीराज्य, तङ्गण, केकय, मालव तथा काश्मीरदेशके नरेश भी राजसूय-यज्ञमें बुलाये गये थे और मैंने उन सबको आपके यज्ञमें रसोई परोसते देखा था ॥ २२–२६ ॥

सा ते समृद्धिर्यैरात्ता चपला प्रतिसारिणी ।
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम् ॥२७॥

'सब ओर फैली हुई आपकी उस चञ्चल समृद्धिको जिन लोगोंने छलसे छीन लिया है, उनके प्राण लेकर भी मैं उसे पुनः वापस लाऊँगा ॥ २७ ॥

रामेण सह कौरव्य भीमार्जुनयमैस्तथा ।
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाहुकेन च ॥२८॥
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च ।
दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णं च भारत ॥२९॥
दुःशासनं सौबलेयं यश्चान्यः प्रतियोत्स्यते ।
ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन् ॥३०॥
धार्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।

'कुरुनन्दन ! भरतकुलतिलक ! बलराम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, आहुक, वीर धृष्टद्युम्न और शिशुपालपुत्र धृष्टकेतुके साथ आक्रमण करके युद्धमें दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन एवं शकुनिको तथा और जो कोई योद्धा सामना करने आयेगा, उसे भी शीघ्र ही मारकर मैं आपकी सम्पत्ति लौटा लाऊँगा । तदनन्तर आप भाइयोंसहित हस्तिनापुरमें निवास करते हुए धृतराष्ट्रकी राज्यलक्ष्मीको पाकर इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये' ॥ २८–३०½ ॥

अथैनमब्रवीद् राजा तस्मिन् वीरसमागमे ॥३१॥
शृण्वत्स्वेतेषु वीरेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च ।

तब राजा युधिष्ठिरने उस वीरसमुदायमें इन धृष्टद्युम्न आदि शूरवीरोंके सुनते हुए श्रीकृष्णसे कहा ॥ ३१½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रतिगृह्णामि ते वाचमिमां सत्यां जनार्दन ॥३२॥

युधिष्ठिर बोले—जनार्दन ! मैं आपकी सत्य वाणी शिरोधार्य करता हूँ ॥ ३२ ॥

अमित्रान् मे महाबाहो सानुबन्धान् हनिष्यसि ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव ॥३३॥
प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम् ।

महाबाहो ! केशव ! तेरहवें वर्षके बाद आप मेरे समस्त शत्रुओंको उनके बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट कीजियेगा । ऐसा करके आप मेरे सत्य (वनवासके लिये की गयी प्रतिज्ञा) की रक्षा कीजिये । मैंने राजाओंकी मण्डलीमें वनवासकी प्रतिज्ञा की है ॥ ३३½ ॥

तद् धर्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः ॥३४॥
धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते शमयामासुरञ्जसा ।
केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम् ॥३५॥

धर्मराजकी वह बात सुनकर धृष्टद्युम्न आदि सभासदोंने समयोचित मधुर वचनोंद्वारा अमर्षमें भरे हुए श्रीकृष्णको शीघ्र ही शान्त किया ॥ ३४-३५ ॥

पाञ्चालीं प्राहुरक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः ।
दुर्योधनस्तव क्रोधाद् देवि त्यक्ष्यति जीवितम् ॥३६॥

तत्पश्चात् उन्होंने क्लेशरहित हुई द्रौपदीसे भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए कहा—'देवि ! दुर्योधन तुम्हारे क्रोधसे निश्चय ही प्राण त्याग देगा ॥ ३६ ॥

प्रतिजानीमहे सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि ।
ये स्म तेऽक्षजितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा ।
मांसानि तेषां खादन्तो हरिष्यन्ति वृकद्विजाः ॥३७॥

'वरवर्णिनि ! हम यह सच्ची प्रतिज्ञा करते हैं, तुम शोक न करो । कृष्णे ! उस समय तुम्हें जूएमें जीती हुई देखकर जिन लोगोंने हँसी उड़ायी है, उनके मांस भेड़िये और गीध खायेंगे और नोच-नोचकर ले जायँगे ॥ ३७ ॥

पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रा गोमायवस्तथा ।
उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैः कृष्टासि सभातले ॥३८॥

'इसी प्रकार जिन्होंने तुम्हें सभाभवनमें घसीटा है, उनके कटे हुए सिरोंको घसीटते हुए गीध और गीदड़ उनके रक्त पीयेंगे ॥ ३८ ॥

तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि गात्राणि पृथिवीतले ।
क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चासकृत् ॥३९॥

'पाञ्चालराजकुमारि ! तुम देखोगी कि उन दुष्टोंके शरीर इस पृथ्वीपर मांसाहारी गीदड़-गीध आदि पशु-पक्षियोंद्वारा बार-बार घसीटे और खाये जा रहे हैं ॥ ३९ ॥

परिक्लिष्टासि यैस्तत्र यैश्चासि समुपेक्षिता ।
तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥४०॥

'जिन लोगोंने तुम्हें सभामें क्लेश पहुँचाया और जिन्होंने चुपचाप रहकर उस अन्यायकी उपेक्षा की है, उन सबके कटे हुए मस्तकोंका रक्त यह पृथ्वी पीयेगी' ॥ ४० ॥

एवं बहुविधा वाचस्त ऊचुर्भरतर्षभ ।
सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाहतलक्षणाः ॥४१॥

भरतकुलतिलक ! इस प्रकार उन वीरोंने अनेक प्रकारकी बातें कही थीं । वे सब-के-सब तेजस्वी और शूरवीर हैं। उनके शुभ लक्षण अमिट हैं ॥ ४१ ॥

ते धर्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात् ।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ॥४२॥

धर्मराजने तेरहवें वर्षके बाद युद्ध करनेके लिये उनका वरण किया है । वे महारथी वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे रखकर आक्रमण करेंगे ॥ ४२ ॥

रामश्च कृष्णश्च धनंजयश्च
प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ ।
माद्रीसुतौ केकयराजपुत्राः
पाञ्चालपुत्राः सह मत्स्यराज्ञा ॥४३॥

एतान् सर्वान् लोकवीरानजेयान्
महात्मनः सानुबन्धान् ससैन्यान् ।
को जीवितार्थी समरेऽभ्युदीयात्
क्रुद्धान् सिंहान् केसरिणो यथैव ॥४४॥

बलराम, श्रीकृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि, भीमसेन, नकुल, सहदेव, केकयराजकुमार, द्रुपद और उनके पुत्र तथा मत्स्यनरेश विराट—ये सब-के-सब विश्व-विख्यात अजेय वीर हैं । ये महामना जब अपने सगे-सम्बन्धियों और सेनाके साथ यात्रा करेंगे, उस समय क्रोधमें भरे हुए केसरी सिंहोंके समान उन महावीरोंका समरमें जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन पुरुष सामना करेगा ? ४३-४४

धृतराष्ट्र उवाच

यन्माब्रवीद् विदुरो द्यूतकाले
त्वं पाण्डवाञ्जेष्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो
महाभयो भविता शोणितौघः ॥४५॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जब जूआ खेला जा रहा था, उस समय विदुरने मुझसे जो यह बात कही थी कि नरेन्द्र ! यदि आप पाण्डवोंको जूएमें जीतेंगे तो निश्चय ही यह कौरवोंके लिये खूनकी धारासे भरा हुआ अत्यन्त भयंकर विनाश-काल होगा ॥ ४५ ॥

मन्ये तथा तद् भवितेति सूत
यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम् ।
असंशयं भविता युद्धमेतद्
गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ॥ ४६ ॥

सूत ! विदुरने पहले जो बात कही थी, वह अवश्य ही उसी प्रकार होगी, ऐसा मेरा विश्वास है । वनवासका समय व्यतीत होनेपर पाण्डवोंके कथनानुसार यह घोर युद्ध होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(नलोपाख्यानपर्व)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेन-युधिष्ठिर-संवाद, बृहदश्वका आगमन तथा युधिष्ठिरके पूछनेपर बृहदश्वके द्वारा नलोपाख्यानकी प्रस्तावना

जनमेजय उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि।
आवसन् कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा--राजन्! अस्त्रविद्याके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक जानेपर भरतकुलभूषण पाण्डव द्रौपदीके साथ काम्यकवनमें निवास करने लगे॥ २॥

ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले।
दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया॥ ३॥
धनंजयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः।
तद्वियोगार्दितान् सर्वाञ्छोकः समभिपुप्लुवे॥ ४॥

तदनन्तर एक दिन एकान्त एवं पवित्र स्थानमें, जहाँ छोटी-छोटी हरी दूर्वा आदि घास उगी हुई थी, वे भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष दुःखसे पीड़ित हो द्रौपदीके साथ बैठे और धनंजय अर्जुनके लिये चिन्ता करते हुए अत्यन्त दुःखमें भरे अश्रुगद्गद कण्ठसे उन्हींकी बातें करने लगे। अर्जुनके वियोगसे पीड़ित उन समस्त पाण्डवोंको शोक-सागरने अपनी लहरोंमें डुबो दिया॥ ३-४॥

धनंजयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ५॥

पाण्डव राज्य छिन जानेसे तो दुखी थे ही। अर्जुनके विरहसे वे और भी क्लेशमें पड़ गये थे। उस समय महाबाहु भीमने युधिष्ठिरसे कहा--॥ ५॥

निदेशात् ते महाराज गतोऽसौ भरतर्षभः।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन् प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥ ६॥

'महाराज! आपकी आज्ञासे भरतवंशका रत्न अर्जुन तपस्याके लिये चला गया। हम सब पाण्डवोंके प्राण उसीमें बसते हैं॥ ६॥

यस्मिन् विनष्टे पाञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम्।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न संशयः॥ ७॥

'यदि कहीं अर्जुनका नाश हुआ तो पुत्रोंसहित पाञ्चाल, हम पाण्डव, सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण--ये सब-के-सब नष्ट हो जायँगे॥ ७॥

योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन्।
भवन्नियोगाद् बीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम्॥ ८॥

'जो धर्मात्मा अर्जुन अनेक प्रकारके क्लेशोंका चिन्तन करते हुए आपकी आज्ञासे तपस्याके लिये गया, उससे बढ़कर दुःख और क्या होगा!॥ ८॥

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम्॥ ९॥

'जिस महापराक्रमी अर्जुनके बाहुबलका आश्रय लेकर हम संग्राममें शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई समझते हैं॥ ९॥

यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मतः।
नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः॥ १०॥

'जिस धनुर्धर वीरके प्रभावसे प्रभावित होकर मैंने सभामें शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्रपुत्रोंको तुरंत ही यमलोक नहीं भेज दिया॥ १०॥

ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः॥ ११॥

'हम सब लोग बाहुबलसे सम्पन्न हैं और भगवान् वासुदेव हमारे रक्षक हैं तो भी हम आपके कारण अपने उठे हुए क्रोधको चुपचाप सह लेते हैं॥ ११॥

वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान् परान्।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम्॥ १२॥

'भगवान् श्रीकृष्णके साथ हमलोग कर्ण आदि शत्रुओंको मारकर अपने बाहुबलसे जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं॥ १२॥

भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः॥ १३॥

'आपके जूएके दोषसे हमलोग पुरुषार्थयुक्त होकर भी दीन बन गये हैं और वे मूर्ख दुर्योधन आदि भेंटमें मिले हुए हमारे धनसे सम्पन्न हो इस समय अधिक बलशाली बन गये हैं॥ १३॥

क्षात्रं धर्मं महाराज त्वमवेक्षितुमर्हसि।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः॥ १४॥

'महाराज! आप क्षत्रियधर्मकी ओर तो देखिये। इस प्रकार वनमें रहना कदापि क्षत्रियोंका धर्म नहीं है॥ १४॥

राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः।
स क्षत्रधर्मविद् राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः॥ १५॥

'विद्वानोंने राज्यको ही क्षत्रियका सर्वोत्तम धर्म माना है। आप क्षत्रियधर्मके ज्ञाता नरेश हैं। धर्मके मार्गसे विचलित न होइये॥ १५॥

प्राग् द्वादशसमा राजन् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि।
निवर्त्य च वनात् पार्थमानाय्य च जनार्दनम्॥ १६॥

'राजन्! हमलोग बारह वर्ष बीतनेके पहले ही अर्जुनको वनसे लौटाकर और भगवान् श्रीकृष्णको बुलाकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार कर सकते हैं॥ १६॥

व्यूढानीकान् महाराज जवेनैव महामते।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशाम्पते॥ १७॥

सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान् ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वान्यः प्रतियोत्स्यते ॥ १८ ॥

'महाराज ! महामते ! धृतराष्ट्रके पुत्र कितनी ही सेनाओंकी मोर्चाबन्दी क्यों न कर लें, हम उन्हें शीघ्र यमलोकका पथिक बनाकर ही छोड़ेंगे । मैं स्वयं ही शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मार डालूँगा । दुर्योधन, कर्ण अथवा दूसरा जो कोई योद्धा मेरा सामना करेगा, उसे भी अवश्य मारूँगा ॥ १७-१८ ॥

मया प्रशमिते पश्चात् त्वमेष्यसि वनात् पुनः ।
एवं कृते न ते दोषा भविष्यन्ति विशाम्पते ॥ १९ ॥

'मेरे द्वारा शत्रुओंका संहार हो जानेपर आप फिर तेरह वर्षके बाद वनसे चले आइयेगा । प्रजानाथ ! ऐसा करनेपर आपको दोष नहीं लगेगा ॥ १९ ॥

यज्ञैश्च विविधैस्तात कृतं पापमरिंदम ।
अवधूय महाराज गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ॥ २० ॥

'तात ! शत्रुदमन ! महाराज ! हम नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके अपने किये हुए पापको धो-बहाकर उत्तम स्वर्गलोकमें चलेंगे ॥ २० ॥

एवमेतद् भवेद् राजन् यदि राजा न बालिशः ।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद् भवान् धर्मपरायणः ॥ २१ ॥

'राजन् ! यदि ऐसा हो तो आप हमारे धर्मपरायण राजा अविवेकी और दीर्घसूत्री नहीं समझे जायँगे ॥ २१ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥ २२ ॥

'शठता करने या जाननेवाले शत्रुओंको शठताके द्वारा ही मारना चाहिये; यह एक सिद्धान्त है । जो स्वयं दूसरोंपर छल-कपटका प्रयोग करता है, उसे छलसे भी मार डालनेमें पाप नहीं बताया गया है ॥ २२ ॥

तथा भारत धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते ।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं संवत्सरेण ह ॥ २३ ॥

'भरतवंशी महाराज ! धर्मशास्त्रमें इसी प्रकार धर्मपरायण धर्मज्ञ पुरुषोंद्वारा वहाँ एक दिन-रात एक संवत्सरके समान देखा जाता है ॥ २३ ॥

तथैव वेदवचनं श्रूयते नित्यदा विभो ।
संवत्सरो महाराज पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ॥ २४ ॥

'प्रभो ! महाराज ! इसी प्रकार सदा यह वैदिक वचन सुना जाता है कि कृच्छ्रव्रतके अनुष्ठानसे एक वर्षकी पूर्ति हो जाती है ॥ २४ ॥

यदि वेदाः प्रमाणास्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत ।
त्रयोदश समाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥ २५ ॥

'अच्युत ! यदि आप वेदको प्रमाण मानते हैं तो तेरह दिनके बाद ही तेरह वर्षोंका समय बीत गया, ऐसा समझ लीजिये ॥ २५ ॥

कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिंदम ।
एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन् करोति सः ॥ २६ ॥

'शत्रुदमन ! यह दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालनेका अवसर आया है । राजन् ! वह सारी पृथ्वीको जबतक एक सूत्रमें बाँध ले, उसके पहले ही यह कार्य कर लेना चाहिये ॥

द्यूतप्रियेण राजेन्द्र तथा तद् भवता कृतम् ।
प्रायेणाज्ञातचर्यायां वयं सर्वे निपातिताः ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र ! जूएके खेलमें आसक्त होकर आपने ऐसा अनर्थ कर डाला कि प्रायः हम सब लोगोंको अज्ञातवासके संकटमें लाकर पटक दिया ॥ २७ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र सोऽस्मान् सुदुर्जनः ।
न विज्ञास्यति दुष्टात्मा चारैरिति सुयोधनः ॥ २८ ॥
अधिगम्य च सर्वान् नो वनवासमिमं ततः ।
प्रव्राजयिष्यति पुनर्निकृत्याधमपूरुषः ॥ २९ ॥

'मैं ऐसा कोई देश या स्थान नहीं देखता, जहाँ अत्यन्त दुष्टचित्त, दुरात्मा दुर्योधन अपने गुप्तचरोंद्वारा हमलोगोंका पता न लगा ले । वह नीच नराधम हम सब लोगोंका गुप्त निवास जान लेनेपर पुनः अपनी कपटपूर्ण नीतिद्वारा हमें इस वनवासमें ही डाल देगा ॥ २८-२९ ॥

यद्यस्मानभिगच्छेत पापः स हि कथंचन ।
अज्ञातचर्यामुत्तीर्णान् दृष्ट्वा च पुनराह्वयेत् ॥ ३० ॥

'यदि वह पापी किसी प्रकार यह समझ ले कि हम अज्ञातवासकी अवधि पार कर गये हैं, तो वह उस दशामें हमें देखकर पुनः आपको ही जूआ खेलनेके लिये बुलायेगा ॥ ३० ॥

द्यूतेन ते महाराज पुनर्द्यूतमवर्तत ।
भवांश्च पुनराहूतो द्यूते नैवापनेष्यति ॥ ३१ ॥

'महाराज ! आप एक बार जूएके संकटसे बचकर दुबारा द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये थे, अतः मैं समझता हूँ, यदि पुनः आपका द्यूतके लिये आवाहन हो तो आप उससे पीछे न हटेंगे ३१

स तथाक्षेषु कुशलो निश्चितो गतचेतनः ।
चरिष्यसि महाराज वनेषु वसतीः पुनः ॥ ३२ ॥

'नरेश्वर ! वह विवेकशून्य शकुनि जूआ फेंकनेकी कलामें कितना कुशल है, यह आप अच्छी तरह जानते हैं, फिर तो उसमें हारकर आप पुनः वनवास ही भोगेंगे ॥ ३२ ॥

यद्यस्मान् सुमहाराज कृपणान् कर्तुमर्हसि ।
यावज्जीवमवेक्षस्व वेदधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥ ३३ ॥

'महाराज ! यदि आप हमें दीन, हीन, कृपण ही बनाना चाहते हैं तो जबतक जीवन है, तबतक सम्पूर्ण वेदोक्त धर्मोंके पालनपर ही दृष्टि रखिये ॥ ३३ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो हन्तव्य इति निश्चयः ।
अनुज्ञातस्त्वया गत्वा यावच्छक्ति सुयोधनम् ॥ ३४ ॥
यथैव कक्षमुत्सृष्टो दहेदनिलसारथिः ।
हनिष्यामि तथा मन्दमनुजानातु मे भवान् ॥ ३५ ॥

'अपना निश्चय तो यही है कि कपटीको कपटसे ही मारना चाहिये। यदि आपकी आज्ञा हो तो जैसे तृणकी राशिमें डाली हुई आग हवाका सहारा पाकर उसे भस्म कर डालती है, वैसे ही मैं जाकर अपनी शक्तिके अनुसार उस मूढ दुर्योधनका वध कर डालूँ; अतः आप मुझे आज्ञा दीजिये ॥ ३४-३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच सान्त्वयन् राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।३६।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज राजा युधिष्ठिरने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेनका मस्तक सूँघकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ ३६ ॥

असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम् ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥ ३७ ॥

'महाबाहो! इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि तुम तेरहवें वर्षके बाद गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ जाकर युद्धमें सुयोधनको मार डालोगे ॥ ३७ ॥

यत् त्वमाभापसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो ।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मम विद्यते ॥ ३८ ॥

'किंतु शक्तिशाली वीर कुन्तीकुमार! तुम जो यह कहते हो कि सुयोधनके वधका अवसर आ गया है, वह ठीक नहीं है। मैं झूठ नहीं बोल सकता, मुझमें यह आदत नहीं है ॥

अन्तरेणापि कौन्तेय निकृतिं पापनिश्चयम् ।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ॥ ३९ ॥

'कुन्तीनन्दन! तुम दुर्धर्ष वीर हो, छल-कपटका आश्रय लिये बिना भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले सुयोधनको सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट कर सकते हो' ॥ ३९ ॥

एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥ ४० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर जब भीमसेनसे ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महाभाग महर्षि बृहदश्व वहाँ आ पहुँचे ॥ ४० ॥

तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा सम्प्राप्तं धर्मचारिणम् ।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने धर्मानुष्ठान करनेवाले उन महात्माको आया देख शास्त्रीय विधिके अनुसार मधुपर्कद्वारा उनका पूजन किया ॥ ४१ ॥

आश्वस्तं चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ॥ ४२ ॥

जब वे आसनपर बैठकर थकावटसे निवृत्त हो [चुके] अर्थात् विश्राम कर चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उनके [पास] ही बैठकर उन्हींकी ओर देखते हुए अत्यन्त दीनतापूर्ण वचन बोले—॥ ४२ ॥

अक्षद्यूते च भगवन् धनं राज्यं च मे हृतम् ।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥ ४३ ॥

'भगवन्! पासे फेंककर खेले जानेवाले जूएके लिये मुझे बुलाकर छल-कपटमें कुशल तथा पासा डालनेकी कलामें निपुण धूर्त जुआरियोंने मेरे सारे धन तथा राज्यका अपहरण कर लिया है ॥ ४३ ॥

अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः ।
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥४४॥

'मैं जूएका मर्मज्ञ नहीं हूँ। फिर भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले उन दुष्टोंके द्वारा मेरी प्राणोंसे भी अधिक गौरवशालिनी पत्नी द्रौपदी केश पकड़कर भरी सभामें लायी गयी ॥ ४४ ॥

पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम् ।
प्राव्राजयन् महारण्यमजिनैः परिवारितम् ॥ ४५ ॥

'एक बार जूएके संकटसे बच जानेपर पुनः द्यूतका आयोजन करके उन्होंने मुझे जीत लिया और मृगचर्म पहिनाकर वनवासका अत्यन्त दारुण कष्ट भोगनेके लिये इस महान् वनमें निर्वासित कर दिया ॥ ४५ ॥

अहं वने दुर्वसतीर्वसन् परमदुःखितः ।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन् सुदारुणाः ॥ ४६ ॥
आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् ।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥४७॥

'मैं अत्यन्त दुखी हो बड़ी कठिनाईसे वनमें निवास करता हूँ। जिस सभामें जूआ खेलनेका आयोजन किया गया था, वहाँ प्रतिपक्षी पुरुषोंके मुखसे मुझे अत्यन्त कठोर बातें सुननी पड़ी हैं। इसके सिवा द्यूत आदि कार्योंका उल्लेख करते हुए मेरे दुःखातुर सुहृदोंने जो संतापसूचक बातें कही हैं, वे सब मेरे हृदयमें स्थित हैं। मैं उन सब बातोंको याद करके सारी रात चिन्तामें निमग्न रहता हूँ ॥ ४६-४७ ॥

यस्मिंश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि ।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाभवम् ॥ ४८ ॥

'इधर जिस गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनमें हम सबके प्राण बसते हैं, वह भी हमसे अलग है। महात्मा अर्जुनके बिना मैं निष्प्राण-सा हो गया हूँ ॥ ४८ ॥

कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम् ।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितः ॥ ४९ ॥

'मैं सदा निरालस्य भावसे यही सोचा करता हूँ कि श्रेष्ठ

दयालु और प्रियवादी अर्जुन कब अस्त्रविद्या सीखकर फिर यहाँ आयेगा और मैं उसे भर आँख देखूँगा ॥ ४९ ॥

अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित् ।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥ ५० ॥

'क्या मेरे-जैसा अत्यन्त भाग्यहीन राजा इस पृथ्वीपर कोई दूसरा भी है ? अथवा आपने कहीं मेरे-जैसे किसी राजाको पहले कभी देखा या सुना है । मेरा तो यह विश्वास है कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त दुखी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है' ॥

बृहदश्व उवाच

यद् ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित् ।
अल्पभाग्यतरः कश्चित् पुमानस्तीति पाण्डव ॥ ५१ ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ॥ ५२ ॥

बृहदश्व बोले—महाराज पाण्डुनन्दन ! तुम जो यह कह रहे हो कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त भाग्यहीन कोई पुरुष कहीं भी नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा । अनघ ! पृथ्वीपते ! यदि तुम सुनना चाहो तो मैं उस व्यक्तिका परिचय दूँगा, जो इस पृथ्वीपर तुमसे भी अधिक दुखी राजा था ॥ ५१-५२ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथैनमब्रवीद् राजा ब्रवीतु भगवानिति ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने मुनिसे कहा—'भगवन् ! अवश्य कहिये । जो मेरी-जैसी संकटपूर्ण स्थितिमें पहुँचा हुआ हो, उस राजाका चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ' ॥ ५३ ॥

बृहदश्व उवाच

शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ॥ ५४ ॥

बृहदश्वने कहा—राजन् ! अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले भूपाल ! तुम भाइयोंसहित सावधान होकर सुनो । इस पृथ्वीपर जो तुमसे भी अधिक दुखी राजा था, उसका परिचय देता हूँ ॥ ५४ ॥

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः ।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ॥ ५५ ॥

निषधदेशमें वीरसेन नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल हो गये हैं । उन्हींके पुत्रका नाम नल था । जो धर्म और अर्थके तत्त्वज्ञ थे ॥ ५५ ॥

स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम् ।
वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत् सह ॥ ५६ ॥

हमने सुना है कि राजा नलको उनके भाई पुष्करने छलसे ही जूएके द्वारा जीत लिया था और वे अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अपनी पत्नीके साथ वनवासका दुःख भोगने लगे थे ॥ ५६ ॥

न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः ।
वने निवसतो राजञ्छिष्यन्ते स्म कदाचन ॥ ५७ ॥

राजन् ! उनके साथ न सेवक थे न रथ, न भाई थे न बान्धव । वनमें रहते समय उनके पास ये वस्तुएँ कदापि शेष नहीं थीं ॥

भवान् हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसम्मितैः ।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ॥ ५८ ॥

तुम तो देवतुल्य पराक्रमी वीर भाइयोंसे घिरे हुए हो । ब्रह्माजीके समान तेजस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण तुम्हारे चारों ओर बैठे हुए हैं । अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः ।
चरितं वदतां श्रेष्ठ तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुने ! मैं उत्तम महामना राजा नलका चरित्र विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ । आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वयुधिष्ठिरसंवादविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नल-दमयन्तीके गुणोंका वर्णन, उनका परस्पर अनुराग और हंसका दमयन्ती और नलको एक दूसरेके संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

आसीद् राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली ।
उपपन्नो गुणैरिष्टै रूपवानश्वकोविदः ॥ १ ॥

बृहदश्वने कहा—धर्मराज ! निषधदेशमें वीरसेनके पुत्र नल नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा हो गये हैं । वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न, रूपवान् और अश्वसंचालनकी कलामें कुशल थे ॥ १ ॥

अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा ।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यो वेदविच्छूरो निषधेषु महीपतिः ।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणीपतिः ॥ ३ ॥

जैसे देवराज इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके शिरमौर हैं, उसी प्रकार राजा नलका स्थान समस्त राजाओंके ऊपर था। वे तेजमें भगवान् सूर्यके समान सर्वोपरि थे। निषध देशके महाराज नल बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, शूरवीर, द्यूत-क्रीड़ाके प्रेमी, सत्यवादी, महान् और एक अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे ॥ २-३ ॥

ईप्सितो वरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः ।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ॥ ४ ॥

वे श्रेष्ठ स्त्रियोंको प्रिय थे और उदार, जितेन्द्रिय, प्रजाजनोंके रक्षक तथा साक्षात् मनुके समान धनुर्धरोंमें उत्तम थे ॥४॥

तथैवासीद् विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः ।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार उन दिनों विदर्भदेशमें भयानक पराक्रमी भीम नामक राजा राज्य करते थे। वे शूरवीर और सर्वसद्गुणसम्पन्न थे। उन्हें कोई संतान नहीं थी। अतः संतान-प्राप्तिकी कामना उनके हृदयमें सदा बनी रहती थी ॥ ५ ॥

स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत् सुसमाहितः ।
तमभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ॥ ६ ॥

भारत ! राजा भीमने अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर संतान-प्राप्तिके लिये महान् प्रयत्न किया। उन्हीं दिनों उनके यहाँ दमन नामक ब्रह्मर्षि पधारे ॥ ६ ॥

तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित् ।
महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्चसम् ॥ ७ ॥
तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान् महायशाः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! धर्मज्ञ तथा संतानकी इच्छावाले उस भीमने अपनी रानीसहित उन महातेजस्वी मुनिको पूर्ण सत्कार करके संतुष्ट किया। महायशस्वी दमन मुनिने प्रसन्न होकर पत्नी-सहित राजा भीमको एक कन्या और तीन उदार पुत्र प्रदान किये ॥ ७-८ ॥

दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम् ।
उपपन्नान् गुणैः सर्वैर्भीमान् भीमपराक्रमान् ॥ ९ ॥

कन्याका नाम था दमयन्ती और पुत्रोंके नाम थे—दम, दान्त तथा दमन। ये सभी बड़े तेजस्वी थे। राजाके तीनों पुत्र गुणसम्पन्न, भयंकर वीर और भयानक पराक्रमी थे ।९।

दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येन च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ॥ १० ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली दमयन्ती रूप, तेज, यश, और सौभाग्यके द्वारा तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्विनी हु[ई] ॥

अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलंकृताम् ।
शतं शतं सखीनां च पर्युपासच्छचीमिव ॥ ११ ॥

जब उसने युवावस्थामें प्रवेश किया, उस समय दासियाँ और सौ सखियाँ वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो उसकी सेवामें उपस्थित रहती थीं। मानो देवाङ्गनाएँ श[ची] की उपासना करती हों ॥ ११ ॥

तत्र स्म राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामनी यथा ॥ १२ ॥

अनिन्द्य सुन्दर अङ्गोंवाली भीमकुमारी दमयन्ती [सब] प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंकी मण्डलीमें वै[सी] ही शोभा पाती थी, जैसे मेघमालाके बीच विद्युत् प्रका[शित] हो रही हो ॥ १२ ॥

अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवायतलोचना ।
न देवेषु न यक्षेषु तादृग् रूपवती क्वचित् ॥ १३ ॥

वह लक्ष्मीके समान अत्यन्त सुन्दर रूपसे सुशोभित थी। उसके नेत्र विशाल थे। देवताओं और यक्षोंमें भी वैसी सुन्द[री] कन्या कहीं देखनेमें नहीं आती थी ॥ १३ ॥

मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वाथवा श्रुता ।
चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ॥ १४ ॥

मनुष्यों तथा अन्य वर्गके लोगोंमें भी वैसी सुन्दरी पहले न तो कभी देखी गयी थी और न सुननेमें ही आयी थी। उस बालाको देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता था। वह देववर्गमें भी श्रेष्ठ सुन्दरी समझी जाती थी ॥ १४ ॥

नलश्च नरशार्दूलो लोकेष्वप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ॥ १५ ॥

नरश्रेष्ठ नल भी इस भूतलके मनुष्योंमें अनुपम सुन्दर थे। उनका रूप देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो नलके आकारमें स्वयं मूर्तिमान् कामदेव ही उत्पन्न हुआ हो ॥१५॥

तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ॥ १६ ॥

लोग कौतूहलवश दमयन्तीके समीप नलकी प्रशंसा करते थे और निषधराज नलके निकट बार-बार दमयन्तीके सौन्दर्यकी सराहना किया करते थे ॥ १६ ॥

तयोरदृष्टः कामोऽभूच्छृण्वतोः सततं गुणान् ।
अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत हृच्छयः ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार निरन्तर एक दूसरेके गुणोंको सुनते-सुनते उन दोनोंमें बिना देखे ही परस्पर काम (अनुराग) उत्पन्न हो गया। उनकी वह कामना दिन-दिन बढ़ती ही चली गयी ॥ १७ ॥

अशक्नुवन् नलः कामं तदा धारयितुं हृदा ।
अन्तःपुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ॥ १८ ॥

जब राजा नल उस कामवेदनाको हृदयके भीतर छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गये, तब वे अन्तःपुरके समीपवर्ती उपवनमें जाकर एकान्तमें बैठ गये ॥ १८ ॥

स ददर्श ततो हंसान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ॥ १९ ॥

इतनेहीमें उनकी दृष्टि कुछ हंसोंपर पड़ी, जो सुवर्णमय पंखोंसे विभूषित थे। वे उसी उपवनमें विचर रहे थे। राजाने उनमेंसे एक हंसको पकड़ लिया ॥ १९ ॥

ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा ।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम् ॥ २० ॥

तब आकाशचारी हंसने उस समय नलसे कहा—'राजन्! आप मुझे न मारें। मैं आपका प्रिय कार्य करूँगा ॥ २० ॥

दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध ।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥

'निषधनरेश ! मैं दमयन्तीके निकट आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे वह आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें कभी स्थान न देगी' ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः ।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ॥ २२ ॥

हंसके ऐसा कहनेपर राजा नलने उसे छोड़ दिया। फिर वे हंस वहाँसे उड़कर विदर्भ देशमें गये ॥ २२ ॥

विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदान्तिके ।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्श च तान् खगान् ॥ २३ ॥

तब विदर्भनगरीमें जाकर वे सभी हंस दमयन्तीके निकट उतरे। दमयन्तीने भी उन अद्भुत पक्षियोंको देखा ॥ २३ ॥

सा तानद्भुतरूपान् वै दृष्ट्वा सखिगणावृता ।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ॥ २४ ॥

सखियोंसे घिरी हुई राजकुमारी दमयन्ती उन अपूर्व पक्षियोंको देखकर बहुत प्रसन्न हुई और तुरंत ही उन्हें पकड़नेकी चेष्टा करने लगी ॥ २४ ॥

अथ हंसा विससृपुः सर्वतः प्रमदावने ।
एकैकशस्तदा कन्यास्तान् हंसान् समुपाद्रवन् ॥ २५ ॥

तब हंस उस प्रमदावनमें सब ओर विचरण करने लगे। उस समय सभी राजकन्याओंने एक-एक करके उन सभी हंसोंका पीछा किया ॥ २५ ॥

दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके ।
स मानुषीं गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥ २६ ॥

दमयन्ती जिस हंसके निकट दौड़ रही थी, उसने उससे मानवी वाणीमें कहा—॥ २६ ॥

दमयन्ति नलो नाम निषधेषु महीपतिः ।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ॥ २७ ॥

'राजकुमारी दमयन्ती ! सुनो, निषधदेशमें नल नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो अश्विनीकुमारोंके समान सुन्दर हैं। मनुष्योंमें तो कोई उनके समान है ही नहीं ॥ २७ ॥

कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ।
तस्य वै यदि भार्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि ॥ २८ ॥
सफलं ते भवेज्जन्म रूपं चेदं सुमध्यमे ।
वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान् ॥ २९ ॥
दृष्टवन्तो न चास्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविधः ।
त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वरः ॥ ३० ॥
विशिष्टया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत् ।

'सुन्दरि ! रूपकी दृष्टिसे तो वे मानो स्वयं मूर्तिमान् कामदेव-से ही प्रतीत होते हैं। सुमध्यमे ! यदि तुम उनकी पत्नी हो जाओ तो तुम्हारा जन्म और यह मनोहर रूप सफल हो जाय। हमलोगोंने देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा

राक्षसोंको भी देखा है; परंतु हमारी दृष्टिमें अबतक उनके-जैसा कोई भी पुरुष पहले कभी नहीं आया है। तुम रमणियों-में रत्नस्वरूपा हो और नल पुरुषोंके मुकुटमणि हैं। यदि किसी विशिष्ट नारीका विशिष्ट पुरुषके साथ संयोग हो तो वह विशेष गुणकारी होता है ॥२८-३०½॥

एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशांपते ॥ ३१ ॥
अब्रवीत् तत्र तं हंसं त्वमप्येवं नले वद ।

तथेत्युक्त्वाण्डजः कन्यां विदर्भस्य विशाम्पते ।
पुनरागम्य निषधान् नले सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

राजन्! हंसके इस प्रकार कहनेपर दमयन्तीने उससे कहा—'पक्षिराज! तुम नलके निकट भी ऐसी ही बातें कहना'। राजन्! विदर्भराजकुमारी दमयन्तीसे 'तथास्तु' कहकर वह हंस पुनः निषधदेशमें आया और उसने नलसे सब बातें निवेदन कीं ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि हंसदमयन्तीसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें हंसदमयन्तीसंवादविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वर्गमें नारद और इन्द्रकी बातचीत, दमयन्तीके स्वयंवरके लिये राजाओं तथा लोकपालोंका प्रस्थान

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत ।
ततः प्रभृति न स्वस्था नलं प्रति बभूव सा ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—भारत! दमयन्तीने जबसे हंसकी बातें सुनीं, तबसे राजा नलके प्रति अनुरक्त हो जानेके कारण वह अस्वस्थ रहने लगी ॥ १ ॥

ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा ।
बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमा तदा ॥ २ ॥

तदनन्तर उसके मनमें सदा चिन्ता बनी रहती थी। स्वभावमें दैन्य आ गया। चेहरेका रंग फीका पड़ गया और दमयन्ती दिन-दिन दुबली होने लगी। उस समय वह प्रायः लम्बी साँसें खींचती रहती थी ॥ २ ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना ।
पाण्डुवर्णा क्षणेनाथ हृच्छयाविष्टचेतना ॥ ३ ॥

ऊपरकी ओर निहारती हुई सदा नलके ध्यानमें परायण रहती थी। देखनेमें उन्मत्त-सी जान पड़ती थी। उसका शरीर पाण्डुवर्णका हो गया। कामवेदनाकी अधिकतासे उसकी चेतना क्षण-क्षणमें विलुप्त-सी हो जाती थी ॥ ३ ॥

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
न नक्तं न दिवा शेते हाहेति रुदती पुनः ॥ ४ ॥

उसकी शय्या, आसन तथा भोग-सामग्रियोंमें कहीं भी प्रीति नहीं होती थी। वह न तो रातमें सोती और न दिनमें ही। बारंबार 'हाय-हाय' करके रोती ही रहती थी ॥ ४ ॥

तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जज्ञुरिङ्गितैः ।
ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीजनः ॥ ५ ॥
न्यवेदयत् तामस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वरे ।
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीं सखीगणात् ॥ ६ ॥
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् स्वां सुतां प्रति ।
किमर्थं दुहिता मेऽद्य नातिस्वस्थेव लक्ष्यते ॥ ७ ॥

उसकी वैसी आकृति और अस्वस्थ-अवस्थाका क्या कारण है, यह सखियोंने संकेतसे जान लिया। तदनन्तर दमयन्तीकी सखियोंने विदर्भनरेशको उसकी उस अस्वस्थ अवस्थाके विषयमें सूचना दी। सखियोंके मुखसे दमयन्तीके विषयमें वैसी बात सुनकर राजा भीमने बहुत सोचा-विचारा, परंतु अपनी पुत्रीके लिये कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य उन्हें नहीं सूझ पड़ा। वे सोचने लगे कि 'क्यों मेरी पुत्री आजकल स्वस्थ नहीं दिखायी देती है?'॥ ५-७ ॥

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम्।
अपश्यदात्मना कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम्॥ ८॥

राजाने बहुत सोचने-विचारनेके बाद यह निश्चय किया कि मेरी पुत्री अब युवावस्थामें प्रवेश कर चुकी, अतः दमयन्तीके लिये स्वयंवर रचाना ही उन्हें अपना विशेष कर्तव्य दिखायी दिया॥ ८॥

स संनिमन्त्रयामास महीपालान् विशाम्पतिः।
एषोऽनुभूयतां वीराः स्वयंवर इति प्रभो॥ ९॥

राजन्! विदर्भनरेशने सब राजाओंको इस प्रकार निमन्त्रित किया—'वीरो! मेरे यहाँ कन्याका स्वयंवर है। आपलोग पधारकर इस उत्सवका आनन्द लें'॥ ९॥

श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
अभिजग्मुस्ततो भीमं राजानो भीमशासनात्॥ १०॥
हस्त्यश्वरथघोषेण पूरयन्तो वसुन्धराम्।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः॥ ११॥

दमयन्तीका स्वयंवर होने जा रहा है, यह सुनकर सभी नरेश विदर्भराज भीमके आदेशसे हाथी, घोड़ों तथा रथोंकी तुमुल ध्वनिसे पृथ्वीको गुँजाते हुए उनकी राजधानीमें गये। उस समय उनके साथ विचित्र माला एवं आभूषणोंसे विभूषित बहुत-से सैनिक देखे जा रहे थे॥ १०-११॥

तेषां भीमो महाबाहुः पार्थिवानां महात्मनाम्।
यथार्हमकरोत् पूजां तेऽवसंस्तत्र पूजिताः॥ १२॥

महाबाहु राजा भीमने वहाँ पधारे हुए उन महामना नरेशोंका यथायोग्य पूजन किया। तत्पश्चात् वे उनसे पूजित हो वहीं रहने लगे॥ १२॥

एतस्मिन्नेव काले तु सुराणामृषिसत्तमौ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ॥ १३॥
नारदः पर्वतश्चैव महाप्राज्ञौ महाव्रतौ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ॥ १४॥

इसी समय देवर्षिप्रवर महान् व्रतधारी महाप्राज्ञ नारद और पर्वत दोनों महात्मा इधरसे घूमते हुए इन्द्रलोकमें गये। वहाँ उन्होंने देवराजके भवनमें प्रवेश किया। उस भवनमें उनका विशेष आदर-सत्कार एवं पूजन किया गया॥ १३-१४॥

तावर्चयित्वा मघवा ततः कुशलमव्ययम्।
पप्रच्छानामयं चापि तयोः सर्वगतं विभुः॥ १५॥

उन दोनोंकी पूजा करके भगवान् इन्द्रने उनसे उन दोनोंके तथा सम्पूर्ण जगत्के कुशल-मङ्गल एवं स्वस्थताका समाचार पूछा॥ १५॥

नारद उवाच

आवयोः कुशलं देव सर्वत्रगतमीश्वर।
लोके च मघवन् कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो॥ १६॥

तब नारदजीने कहा—प्रभो! देवेश्वर! हमलोगोंकी सर्वत्र कुशल है और समस्त लोकमें भी राजालोग सकुशल हैं॥ १६॥

बृहदश्व उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः॥ १७॥
शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक्॥ १८॥

बृहदश्व कहते हैं—राजन्! नारदकी बात सुनकर बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रने उनसे पूछा—'मुने! जो धर्मज्ञ भूपाल अपने प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते हैं और पीठ न दिखाकर लड़ते समय किसी शस्त्रके आघातसे मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनके लिये हमारा यह स्वर्गलोक अक्षय हो जाता है और मेरी ही तरह उन्हें भी यह मनोवाञ्छित भोग प्रदान करता है॥ १७-१८॥

क्व नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम्।
आगच्छतो महीपालान् दयितानतिथीन् मम॥ १९॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत।

'वे शूरवीर क्षत्रिय कहाँ हैं? अपने उन प्रिय अतिथियों-को आजकल मैं यहाँ आते नहीं देख रहा हूँ' इन्द्रके ऐसा पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया॥ १९½॥

नारद उवाच

शृणु मे मघवन् येन न दृश्यन्ते महीक्षितः॥ २०॥
विदर्भराज्ञो दुहिता दमयन्तीति विश्रुता।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः॥ २१॥

नारद बोले—मघवन्! मैं वह कारण बताता हूँ, जिससे राजालोग आजकल यहाँ नहीं दिखायी देते, सुनिये। विदर्भनरेश भीमके यहाँ दमयन्ती नामसे प्रसिद्ध एक कन्या उत्पन्न हुई है, जो मनोहर रूप-सौन्दर्यमें पृथ्वीकी सम्पूर्ण युवतियोंको लाँघ गयी है॥ २०-२१॥

तस्याः स्वयंवरः शक्र भविता न चिरादिव।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः॥ २२॥

इन्द्र! अब शीघ्र ही उसका स्वयंवर होनेवाला है, उसीमें सब राजा तथा राजकुमार जा रहे हैं॥ २२॥

तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिषूदन॥ २३॥

बल और वृत्रासुरके नाशक इन्द्र! दमयन्ती सम्पूर्ण जगत्का एक अद्भुत रत्न है। इसलिये सब राजा उसे पानेकी विशेष अभिलाषा रखते हैं॥ २३॥

एतस्मिन् कथ्यमाने तु लोकपालाश्च साग्निकाः।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः॥ २४॥

कथं तु जातसंकल्पः स्त्रियमुत्सृजते पुमान्।
परार्थमीदृशं वक्तुं तत् क्षमन्तु महेश्वराः ॥ ८ ॥

'देवेश्वरो ! जिसके मनमें किसी स्त्रीको प्राप्त करनेका संकल्प हो गया है, वह पुरुष उसी स्त्रीको दूसरेके लिये कैसे छोड़ सकता है ? अतः आपलोग ऐसी बात कहनेके लिये मुझे क्षमा करें' ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध।
न करिष्यसि कस्मात् त्वं व्रज नैषध मा चिरम् ॥ ९ ॥

देवताओंने कहा—निषधनरेश ! तुम पहले हमलोगोंसे हमारा कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हो, फिर तुम उस प्रतिज्ञाका पालन कैसे नहीं करोगे ? इसलिये निषधराज ! तुम शीघ्र जाओ; देर न करो ॥ ९ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तः स दैवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत्।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ॥ १० ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! उन देवताओंके ऐसा कहनेपर निषधनरेशने पुनः उनसे पूछा—'विदर्भराजके सभी भवन (पहरेदारोंसे) सुरक्षित हैं। मैं उनमें कैसे प्रवेश कर सकता हूँ ?' ॥ १० ॥

प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाभ्यभाषत।
जगाम स तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम् ॥ ११ ॥

तब इन्द्रने पुनः उत्तर दिया—'तुम वहाँ प्रवेश कर सकोगे।' तत्पश्चात् राजा नल 'तथास्तु' कहकर दमयन्तीके महलमें गये ॥ ११ ॥

ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम्।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ॥ १२ ॥

वहाँ उन्होंने देखा, सखियोंसे घिरी हुई परम सुन्दरी विदर्भराजकुमारी दमयन्ती अपने सुन्दर शरीर और दिव्य कान्तिसे अत्यन्त उद्भासित हो रही है ॥ १२ ॥

अतीवसुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम्।
आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ॥ १३ ॥

उसके अङ्ग परम सुकुमार हैं, कटिके ऊपरका भाग अत्यन्त पतला है और नेत्र बड़े सुन्दर हैं एवं वह अपने तेजसे चन्द्रमाकी प्रभाको भी तिरस्कृत-सी कर रही है ॥ १३ ॥

तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम्।
सत्यं चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ॥ १४ ॥

उस मनोहर मुसकानवाली राजकुमारीको देखते ही नलके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी; तथापि अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी इच्छासे उन्होंने उस कामवेदनाको मनमें ही रोक लिया ॥ १४ ॥

ततस्ता नैषधं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः परमाङ्गनाः।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ॥ १५ ॥

निषधराजको वहाँ आये देख अन्तःपुरकी सारी सुन्दरी स्त्रियाँ चकित हो गयीं और उनके तेजसे तिरस्कृत हो अपने आसनोंसे उठकर खड़ी हो गयीं ॥ १५ ॥

प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः।
न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यपूजयन् ॥ १६ ॥

अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्यचकित होकर उन सबने राजा नलके सौन्दर्यकी प्रशंसा की। उन्होंने उनसे वार्तालाप नहीं किया; परंतु मन-ही-मन उनका बड़ा आदर किया ॥

अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः।
कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति ॥ १७ ॥

वे सोचने लगीं—'अहो ! इनका रूप अद्भुत है, कान्ति बड़ी मनोहर है तथा इन महात्माका धैर्य भी अनूठा है। न जाने ये हैं कौन ? सम्भव है, देवता, यक्ष अथवा गन्धर्व हों' ॥ १७ ॥

न तास्तं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्तुमपि किंचन।
तेजसा धर्षितास्तस्य लज्जावत्यो वराङ्गनाः ॥ १८ ॥

नलके तेजसे प्रतिहत हुई वे लजीली सुन्दरियाँ उनसे कुछ बोल भी न सकीं ॥ १८ ॥

अथैनं स्मयमानं तु स्मितपूर्वाभिभाषिणी।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ॥ १९ ॥

तब मुसकराकर बातचीत करनेवाली दमयन्तीने विस्मित होकर मुसकराते हुए वीर नलसे इस प्रकार पूछा—॥ १९ ॥

कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्धन।
प्राप्तोऽस्यमरवद् वीर ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ॥ २० ॥
कथमागमनं चेह कथं चासि न लक्षितः।
सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह।

'आप कौन हैं ? आपके सम्पूर्ण अङ्ग निर्दोष एवं परम सुन्दर हैं। आप मेरे हृदयकी कामाग्निको बढ़ा रहे हैं। निष्पाप वीर ! आप देवताओंके समान यहाँ आ पहुँचे हैं। मैं आपका परिचय पाना चाहती हूँ। आपका इस रनिवासमें आना कैसे सम्भव हुआ ? आपको किसीने देखा कैसे नहीं ? मेरा यह महल अत्यन्त सुरक्षित है और यहाँके राजाका शासन बड़ा कठोर है—वे अपराधियोंको बड़ा कठोर दण्ड देते हैं।' विदर्भराजकुमारीके ऐसा पूछनेपर नलने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २०-२१½ ॥

नल उवाच

नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम् ॥ २२ ॥
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ॥ २३ ॥

नलने कहा—कल्याणि ! तुम मुझे नल समझो । मैं देवताओंका दूत बनकर यहाँ आया हूँ । इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम देवता तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं । शोभने ! तुम उनमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ॥ २२-२३ ॥

तेषामेव प्रभावेण प्रविष्टोऽहमलक्षितः ।
प्रविशन्तं न मां कश्चिदपश्यन्नाप्यवारयत् ॥ २४ ॥

उन्हीं देवताओंके प्रभावसे मैं इस महलके भीतर आया हूँ और मुझे कोई देख न सका है । भीतर प्रवेश करते समय न तो किसीने मुझे देखा है और न रोका ही है ॥ २४ ॥

एतदर्थमहं भद्रे प्रेषितः सुरसत्तमैः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभे बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि ॥ २५ ॥

भद्रे ! इसीलिये श्रेष्ठ देवताओंने मुझे यहाँ भेजा है । शुभे ! इसे सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा निश्चय करो ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य देवदौत्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलके देवदूत बनकर दमयन्तीके पास जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नलका दमयन्तीसे वार्तालाप करना और लौटकर देवताओंको उसका संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत् ।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन् किं करवाणि ते ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! दमयन्तीने अपनी श्रद्धाके अनुसार देवताओंको नमस्कार करके नलसे हँसकर कहा—'महाराज ! आप ही मेरा पाणिग्रहण कीजिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ १ ॥

अहं चैव हि यच्चान्यन्ममास्ति वसु किंचन ।
तत् सर्वं तव विश्रब्धं कुरु प्रणयमीश्वर ॥ २ ॥

'नरेश्वर ! मैं तथा मेरा जो कुछ दूसरा धन है, वह सब आपका है । आप पूर्ण विश्वस्त होकर मेरे साथ विवाह कीजिये ॥

हंसानां वचनं यत् तु तन्मां दहति पार्थिव ।
त्वत्कृते हि मया वीर राजानः संनिपातिताः ॥ ३ ॥

'भूपाल ! हंसोंकी जो बात मैंने सुनी' वह (मेरे हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित करके सदा) मुझे दग्ध करती रहती है । वीर ! आपहीको पानेके लिये मैंने यहाँ समस्त राजाओंका सम्मेलन कराया है ॥ ३ ॥

यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद ।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ॥ ४ ॥

'मानद ! आपके चरणोंमें भक्ति रखनेवाली मुझ दासीको यदि आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं आपके ही कारण विष, अग्नि, जल अथवा फाँसीको निमित्त बनाकर अपना प्राण त्याग दूँगी' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ॥ ५ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर राजा नलने उससे पूछा—'(तुम्हें पानेके लिये उत्सुक) लोकपालोंके होते हुए तुम एक साधारण मनुष्यको कैसे पति बनाना चाहती हो ? ॥ ५ ॥

येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम् ।
न पादरजसा तुल्यो मनस्ते तेषु वर्तताम् ॥ ६ ॥

'जिन लोकस्रष्टा महामना ईश्वरोंके चरणोंकी धूलके समान भी मैं नहीं हूँ, उन्हींकी ओर तुम्हें मन लगाना चाहिये ॥ ६ ॥

विप्रियं ह्याचरन् मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति ।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान् ॥ ७ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! देवताओंके विरुद्ध चेष्टा करनेवाला मानव मृत्युको प्राप्त हो जाता है; अतः तुम मुझे बचाओ और उन श्रेष्ठ देवताओंका ही वरण करो ॥ ७ ॥

विरजांसि च वासांसि दिव्याश्चित्राः स्रजस्तथा ।
भूषणानि तु मुख्यानि देवान् प्राप्य तु भुङ्क्ष्व वै ॥ ८ ॥

'तथा देवताओंको ही पाकर निर्मल वस्त्र, दिव्य एवं विचित्र पुष्पहार तथा मुख्य-मुख्य आभूषणोंका सुख भोगो ॥ ८ ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नां संक्षिप्य ग्रसते पुनः ।
हुताशमीशं देवानां का तं न वरयेत् पतिम् ॥ ९ ॥

'जो इस सारी पृथ्वीको संक्षिप्त करके पुनः अपना ग्रास बना लेते हैं, उन देवेश्वर अग्निको कौन नारी अपना पति न चुनेगी ? ॥ ९ ॥

यस्य दण्डभयात् सर्वे भूतग्रामाः समागताः ।
धर्ममेवानुरुध्यन्ति का तं न वरयेत् पतिम् ॥ १० ॥

'जिनके दण्डके भयसे संसारमें आये हुए समस्त प्राणि-समुदाय धर्मका ही पालन करते हैं, उन यमराजको कौन अपना पति नहीं वरेगी ?॥ १०॥

धर्मात्मानं महात्मानं दैत्यदानवमर्दनम्।
महेन्द्रं सर्वदेवानां का तं न वरयेत् पतिम्॥ ११॥

'दैत्यों और दानवोंका मर्दन करनेवाले धर्मात्मा महामना सर्वदेवेश्वर महेन्द्रको कौन नारी पतिरूपमें वरण न करेगी ?॥

क्रियतामविशङ्केन मनसा यदि मन्यसे।
वरुणं लोकपालानां सुहृद्वाक्यमिदं शृणु॥ १२॥

'यदि तुम ठीक समझती हो तो लोकपालोंमें प्रसिद्ध वरुणको निःशङ्क होकर अपना पति बनाओ। यह एक हितैषी सुहृद्‌का वचन है, इसे सुनो'॥ १२॥

नैषधेनैवमुक्ता सा दमयन्ती वचोऽब्रवीत्।
समाप्लुताभ्यां नेत्राभ्यां शोकजेनाथ वारिणा॥ १३॥

तदनन्तर निषधराज नलके ऐसा कहनेपर दमयन्ती शोकाश्रुओंसे भरे हुए नेत्रोंद्वारा देखती हुई इस प्रकार बोली—॥ १३॥

देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते।
वृणे त्वामेव भर्तारं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ १४॥

'पृथ्वीपते! मैं सम्पूर्ण देवताओंको नमस्कार करके आपहीको अपना पति चुनती हूँ। यह मैंने आपसे सची बात कही है'॥ १४॥

तामुवाच ततो राजा वेपमानां कृताञ्जलिम्।
दौत्येनागत्य कल्याणि तथा भद्रे विधीयताम्॥ १५॥

ऐसा कहकर दमयन्ती दोनों हाथ जोड़े थर-थर काँपने लगी। उस अवस्थामें राजा नलने उससे कहा—'कल्याणि! मैं इस समय दूतका कार्य करनेके लिये आया हूँ; अतः भद्रे! इस समय वही करो जो मेरे स्वरूपके अनुरूप हो॥

कथं ह्यहं प्रतिश्रुत्य देवतानां विशेषतः।
परार्थे यत्नमारभ्य कथं स्वार्थमिहोत्सहे॥ १६॥

'मैं देवताओंके सामने प्रतिज्ञा करके विशेषतः परोपकारके लिये प्रयत्न आरम्भ करके अब यहाँ स्वार्थ-साधनके लिये कैसे उत्साहित हो सकता हूँ ?॥ १६॥

एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम्॥ १७॥

'यदि यह धर्म सुरक्षित रहे तो उससे मेरे स्वार्थकी भी सिद्धि हो सकती है। भद्रे! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मैं इस प्रकार धर्मयुक्त स्वार्थकी सिद्धि करूँ'॥ १७॥

ततो बाष्पाकुलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता।
प्रत्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत्॥ १८॥

उपायोऽयं मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर।
येन दोषो न भविता तव राजन् कथंचन॥ १९॥

यह सुनकर पवित्र मुसकानवाली दमयन्ती राजा नलसे धीरे-धीरे अश्रुगद्गदवाणीमें बोली—'नरेश्वर! मैंने उस निर्दोष उपायको ढूँढ़ निकाला है, राजन्! जिससे आपको किसी प्रकार दोष नहीं लगेगा॥ १८-१९॥

त्वं चैव हि नरश्रेष्ठ देवाश्चेन्द्रपुरोगमाः।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयंवरः॥ २०॥

'नरश्रेष्ठ! आप और इन्द्र आदि सब देवता एक ही साथ उस रङ्गमण्डपमें पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है॥ २०॥

ततोऽहं लोकपालानां संनिधौ त्वां नरेश्वर।
वरयिष्ये नरव्याघ्र नैवं दोषो भविष्यति॥ २१॥

'नरेश्वर! नरव्याघ्र! तदनन्तर मैं उन लोकपालोंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी। ऐसा करनेसे (आपको कोई) दोष नहीं लगेगा'॥ २१॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशाम्पते।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः॥ २२॥

युधिष्ठिर! विदर्भराजकुमारीके ऐसा कहनेपर राजा नल पुनः वहीं लौट आये, जहाँ देवताओंसे उनकी भेंट हुई थी॥ २२॥

तमपश्यंस्तथाऽऽयान्तं लोकपाला महेश्वराः।
दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन् वृत्तान्तं सर्वमेव तम्॥ २३॥

महान् शक्तिशाली लोकपालोंने इस प्रकार राजा नलको लौटते देखा और उन्हें देखकर उनसे सारा वृत्तान्त पूछा—॥ २३॥

कच्चिद् दृष्टा त्वया राजन् दमयन्ती शुचिस्मिता।
किमब्रवीच्च नः सर्वान् वद भूमिप तेऽनघ॥ २४॥

'राजन्! क्या तुमने पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीको देखा है? पापरहित भूपाल! हम सब लोगोंको उसने क्या संदेश दिया, बताओ'॥ २४॥

नल उवाच

भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम्।
प्रविष्टः सुमहाकक्ष्यं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम्॥ २५॥

नलने कहा—देवताओ! आपकी आज्ञा पाकर मैं दमयन्तीके महलमें गया। उसकी ड्योढ़ी विशाल थी और दण्डधारी बूढ़े रक्षक उसे घेरकर पहरा दे रहे थे॥ २५॥

प्रविशन्तं च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान् नरः।
ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा॥ २६॥

आपलोगोंके प्रभावसे उसमें प्रवेश करते समय मुझे वहाँ उस राजकन्या दमयन्तीके सिवा दूसरे किसी मनुष्यने नहीं देखा॥ २६॥

सख्यश्चास्या मया दृष्टास्ताभिश्चाप्युपलक्षितः ।
विस्मिताश्चाभवन् सर्वा दृष्ट्वा मां विबुधेश्वराः ॥ २७ ॥

दमयन्तीकी सखियोंको भी मैंने देखा और उन सखियोंने भी मुझे देखा । देवेश्वरो ! वे सब मुझे देखकर आश्चर्यचकित हो गयीं ॥ २७ ॥

वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना ।
मामेव गतसंकल्पा वृणीते सा सुरोत्तमाः ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ देवताओ ! जब मैं आपलोगोंके प्रभावका वर्णन करने लगा, उस समय सुमुखी दमयन्तीने मुझमें ही अपना मानसिक संकल्प रखकर मेरा ही वरण किया ॥ २८ ॥

अब्रवीच्चैव मां बाला आयान्तु सहिताः सुराः ।
त्वया सह नरव्याघ्र मम यत्र स्वयंवरः ॥ २९ ॥

उस बालाने मुझसे यह भी कहा कि 'नरव्याघ्र ! सब देवता आपके साथ उस स्थानपर पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है ॥ २९ ॥

तेषामहं संनिधौ त्वां वरयिष्यामि नैषध ।
एवं तव महाबाहो दोषो न भवितेति ह ॥ ३० ॥

'निषधराज ! मैं उन देवताओंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी । महाबाहो ! ऐसा होनेपर आपको दोष नहीं लगेगा' ॥ ३० ॥

एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुपाहृतम् ।
मयाशेषे प्रमाणं तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ॥ ३१ ॥

देवताओ ! दमयन्तीके महलका इतना ही वृत्तान्त है, जिसे मैंने ठीक-ठीक निवेदन कर दिया । देवेश्वरगण ! अब इस सम्पूर्ण विषयमें आप सब देवतालोग ही प्रमाण हैं, अर्थात् आप ही साक्षी हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्तृकदेवदौत्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यान पर्वमें नलकर्तृक देवदौत्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वयंवरमें दमयन्तीद्वारा नलका वरण, देवताओंका नलको वर देना, देवताओं और राजाओंका प्रस्थान, नल-दमयन्तीका विवाह एवं नलका यज्ञानुष्ठान और संतानोत्पादन

बृहदश्व उवाच

अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा ।
आजुहाव महीपालान् भीमो राजा स्वयंवरे ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर शुभ समय, उत्तम तिथि तथा पुण्यदायक अवसर आनेपर राजा भीमने समस्त भूपालोंको स्वयंवरके लिये बुलाया ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः ।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः ॥ २ ॥

यह सुनकर सब भूपाल कामपीड़ित हो दमयन्तीको पानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ॥ २ ॥

कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम् ।
विविशुस्ते नृपा रङ्गं महासिंहा इवाचलम् ॥ ३ ॥

रङ्गमण्डप सोनेके खम्भोंसे सुशोभित था । तोरणसे उसकी शोभा और बढ़ गयी थी । जैसे बड़े-बड़े सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उन नरेशोंने रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः ।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४ ॥

वहाँ सब भूपाल भिन्न-भिन्न आसनोंपर बैठ गये । सबने सुगन्धित फूलोंकी माला धारण कर रक्खी थी और सबके कानोंमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल झिलमिला रहे थे ॥ ४ ॥

तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव ।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥ ५ ॥

व्याघ्रोंसे भरी हुई पर्वतकी गुफा तथा नागोंसे सुशोभित भोगवती पुरीकी भाँति वह पुण्यमयी राजसभा नरश्रेष्ठ भूपालोंसे भरी दिखायी देती थी ॥ ५ ॥

तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः ।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः ॥ ६ ॥

वहाँ भूमिपालोंकी (पाँच अँगुलियोंसे युक्त) परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ आकार-प्रकार और रंगमें अत्यन्त सुन्दर तथा पाँच मस्तकवाले सर्पके समान दिखायी देती थीं ॥ ६ ॥

सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च ।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ७ ॥

जैसे आकाशमें तारे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार सुन्दर केशान्त भागसे विभूषित एवं रुचिर नासिका, नेत्र और भौंहोंसे युक्त राजाओंके मनोहर मुख सुशोभित हो रहे थे ॥ ७ ॥

दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना ।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ ८ ॥

नलकी पहचानके लिये दमयन्तीकी लोकपालोंसे प्रार्थना

तदनन्तर अपनी प्रभासे राजाओंके नयनोंको लुभाती और चित्तको चुराती हुई सुन्दर मुखवाली दमयन्तीने रङ्ग-भूमिमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्तान्नि चचाल च पश्यताम् ॥ ९ ॥

वहाँ आते ही दमयन्तीके अङ्गोंपर उन महामना नरेशोंकी दृष्टि पड़ी। उसे देखनेवाले राजाओंमेंसे जिसकी दृष्टि दमयन्ती-के जिस अङ्गपर पड़ी; वहीं लग गयी, वहाँसे हट न सकी ॥ ९ ॥

ततः संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ।
ददर्श भैमी पुरुषान् पञ्चतुल्याकृतीनिह ॥ १० ॥

भारत ! तत्पश्चात् राजाओंके नाम, रूप, यश और पराक्रम आदिका परिचय दिया जाने लगा। भीमकुमारी दमयन्तीने आगे बढ़कर देखा, यहाँ तो एक जगह पाँच पुरुष एक ही आकृतिके बैठे हुए हैं ॥ १० ॥

तान् समीक्ष्य ततः सर्वान् निर्विशेषाकृतीन् स्थितान् ।
संदेहादथ वैदर्भी नाभ्यजानान्नलं नृपम् ॥ ११ ॥

उन सबके रूप-रङ्ग आदिमें कोई अन्तर नहीं था। वे पाँचों नलके ही समान दिखायी देते थे। उन्हें एक जगह स्थित देखकर संदेह उत्पन्न हो जानेसे विदर्भराजकुमारी वास्तविक राजा नलको पहचान न सकी ॥ ११ ॥

यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम् ।
सा चिन्तयन्ती बुद्ध्याथ तर्कयामास भाविनी ॥ १२ ॥

वह उनमेंसे जिस-जिस व्यक्तिपर दृष्टि डालती, उसी-उसी-को राजा नल समझने लगती थी। वह भाविनी राजकन्या बुद्धिसे सोच-विचारकर मन-ही-मन तर्क करने लगी ॥ १२ ॥

कथं हि देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ।
एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता ॥ १३ ॥

'अहो ! मैं कैसे देवताओंको जानूँ और किस प्रकार राजा नलको पहिचानूँ ।' इस चिन्तामें पड़कर विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको बड़ा दुःख हुआ ॥ १३ ॥

श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ।
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ॥ १४ ॥
तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्यापि न लक्षये ।
सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ॥ १५ ॥
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ।

भारत ! उसने अपने सुने हुए देवचिह्नोंपर भी विचार किया। वह मन-ही-मन कहने लगी 'मैंने बड़े-बूढ़े पुरुषोंसे देवताओंकी पहचान करानेवाले जो लक्षण या चिह्न सुन रक्खे हैं, उन्हें यहाँ भूमिपर बैठे हुए इन पाँच पुरुषोंमेंसे किसी एकमें भी नहीं देख पाती हूँ।' उसने अनेक प्रकारसे निश्चय और बार-बार विचार करके देवताओंकी शरणमें जाना ही समयोचित कर्तव्य समझा ॥ १४-१५½ ॥

वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा ॥ १६ ॥
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ।
हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः ।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् मन एवं वाणीद्वारा देवताओंको नमस्कार करके दोनों हाथ जोड़कर काँपती हुई वह इस प्रकार बोली—'मैंने हंसोंकी बात सुनकर निषधनरेश नलका पतिरूपमें वरण कर लिया है। इस सत्यके प्रभावसे देवता लोग स्वयं ही मुझे राजा नलकी पहचान करा दें ॥ १६-१७ ॥

मनसा वचसा चैव यथा नाभिचराम्यहम् ।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १८ ॥

'यदि मैं मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा कभी सदाचारसे च्युत नहीं हुई हूँ तो उस सत्यके प्रभावसे देवतालोग मुझे राजा नलकी ही प्राप्ति करावें ॥ १८ ॥

यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १९ ॥

'यदि देवताओंने उन निषधनरेश नलको ही मेरा पति निश्चित किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता लोग मुझे उन्हींको बतला दें ॥ १९ ॥

यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याराधने मया ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २० ॥

'यदि मैंने नलकी आराधनाके लिये ही यह व्रत आरम्भ किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता मुझे उन्हींको बतला दें ॥ २० ॥

स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला [illegible] ।
यथाहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ॥ २१ ॥

[illegible]

सापश्यद् विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान् ।
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ॥ २४ ॥

अब दमयन्तीने देखा—सम्पूर्ण देवता स्वेदरहित हैं—उनके किसी अङ्गमें पसीनेकी बूँद नहीं दिखायी देती, उनकी आँखोंकी पलकें नहीं गिरती हैं। उन्होंने जो पुष्पमालाएँ पहन रक्खी हैं, वे नूतन विकाससे युक्त हैं—कुम्हलाती नहीं हैं। उनपर धूलकण नहीं पड़ रहे हैं। वे सिंहासनोंपर बैठे हैं, किंतु अपने पैरोंसे पृथ्वीतलका स्पर्श नहीं करते हैं और उनकी परछाईं नहीं पड़ती है ॥ २४ ॥
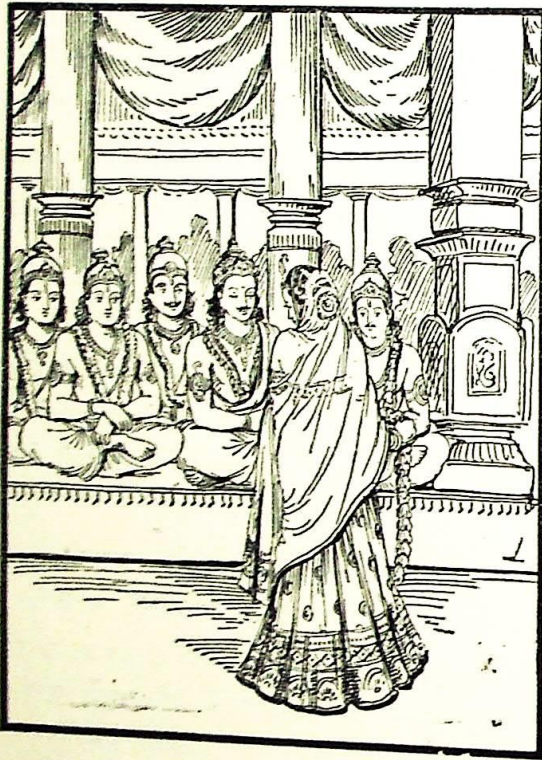
छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः ।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ॥ २५ ॥

उन पाँचोंमें एक पुरुष ऐसे हैं, जिनकी परछाईं पड़ रही है। उनके गलेकी पुष्पमाला कुम्हला गयी है। उनके अङ्गोंमें धूलकण और पसीनेकी बूँदें भी दिखायी पड़ती हैं। वे पृथ्वीका स्पर्श किये बैठे हैं और उनके नेत्रोंकी पलकें गिरती हैं। इन लक्षणोंसे दमयन्तीने निषधराज नलको पहचान लिया ॥ २५ ॥

सा समीक्ष्य तु तान् देवान् पुण्यश्लोकं च भारत ।
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव ॥ २६ ॥

भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन ! राजकुमारी दमयन्तीने उन देवताओं तथा पुण्यश्लोक नलकी ओर पुनः दृष्टिपात करके धर्मके अनुसार निषधराज नलका ही वरण किया ॥ २६ ॥

विलज्जमाना वस्त्रान्तं जग्राहायतलोचना ।
स्कन्धदेशेऽसृजत् तस्य स्रजं परमशोभनाम् ॥ २७ ॥
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी ।

विशाल नेत्रोंवाली दमयन्तीने लजाते-लजाते न[ल]के वस्त्रका छोर पकड़ लिया और उनके गलेमें परम सु[न्दर] फूलोंका हार डाल दिया। इस प्रकार वरवर्णिनी दमयन्[तीने] राजा नलका पतिरूपमें वरण कर लिया ॥ २७½ ॥

ततो हाहेति सहसा मुक्तः शब्दो नराधिपैः ॥ २८ ॥

फिर तो दूसरे राजाओंके मुखसे सहसा 'हाहाकार' शब्द निकल पड़ा ॥ २८ ॥

दैवैर्महर्षिभिस्तत्र साधु साध्विति भारत ।
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ॥ २९ ॥

भारत ! देवता और महर्षि वहाँ साधुवाद देने लो[गे]। सबने विस्मित होकर राजा नलकी प्रशंसा करते हुए इन[के] सौभाग्यको सराहा ॥ २९ ॥

दमयन्तीं तु कौरव्य वीरसेनसुतो नृपः ।
आश्वासयद् वरारोहां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! वीरसेनकुमार नलने उल्लसित हृद[यसे] सुन्दरी दमयन्तीको आश्वासन देते हुए कहा—॥ ३० ॥

यत् त्वं भजसि कल्याणि पुमांसं देवसंनिधौ ।
तस्मान्मां विद्धि भर्तारमेवं ते वचने रतम् ॥ ३१ ॥

'कल्याणी ! तुम देवताओंके समीप जो मुझ-जैसे पुरुष[का] वरण कर रही हो, इस अलौकिक अनुरागके कारण अ[पने] इस पतिको तुम सदा अपनी प्रत्येक आज्ञाके पालन[में] तत्पर समझो ॥ ३१ ॥

यावच्च मे धरिष्यन्ति प्राणा देहे शुचिस्मिते ।
तावत् त्वयि भविष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३२ ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! मेरे इस शरीरमें जबतक प्राण रहेंगे, तबतक तुममें मेरा अनन्य अनुराग बना रहेगा, यह मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ॥ ३२ ॥

दमयन्ती तथा वाग्भिरभिनन्द्य कृताञ्जलिः ।
तौ परस्परतः प्रीतौ दृष्ट्वा त्वग्निपुरोगमान् ॥ ३३ ॥
तानेव शरणं देवाञ्जग्मतुर्मनसा तदा ।

इसी प्रकार दमयन्तीने भी हाथ जोड़कर विनीत वचनों द्वारा महाराज नलका अभिनन्दन किया। वे दोनों एक-दूसरेको पाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सामने अग्नि आदि देवताओंको देखकर मन-ही-मन उनकी ही शरण ली ॥ ३३½ ॥

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ॥ ३४ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाष्टौ वरान् ददुः ।

दमयन्तीने जब नलका वरण कर लिया, तब उन सब महातेजस्वी लोकपालोंने प्रसन्नचित्त होकर नलको आठ वरदान दिये ॥ ३४½ ॥

प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चानुत्तमां शुभाम् ॥ ३५ ॥
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ।

शचीपति इन्द्रने प्रसन्न होकर निषधराज नलको यह वर दिया कि 'मैं यज्ञमें तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा और अन्तमें सर्वोत्तम शुभ गति प्रदान करूँगा' ॥ ३५½ ॥

अग्निरात्मभवं प्रादाद् यत्र वाञ्छति नैषधः ॥ ३६ ॥
लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ।

हविष्यभोक्ता अग्निदेवने नलको अपने ही समान तेजस्वी लोक प्रदान किये और यह भी कहा कि 'राजा नल जहाँ चाहेंगे, वहीं मैं प्रकट हो जाऊँगा' ॥३६½॥

यमस्त्वन्नरसं प्रादाद् धर्मे च परमां स्थितिम् ॥ ३७ ॥

यमराजने यह कहा कि 'राजा नलकी बनायी हुई रसोईमें उत्तमोत्तम रस एवं स्वाद उपलब्ध होगा और धर्ममें इनकी दृढ़ निष्ठा बनी रहेगी' ॥ ३७ ॥

अपां पतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ।
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे च मिथुनं ददुः ॥ ३८ ॥

जलके स्वामी वरुणने नलकी इच्छाके अनुसार जल प्रकट होनेका वर दिया और यह भी कहा कि 'तुम्हारी पुष्पमालाएँ सदा उत्तम गन्धसे सम्पन्न होंगी ।' इस प्रकार सब देवताओंने दो-दो वर दिये ॥ ३८ ॥

वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ।
पार्थिवाश्चानुभूयास्य विवाहं विस्मयान्विताः ॥ ३९ ॥
दमयन्त्याश्च मुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।

इस प्रकार राजा नलको वरदान देकर वे देवतालोग स्वर्गलोकको चले गये । स्वयंवरमें आये हुए राजा भी विस्मयविमुग्ध हो नल और दमयन्तीके विवाहोत्सवका-सा अनुभव करते हुए प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ ३९½ ॥

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु भीमः प्रीतो महामनाः ॥ ४० ॥
विवाहं कारयामास दमयन्त्या नलस्य च ।

सब नरेशोंके विदा हो जानेपर महामना भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नल-दमयन्तीका शास्त्रविधिके अनुसार विवाह कराया ॥ ४०½ ॥

उष्य तत्र यथाकामं नैषधो द्विपदां वरः ॥ ४१ ॥
भीमेन समनुज्ञातो जगाम नगरं स्वकम् ।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ निषधनरेश नल अपनी इच्छाके अनुसार कुछ दिनोंतक ससुरालमें रहे, फिर विदर्भनरेश भीमकी आज्ञा ले (दमयन्तीसहित) अपनी राजधानीको चले गये ॥४१½॥

अवाप्य नारीरत्नं तु पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः ॥ ४२ ॥
रेमे सह तया राजञ्छच्येव बलवृत्रहा ।

राजन् ! पुण्यश्लोक महाराज नलने भी उस रमणीरत्नको पाकर उसके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे शचीके साथ इन्द्र करते हैं ॥ ४२½ ॥

अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव ॥ ४३ ॥
अरञ्जयत् प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ।

राजा नल सूर्यके समान प्रकाशित होते थे । वीरवर नल अत्यन्त प्रसन्न रहकर अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए उसे प्रसन्न रखते थे ॥ ४३½ ॥

ईजे चाप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः ॥ ४४ ॥
अन्यैश्च बहुभिर्धीमान् क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

उन बुद्धिमान् नरेशने नहुषनन्दन ययातिकी भाँति अश्वमेध तथा पर्याप्त दक्षिणावाले दूसरे बहुत-से यज्ञोंका भी अनुष्ठान किया ॥ ४४½ ॥

पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च ॥ ४५ ॥
दमयन्त्या सह नलो विजहारामरोपमः ।

तदनन्तर देवतुल्य राजा नलने दमयन्तीके साथ रमणीय वनों और उपवनोंमें विहार किया ॥ ४५½ ॥

जनयामास च ततो दमयन्त्यां महामनाः ।
इन्द्रसेनं सुतं चापि इन्द्रसेनां च कन्यकाम् ॥ ४६ ॥

महामना नलने दमयन्तीके गर्भसे इन्द्रसेन नामक एक पुत्र और इन्द्रसेना नामवाली एक कन्याको जन्म दिया ॥४६॥

एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः ।
ररक्ष वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सुखपूर्वक विहार करते हुए महाराज नलने धन-धान्यसे सम्पन्न वसुन्धराका पालन किया ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीस्वयंवरे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत दमयन्ती-स्वयंवरविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओंके द्वारा नलके गुणोंका गान और उनके निषेध करनेपर भी नलके विरुद्ध कलियुगका कोप

बृहदश्व उवाच

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! भीमकुमारी दमयन्तीद्वारा निषधनरेश नलका वरण हो जानेपर जब महातेजस्वी लोकपालगण स्वर्गलोकको जा रहे थे, उस समय मार्गमें उन्होंने देखा कि कलियुगके साथ द्वापर आ रहा है ॥

अथाब्रवीत् कलिं शक्रः सम्प्रेक्ष्य बलवृत्रहा ।
द्वापरेण सहायेन कले ब्रूहि क यास्यसि ॥ २ ॥

कलियुगको देखकर बल और वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्रने पूछा—'कले ! बताओ तो सही द्वापरके साथ कहाँ जा रहे हो ?' ॥ २ ॥

ततोऽब्रवीत् कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
गत्वा हि वरयिष्ये तां मनो हि मम तां गतम् ॥ ३ ॥

तब कलिने इन्द्रसे कहा—'देवराज ! मैं दमयन्तीके स्वयंवरमें जाकर उसका वरण करूँगा; क्योंकि मेरा मन उसके प्रति आसक्त हो गया है' ॥ ३ ॥

तमब्रवीत् प्रहस्येन्द्रो निर्वृत्तः स स्वयंवरः ।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ॥ ४ ॥

तब इन्द्रने हँसकर कहा—'वह स्वयंवर तो हो गया । हमारे समीप ही दमयन्तीने राजा नलको अपना पति चुन लिया ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः ।
देवानामन्त्र्य तान् सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ५ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर कलियुगको क्रोध चढ़ आया और उसी समय उसने उन सब देवताओंको सम्बोधित करके यह बात कही— ॥ ५ ॥

देवानां मानुषं मध्ये यत् सा पतिमविन्दत ।
ततस्तस्या भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ॥ ६ ॥

'दमयन्तीने देवताओंके बीचमें मनुष्यका पतिरूपमें वरण किया है । अतः उसे बड़ा भारी दण्ड देना उचित प्रतीत होता है' ॥ ६ ॥

एवमुक्ते तु कलिना प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ।
अस्माभिः समनुज्ञाते दमयन्त्या नलो वृतः ॥ ७ ॥

कलियुगके ऐसा कहनेपर देवताओंने उत्तर दिया—'दमयन्तीने हमारी आज्ञा लेकर नलका वरण किया है ॥

का च सर्वगुणोपेतं नाश्रयेत नलं नृपम् ।
यो वेद धर्मानखिलान् यथावच्चरितव्रतः ॥ ८ ॥
योऽधीते चतुरो वेदान् सर्वानाख्यानपञ्चमान् ।
नित्यं तृप्ता गृहे यस्य देवा यज्ञेषु धर्मतः ॥ ९ ॥
अहिंसानिरतो यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ।
यस्मिन् दाक्ष्यं धृतिर्ज्ञानं तपः शौचं दमः शमः ।
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ॥ १० ॥
एवंरूपं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ।
आत्मानं स शपेन्मूढो हन्यादात्मानमात्मना ॥ ११ ॥

'राजा नल सर्वगुणसम्पन्न हैं । कौन स्त्री उनका वरण नहीं करेगी ? जिन्होंने भलीभाँति ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करके चारों वेदों तथा पञ्चम वेद समस्त इतिहास-पुराणका अध्ययन किया है, जो सब धर्मोंको जानते हैं, जिनके घर पञ्चयज्ञोंमें धर्मके अनुसार सम्पूर्ण देवता नित्य तृप्त होते हैं, जो अहिंसापरायण, सत्यवादी तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं, जिन नरश्रेष्ठ लोकपाल-सदृश तेजस्वी नलमें दक्षता, धैर्य, ज्ञान, तप, शौच, शम और दम आदि गुण नित्य निवास करते हैं । कले ! ऐसे राजा नलको जो शाप देनेकी इच्छा रखता है, वह मानो अपनेको ही शाप देता है । अपनेद्वारा अपना ही विनाश करता है ॥ ८—११ ॥

एवंगुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ।
कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुले ह्रदे ।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरं च दिवं ययुः ॥ १२ ॥

'ऐसे सद्गुणसम्पन्न महाराज नलको जो शाप देनेकी कामना करेगा, वह कष्टसे भरे हुए अगाध एवं विशाल नरककुण्डमें निमग्न होगा ।' कलियुग और द्वापरसे ऐसा कहकर देवतालोग स्वर्गमें चले गये ॥ १२ ॥

ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत् ।
संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ॥ १३ ॥

भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते ।
त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

तदनन्तर देवताओंके चले जानेपर कलियुगने द्वापरसे कहा—'द्वापर ! मैं अपने क्रोधका उपसंहार नहीं कर सकता । नलके भीतर निवास करूँगा और उन्हें राज्यसे वञ्चित कर दूँगा । जिससे वे दमयन्तीके साथ नहीं रह सकेंगे । तुम्हें भी जूएके पासोंमें प्रवेश करके मेरी सहायता करनी चाहिये' ॥ १३-१४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिद्वेवसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलि-देवता-संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

नलमें कलियुगका प्रवेश एवं नल और पुष्करकी द्यूतक्रीडा, प्रजा और दमयन्तीके निवारण करनेपर भी राजाका द्यूतसे निवृत्त नहीं होना

बृहदश्व उवाच

एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह ।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार द्वापरके साथ संकेत करके कलियुग उस स्थानपर आया, जहाँ निषधराज नल रहते थे ॥ १ ॥

स नित्यमन्तरप्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम् ।
अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥ २ ॥

वह प्रतिदिन राजा नलका छिद्र देखता हुआ निषध देशमें दीर्घकालतक टिका रहा । बारह वर्षोंके बाद एक दिन कलिको एक छिद्र दिखायी दिया ॥ २ ॥

कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्त नैषधः ।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ॥ ३ ॥

राजा नल उस दिन लघुशङ्का करके आये और हाथ-मुँह धोकर आचमन करनेके पश्चात् संध्योपासना करने बैठ गये; पैरोंको नहीं धोया । यह छिद्र देखकर कलियुग उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ३ ॥

स समाविश्य च नलं समीपं पुष्करस्य च ।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै ॥ ४ ॥

नलमें आविष्ट होकर कलियुगने दूसरा रूप धारण करके पुष्करके पास जाकर कहा—'चलो, राजा नलके साथ जूआ खेलो ॥ ४ ॥

अक्षद्यूते नलं जेता भवान् हि सहितो मया ।
निषधान् प्रतिपद्यस्व जित्वा राज्यं नलं नृपम् ॥ ५ ॥

मेरे साथ रहकर तुम जूएमें अवश्य राजा नलको जीत लोगे । इस प्रकार महाराज नलको उनके राज्यसहित जीतकर निषध देशको अपने अधिकारमें कर लो' ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात् ।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्ययात् ॥ ६ ॥

कलिके ऐसा कहनेपर पुष्कर राजा नलके पास गया । कलि भी साँड़ बनकर पुष्करके साथ हो लिया ॥ ६ ॥

आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा ।
दीव्यावेत्यब्रवीद् भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुष्करने [illegible] जाकर उनसे बार-बार कहा—[illegible] खेलें ।' पुष्कर राजा नलका भाई लगता था ॥ ७ ॥

न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महामनाः ।
वैदर्भ्याः प्रेक्षमाणायाः पणकालममन्यत ॥ ८ ॥

महामना राजा नल द्यूतके लिये पुष्करके आह्वानको न सह सके । विदर्भराजकुमारी दमयन्तीके देखते-देखते उसी क्षण जूआ खेलनेका उपयुक्त अवसर समझ लिया ॥ ८ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम् ।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स नलस्तदा ॥ ९ ॥
तमक्षमदसम्मत्तं सुहृदां न तु कश्चन ।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमरिंदमम् ॥ १० ॥

तब कलियुगसे आविष्ट होकर राजा नल [illegible] आदि वाहन और बहुमूल्य [illegible] सुहृदोंमें कोई भी [illegible] शत्रुदमन नलको उस समय जूआ [illegible]

ततः पौरजनाः सर्वे मन्त्रिभिः सह भारत ।
राजानं द्रष्टुमागच्छन् निवारयितुमातुरम् ॥ ११ ॥

भारत ! तदनन्तर समस्त पुरवासी मनुष्य मन्त्रियोंके साथ राजासे मिलने तथा उन आतुर नरेशको जूएसे रोकनेके लिये वहाँ आये ॥ ११ ॥

ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
एष पौरजनो देवि द्वारि तिष्ठति कार्यवान् ॥ १२ ॥

इसी समय सारथिने महलमें जाकर महारानी दमयन्तीसे निवेदन किया—'देवि ! ये पुरवासीलोग कार्यवश राजद्वारपर खड़े हैं ॥ १२ ॥

निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः ।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ॥ १३ ॥

'आप निषधराजसे निवेदन कर दें। धर्म-अर्थका तत्त्व जाननेवाले महाराजके भावी संकटको सहन न कर सकनेके कारण मन्त्रियोंसहित सारी प्रजा द्वारपर खड़ी है' ॥ १३ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ॥ १४ ॥

यह सुनकर दुःखसे दुर्बल हुई दमयन्तीने शोकसे अचेत-सी होकर आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें निषध-नरेशसे कहा—॥ १४ ॥

राजन् पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ॥ १५ ॥
तं द्रष्टुमर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत।
तां तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं तथाविधाम् ॥ १६ ॥
आविष्टः कलिना राजा नाभ्यभाषत किंचन।
ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ॥ १७ ॥
नायमस्तीति दुःखार्ता व्रीडिता जग्मुरालयान्।
तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च।
युधिष्ठिर बहून् मासान् पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ॥ १८ ॥

'महाराज! पुरवासी प्रजा राजभक्तिपूर्वक आपसे मिलनेके लिये समस्त मन्त्रियोंके साथ द्वारपर खड़ी है। आप उसे दर्शन दें।' दमयन्तीने इन वाक्योंको बार-बार दुहराया। मनोहर नयनप्रान्तवाली विदर्भकुमारी इस प्रकार विलाप करती रह गयी, परंतु कलियुगसे आविष्ट हुए राजाने उससे कोई बाततक न की। तब वे सब मन्त्री और पुरवासी दुःखसे आतुर और लज्जित हो यह कहते हुए अपने-अपने घर चले गये कि 'यह राजा नल अब राज्यपर अधिक समयतक रहनेवाला नहीं है।' युधिष्ठिर! पुष्कर और नलकी वह द्यूतक्रीडा कई महीनोंतक चलती रही। पुण्यश्लोक महाराज नल उसमें हारते जा ही रहे थे ॥ १५–१८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूते एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलद्यूतविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

दुःखित दमयन्तीका वार्ष्णेयके द्वारा कुमार-कुमारीको कुण्डिनपुर भेजना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम्।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ॥ १ ॥
भयशोकसमाविष्टा राजन् भीमसुता ततः।
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् पार्थिवं प्रति ॥ २ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दमयन्तीने देखा कि पुण्यश्लोक महाराज नल उन्मत्तकी भाँति द्यूतक्रीडामें आसक्त हैं। वह स्वयं सावधान थी। उनकी वैसी अवस्था देख भीमकुमारी भय और शोकसे व्याकुल हो गयी और महाराजके हितके लिये किसी महत्त्वपूर्ण कार्यका चिन्तन करने लगी ॥ १-२ ॥

सा शङ्कमाना तत् पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम्।
नलं च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उसके मनमें यह आशङ्का हो गयी कि राजापर बहुत बड़ा कष्ट आनेवाला है। वह उनका प्रिय एवं हित करना चाहती थी। अतः महाराजके सर्वस्वका अपहरण होता जान धायको बुलाकर (इस प्रकार बोली) ॥ ३ ॥

बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकाम्।
हितां सर्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ॥ ४ ॥

उसकी धायका नाम बृहत्सेना था। वह अत्यन्त यशस्विनी और परिचर्याके कार्यमें निपुण थी। समस्त कार्योंके साधनमें ... मधुरभाषिणी थी ॥ ४ ॥

बृहत्सेने व्रजामात्यानानाय्य नलशासनात्।
आचक्ष्व यद्धृतं द्रव्यमवशिष्टं च यद् वसु ॥ ५ ॥

(दमयन्तीने उससे कहा)—'बृहत्सेने ! तुम मन्त्रियोंके पास जाओ तथा राजा नलकी आज्ञासे उन्हें बुला लाओ। फिर उन्हें यह बताओ कि अमुक-अमुक द्रव्य हारा जा चुका है और अमुक धन अभी अवशिष्ट है' ॥ ५ ॥

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम्।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा नलमाव्रजन् ॥ ६ ॥

तब वे सब मन्त्री राजा नलका आदेश जानकर 'हमारा अहोभाग्य है', ऐसा कहते हुए नलके पास आये ॥ ६ ॥

तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः।
न्यवेदयद् भीमसुता न च तत् प्रत्यनन्दत ॥ ७ ॥

वे सारी (मन्त्री आदि) प्रकृतियाँ दूसरी बार राजद्वारपर उपस्थित हुईं। दमयन्तीने इसकी सूचना महाराज नलको दी, परंतु उन्होंने इस बातका अभिनन्दन नहीं किया ॥ ७ ॥

वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्तारमभिवीक्ष्य सा।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
निशम्य सततं चाक्षान् पुण्यश्लोकपराङ्मुखान्।
नलं च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ॥ ९ ॥
बृहत्सेने पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात्।
सूतमानय कल्याणि महत् कार्यमुपस्थितम् ॥ १० ॥

पतिको अपनी बातका प्रसन्नतापूर्वक उत्तर देते न देख दमयन्ती लज्जित हो पुनः महलके भीतर चली गयी। वहाँ फिर उसने सुना कि सारे पासे लगातार पुण्यश्लोक राजा नलके विपरीत पड़ रहे हैं और उनका सर्वस्व अपहृत हो रहा है। तब उसने पुनः धायसे कहा—'बृहत्सेने ! फिर राजा नलकी आज्ञासे जाओ और वार्ष्णेय सूतको बुला लाओ। कल्याणि ! एक बहुत बड़ा कार्य उपस्थित हुआ है' ॥८–१०॥

बृहत्सेना तु सा श्रुत्वा दमयन्त्याः प्रभाषितम्।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ११ ॥
वार्ष्णेयं तु ततो भैमी सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ॥ १२ ॥

बृहत्सेनाने दमयन्तीकी बात सुनकर विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा वार्ष्णेयको बुलाया। तब अनिन्द्य स्वभाववाली और देश-कालको जाननेवाली भीमकुमारी दमयन्तीने वार्ष्णेयको मधुर वाणीमें सान्त्वना देते हुए यह समयोचित बात कही—॥ ११-१२॥

जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग् वृत्तः सदा त्वयि।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥१३॥

'सूत ! तुम जानते हो कि महाराज तुम्हारे प्रति कैसा अच्छा बर्ताव करते थे। आज वे विषम संकटमें पड़ गये हैं, अतः तुम्हें भी उनकी सहायता करनी चाहिये ॥ १३ ॥

यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणैव जीयते।
तथा तथास्य वै द्यूते रागो भूयोऽभिवर्धते ॥ १४ ॥

'राजा जैसे-जैसे पुष्करसे पराजित हो रहे हैं, वैसे-ही-वैसे जूएमें उनकी आसक्ति बढ़ती जा रही है ॥ १४ ॥

यथा च पुष्करस्याक्षाः पतन्ति वशवर्तिनः।
तथा विपर्ययश्चापि नलस्याक्षेषु दृश्यते ॥ १५ ॥

'जैसे पुष्करके पासे उसकी इच्छाके अनुसार पड़ रहे हैं, वैसे ही नलके पासे विपरीत पड़ते देखे जा रहे हैं ॥ १५ ॥

सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च।
ममापि च तथा वाक्यं नाभिनन्दति मोहितः ॥ १६ ॥
नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः।
यत् तु मे वचनं राजा नाभिनन्दति मोहितः ॥ १७ ॥

'वे सुहृदों और स्वजनोंके वचन अच्छी तरह नहीं सुनते हैं। जूएने उन्हें ऐसा मोहित कर रखा है कि इस समय वे मेरी बातका भी आदर नहीं कर रहे हैं। मैं इसमें महामना नैषधका निश्चय ही कोई दोष नहीं मानती। जूएसे मोहित होनेके कारण ही राजा मेरी बातका अभिनन्दन नहीं कर रहे हैं ॥ १६-१७ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नास्मि सारथे कुरु मद्वचः।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचिद् विनशेदपि ॥ १८ ॥

'सारथे ! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ, मेरी बात मानो। मेरे मनमें अशुभ विचार आते हैं, इससे अनुमान होता है कि राजा नलका राज्यसे च्युत होना सम्भव है ॥ १८ ॥

नलस्य दयितानश्वान् योजयित्वा मनोजवान्।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ॥ १९ ॥

'तुम महाराजके प्रिय, मनके समान वेगशाली अश्वोंको रथमें जोतकर उसपर इन दोनों बच्चोंको बिठा लो और कुण्डिनपुरको चले जाओ' ॥ १९ ॥

मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनं तथा।
अश्वांश्चेमान् यथाकामं वस वान्यत्र गच्छ वा ॥ २० ॥

'वहाँ इन दोनों बालकोंको, इस रथको और इन घोड़ोंको भी मेरे भाई-बन्धुओंकी देख-रेखमें सौंपकर तुम्हारी इच्छा हो तो वहीं रह जाना या अन्यत्र कहीं चले जाना' ॥ २० ॥

दमयन्त्यास्तु तद् वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ॥ २१ ॥

दमयन्तीकी यह बात सुनकर नलके सारथि वार्ष्णेयने नलके मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंसे यह सारा वृत्तान्त निवेदित किया ॥२१॥

तैः समेत्य विनिश्चित्य सोऽनुज्ञातो महीपते।
ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ॥ २२ ॥

राजन् ! उनसे मिलकर इस विषयपर भलीभाँति विचार

करके उन मन्त्रियोंकी आज्ञा ले सारथि वार्ष्णेयने दोनों बालकोंको रथपर बैठाकर विदर्भ देशको प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरं च तम्।
इन्द्रसेनां च तां कन्यामिन्द्रसेनं च बालकम् ॥ २३ ॥
आमन्त्र्य भीमं राजानमार्तः शोचन् नलं नृपम्।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीं तदा ॥ २४ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने घोड़ोंको, उस श्रेष्ठ रथको तथा उस बालिका इन्द्रसेनाको एवं राजकुमार इन्द्रसेनको वहीं रख दिया तथा राजा भीमसे विदा ले आर्तभावसे राजा नलकी लिये शोक करता हुआ घूमता-घामता अयोध्या चला गया ॥ २३-२४ ॥

ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः।
भृतिं चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपते ॥

युधिष्ठिर ! वह अत्यन्त दुखी हो राजा ऋतु सेवामें उपस्थित हुआ और उनका सारथि बनकर चलाने लगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कुण्डिनं प्रति कुमारयोः प्रस्थापने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी कन्या और पुत्रको कुण्डिनपुर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

नलका जूएमें हारकर दमयन्तीके साथ वनको जाना और पक्षियोंद्वारा आपद्ग्रस्त नलके वस्त्रका अपह

बृहदश्व उवाच

ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चान्यद् वसु किंचन ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर वार्ष्णेयके चले जानेपर जूआ खेलनेवाले पुण्यश्लोक महाराज नलके सारे राज्य और जो कुछ धन था, उन सबका जूएमें पुष्करने अपहरण कर लिया ॥ १ ॥

हृतराज्यं नलं राजन् प्रहसन् पुष्करोऽब्रवीत्।
द्यूतं प्रवर्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ॥ २ ॥

राजन् ! राज्य हार जानेपर नलसे पुष्करने हँसते हुए कहा कि 'क्या फिर जूआ आरम्भ हो ? अब तुम्हारे पास दाँवपर लगानेके लिये क्या है ?' ॥ २ ॥

शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यज्जितं मया।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

'तुम्हारे पास केवल दमयन्ती शेष रह गयी है और सब वस्तुएँ तो मैंने जीत ली हैं, यदि तुम्हारी राय हो तो दमयन्ती-को दाँवपर रखकर एक बार फिर जूआ खेला जाय' ॥ ३ ॥

पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना।
व्यदीर्यतेव हृदयं न चैनं किंचिदब्रवीत् ॥ ४ ॥

पुष्करके ऐसा कहनेपर पुण्यश्लोक महाराज नलका हृदय शोकसे विदीर्ण-सा हो गया, परंतु उन्होंने उससे कुछ कहा नहीं ॥ ४ ॥

ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान्।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि ...

एकवासा ह्यसंवीतः सुहृच्छोकविवर्धनः।
निश्चक्राम ततो राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ॥

तदनन्तर महायशस्वी नलने अत्यन्त दुःखित हो पु की ओर देखकर अपने सब अङ्गोंके आभूषण उतार और केवल एक अधोवस्त्र धारण करके चादर ओढ़े ही अपनी विशाल सम्पत्तिको त्यागकर सुहृदोंका शोक ब हुए वे राजभवनसे निकल पड़े ॥ ५-६ ॥

दमयन्त्येकवस्त्राथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात्।
स तया बाह्यतः सार्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ॥ ७

दमयन्तीके शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वह ज हुए राजा नलके पीछे हो ली। वे उसके साथ नगरसे बा तीन-राततक टिके रहे ॥ ७ ॥

पुष्करस्तु महाराज घोषयामास वै पुरे।
नले यः सम्यगातिष्ठेत् स गच्छेद् वध्यतां मम ॥ ८

महाराज ! पुष्करने उस नगरमें यह घोषणा करा दी— डुग्गी पिटवा दी कि 'जो नलके साथ अच्छा बर्ताव करेगा वह मेरा वध्य होगा' ॥ ८ ॥

पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च।
पौरा न तस्य सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! पुष्करके उस वचनसे और नलके प्रति पुष्करका द्वेष होनेसे पुरवासियोंने राजा नलका कोई सत्कार नहीं किया ॥ ९ ॥

स तथा नगराभ्याशे सत्कारार्हो न सत्कृतः।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्तयन् ॥ १० ॥

केवल जलमात्रका आहार करके टिके रहे। वे सर्वथा सत्कारके योग्य थे तो भी उनका सत्कार नहीं किया गया ॥ १० ॥

पीड्यमानः क्षुधा तत्र फलमूलानि कर्षयन्।
प्रातिष्ठत ततो राजा दमयन्ती तमन्वगात् ॥ ११ ॥

वहाँ भूखसे पीड़ित हो फल-मूल आदि जुटाते हुए राजा नल वहाँसे अन्यत्र चले गये। केवल दमयन्ती उनके पीछे-पीछे गयी ॥ ११ ॥

क्षुधया पीड्यमानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि।
अपश्यच्छकुनान् कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार नल बहुत दिनोंतक क्षुधासे पीड़ित रहे। एक दिन उन्होंने कुछ ऐसे पक्षी देखे, जिनकी पाँखें सोनेकी-सी थीं ॥ १२ ॥

स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली।
अस्ति भक्ष्यो ममाद्यायं वसु चेदं भविष्यति ॥ १३ ॥

उन्हें देखकर (क्षुधातुर और आपत्तिग्रस्त होनेके कारण) बलवान् निषध-नरेशके मनमें यह बात आयी कि 'यह पक्षियोंका समुदाय ही आज मेरा भक्ष्य हो सकता है और इनकी ये पाँखें मेरे लिये धन हो जायँगी' ॥ १३ ॥

ततस्तान् परिधानेन वाससा स समावृणोत्।
तस्य तद् वस्त्रमादाय सर्वे जग्मुर्विहायसा ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने अधोवस्त्रसे उन पक्षियोंको ढँक दिया। किंतु वे सब पक्षी उनका वह वस्त्र लेकर आकाशमें उड़ गये ॥ १४ ॥

[illegible]

हैं। यह विदर्भ देशका मार्ग है और वह कोसल देशको जाता है। दक्षिण दिशामें इसके बादका देश दक्षिणापथ कहलाता है' ॥ २२-२३ ॥

एतद् वाक्यं नलो राजा दमयन्तीं समाहितः।
उवाचासकृदार्तो हि भैमीमुद्दिश्य भारत ॥ २४ ॥

भारत ! राजा नलने एकाग्रचित्त होकर बड़ी आतुरताके साथ दमयन्तीसे उपर्युक्त बातें बार-बार कहीं ॥ २४ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ॥ २५ ॥

तब दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे दुर्बल हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई गद्गद वाणीमें राजा नलसे यह करुण वचन बोली—॥ २५ ॥

उद्वेजते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः।
तव पार्थिव संकल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ॥ २६ ॥
हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम्।
कथमुत्सृज्य गच्छेयमहं त्वां निर्जने वने ॥ २७ ॥

'महाराज ! आपका मानसिक संकल्प क्या है, इसपर जब मैं बार-बार विचार करती हूँ, तब मेरा हृदय उद्विग्न हो उठता है और सारे अङ्ग शिथिल हो उठते हैं। आपका राज्य छिन गया। धन नष्ट हो गया। आपके शरीरपर वस्त्रतक नहीं रह गया तथा आप भूख और परिश्रमसे कष्ट पा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें इस निर्जन वनमें आपको असहाय छोड़कर मैं कैसे जा सकती हूँ ? ॥ २६-२७ ॥

श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत् सुखम्।
वने घोरे महाराज नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ॥ २८ ॥

'महाराज ! जब आप भयंकर वनमें थके-माँदे भूखसे पीड़ित हो अपने पूर्व सुखका चिन्तन करते हुए अत्यन्त दुखी होने लगेंगे, उस समय मैं सान्त्वनाद्वारा आपके संताप-का निवारण करूँगी ॥ २८ ॥

न च भार्यासमं किंचिद् विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

'चिकित्सकोंका मत है कि समस्त दुःखोंकी शान्तिके लिये पत्नीके समान दूसरी कोई औषध नहीं है; यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ' ॥ २९ ॥

नल उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं दमयन्ति सुमध्यमे।
नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ ३० ॥

नलने कहा—सुमध्यमा दमयन्ती ! तुम जैसा कहती हो वह ठीक है। दुखी मनुष्यके लिये पत्नीके समान दूसरा कोई मित्र या औषध नहीं है ॥ ३० ॥

न चाहं त्यक्तकामस्त्वां किमलं भीरु शङ्कसे।
त्यजेयमहमात्मानं न चैव त्वामनिन्दिते ॥ ३१ ॥

भीरु ! मैं तुम्हें त्यागना नहीं चाहता; तुम इतनी अधिक शङ्का क्यों करती हो ? अनिन्दिते ! मैं अपने शरीरका त्याग कर सकता हूँ, पर तुम्हें नहीं छोड़ सकता ॥ ३१ ॥

दमयन्त्युवाच

यदि मां त्वं महाराज न विहातुमिहेच्छसि।
तत् किमर्थं विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ॥ ३२ ॥

दमयन्तीने कहा—महाराज ! यदि आप मुझे त्यागना नहीं चाहते तो विदर्भदेशका मार्ग क्यों बता रहे हैं ? ॥ ३२ ॥

अवैमि चाहं नृपते न तु मां त्यक्तुमर्हसि।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते ॥ ३३ ॥

राजन् ! मैं जानती हूँ कि आप स्वयं मुझे नहीं त्याग सकते, परंतु महीपते ! इस घोर आपत्तिने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया है, इस कारण आप मेरा त्याग भी कर सकते हैं ॥ ३३ ॥

पन्थानं हि ममाभीक्ष्णमाख्यासि च नरोत्तम।
अतो निमित्तं शोकं मे वर्धयस्यमरोपम ॥ ३४ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप बार-बार जो मुझे विदर्भदेशका मार्ग बता रहे हैं। देवोपम आर्यपुत्र ! इसके कारण आप मेरा शोक ही बढ़ा रहे हैं ॥ ३४ ॥

यदि चायमभिप्रायस्तव ज्ञातीन् व्रजेदिति।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान् यदि मन्यसे ॥ ३५ ॥

यदि आपका यह अभिप्राय हो कि दमयन्ती अपने बन्धु-बान्धवोंके यहाँ चली जाय तो आपकी सम्मति हो तो हम दोनों साथ ही विदर्भदेशको चलें ॥ ३५ ॥

विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद।
तेन त्वं पूजितो राजन् सुखं वत्स्यसि नो गृहे ॥ ३६ ॥

मानद ! वहाँ विदर्भनरेश आपका पूरा आदर-सत्कार करेंगे। राजन् ! उनसे पूजित होकर आप हमारे घरमें सुख-पूर्वक निवास कीजियेगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलवनयात्रायामेकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी वनयात्रा-विषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलकी चिन्ता और दमयन्तीको अकेली सोती छोड़कर उनका अन्यत्र प्रस्थान

नल उवाच

यथा राज्यं तव पितुस्तथा मम न संशयः।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथंचन॥ १॥

नलने कहा—प्रिये! इसमें संदेह नहीं कि विदर्भराज्य जैसे तुम्हारे पिताका है, वैसे मेरा भी है, तथापि आपत्तिमें पड़ा हुआ मैं किसी तरह वहाँ नहीं जाऊँगा॥ १॥

कथं समृद्धो गत्वाहं तव हर्षविवर्धनः।
परिच्युतो गमिष्यामि तव शोकविवर्धनः॥ २॥

एक दिन मैं भी समृद्धिशाली राजा था। उस अवस्थामें वहाँ जाकर मैंने तुम्हारे हर्षको बढ़ाया था और आज उस राज्यसे वञ्चित होकर केवल तुम्हारे शोककी वृद्धि कर रहा हूँ, ऐसी दशामें वहाँ कैसे जाऊँगा?॥ २॥

बृहदश्व उवाच

इति ब्रुवन् नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः।
सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्धेन संवृताम्॥ ३॥
तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां कांचिदुपेयतुः॥ ४॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! आधे वस्त्रसे ढकी हुई कल्याणमयी दमयन्तीसे बार-बार ऐसा कहकर राजा नलने उसे सान्त्वना दी; क्योंकि वे दोनों एक ही वस्त्रसे अपने अङ्गोंको ढककर इधर-उधर घूम रहे थे। भूख और प्याससे थके-माँदे वे दोनों दम्पति किसी सभाभवन (धर्मशाला) में जा पहुँचे॥ ३-४॥

तां सभामुपसम्प्राप्य तदा स निषधाधिपः।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले॥ ५॥

तब उस धर्मशालामें पहुँचकर निषधनरेश राजा नल वैदर्भीके साथ भूतलपर बैठे॥ ५॥

स वै विवस्त्रो विकटो मलिनः पांसुगुण्ठितः।
दमयन्त्या सह श्रान्तः सुष्वाप धरणीतले॥ ६॥

वे वस्त्रहीन, चटाई आदिसे रहित, मलिन एवं धूलि-धूसरित हो रहे थे। दमयन्तीके साथ थककर भूमिपर ही सो गये॥ ६॥

दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयापहृता ततः।
सहसा दुःखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी॥ ७॥

सुकुमारी तपस्विनी कल्याणमयी दमयन्ती भी सहसा दुःखमें पड़ गयी थी। वहाँ आनेपर उसे भी निद्राने घेर लिया॥ ७॥

सुप्तायां दमयन्त्यां तु नलो राजा विशाम्पते।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स शेते तथा पुरा॥ ८॥

राजन्! राजा नलका चित्त शोकसे मथा जा रहा था। वे दमयन्तीके सो जानेपर भी स्वयं पहलेकी भाँति सो न सके॥ ८॥

स तद् राज्यापहरणं सुहृत्त्यागं च सर्वशः।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान्॥ ९॥

राज्यका अपहरण, सुहृदोंका त्याग और वनमें प्राप्त होनेवाले नाना प्रकारके क्लेशपर विचार करते हुए वे चिन्ताको प्राप्त हो गये॥ ९॥

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा॥ १०॥

वे सोचने लगे 'ऐसा करनेसे मेरा क्या होगा और यह कार्य न करनेसे भी क्या होगा। मेरा मर जाना अच्छा है कि अपनी आत्मीया दमयन्तीको त्याग देना॥ १०॥

मामियं ह्यनुरक्तैवं दुःखमाप्नोति मत्कृते।
मद्विहीना त्वियं गच्छेत् कदाचित् स्वजनं प्रति॥ ११॥

'यह मुझसे इस प्रकार अनुरक्त होकर मेरे ही लिये दुःख उठा रही है। यदि मुझसे अलग हो जाय तो यह कदाचित् अपने स्वजनोंके पास जा सकती है॥ ११॥

मयि निःसंशयं दुःखमियं प्राप्स्यत्यनुव्रता।
उत्सर्गे संशयः स्यात् तु विन्देतापि सुखं क्वचित्॥ १२॥

'मेरे पास रहकर तो यह पतिव्रता नारी निश्चय ही केवल दुःख भोगेगी। यद्यपि इसे त्याग देनेपर एक संशय बना रहेगा तो भी यह सम्भव है कि इसे कभी सुख मिल जाय'॥

स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः।
उत्सर्गं मन्यते श्रेयो दमयन्त्या नराधिप॥ १३॥

राजन्! नल अनेक प्रकारसे बार-बार विचार करके एक निश्चयपर पहुँच गये और दमयन्तीका परित्याग कर देनेमें ही उसकी भलाई मानने लगे॥ १३॥

न चैषा तेजसा शक्या कैश्चिद् धर्षयितुं पथि।
यशस्विनी महाभागा मद्भक्तेयं पतिव्रता॥ १४॥

'यह महाभागा यशस्विनी दमयन्ती मेरी भक्त और पतिव्रता है। पातिव्रत-तेजके कारण मार्गमें कोई इसका सतीत्व नष्ट नहीं कर सकता॥ १४॥

एवं तस्य तदा बुद्धिर्दमयन्त्यां न्यवर्तत।
कलिना दुष्टभावेन दमयन्त्या विसर्जने॥ १५॥

ऐसा सोचकर उनकी बुद्धि दमयन्तीको अपने साथ रखनेके विचारसे निवृत्त हो गयी। बल्कि दुष्ट स्वभाववाले

कलियुगसे प्रभावित होनेके कारण दमयन्तीको त्याग देनेमें ही उनकी बुद्धि प्रवृत्त हुई ॥ १५ ॥

सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाप्येकवस्त्रताम् ।
चिन्तयित्वाध्यगाद् राजा वस्त्रार्धस्यावकर्तनम् ॥१६॥

तदनन्तर राजाने अपनी वस्त्रहीनता और दमयन्तीकी एकवस्त्रताका विचार करके उसके आधे वस्त्रको फाड़ लेना ही उचित समझा ॥ १६ ॥

कथं वासो विकर्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया ।
विचिन्त्यैवं नलो राजा सभां पर्यचरत्तदा ॥१७॥

फिर यह सोचकर कि 'मैं कैसे वस्त्रको काटूँ, जिससे मेरी प्रियाकी नींद न टूटे।' राजा नल धर्मशालामें (नंगे ही) इधर-उधर घूमने लगे ॥ १७ ॥

परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत ।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खड्गमुत्तमम् ॥१८॥

भारत ! इधर-उधर दौड़-धूप करनेपर राजा नलको उस सभाभवनमें एक अच्छी-सी नंगी तलवार मिल गयी ॥

तेनार्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परंतपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद् गतचेतनाम् ॥१९॥

उसीसे दमयन्तीका आधा वस्त्र काटकर परंतप नलने उसके द्वारा अपना शरीर ढँक लिया और अचेत सोती हुई विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको वहीं छोड़कर वे शीघ्रतासे चले गये ॥ १९ ॥

ततो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।

कुछ दूर जानेपर उनके हृदयका विचार पलट गया और वे पुनः उसी सभाभवनमें लौट आये। वहाँ उस समय दमयन्तीको देखकर निषधनरेश नल फूट-फूटकर रोने लगे ॥

यां न वायुर्न चादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ॥२१॥

(वे विलाप करते हुए कहने लगे—) 'पहले जिस मेरी प्रियतमा दमयन्तीको वायु तथा सूर्य देवता भी नहीं देख पाते थे, वही आज इस धर्मशालेमें भूमिपर अनाथकी भाँति सो रही है ॥ २१ ॥

इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ॥२२॥

'यह मनोहर हास्यवाली सुन्दरी वस्त्रके आधे टुकड़ेसे लिपटी हुई सो रही है। जब इसकी नींद खुलेगी, तब पगली-सी होकर न जाने यह कैसी दशाको पहुँच जायगी ॥२२॥

कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा ।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ॥२३॥

'यह भयंकर वन हिंसक पशुओं और सर्पोंसे भरा है। मुझसे बिछुड़कर शुभलक्षणा सती दमयन्ती अकेली इस वनमें कैसे विचरण करेगी ? ॥ २३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ समरुद्गणौ ।
रक्षन्तु त्वां महाभागे धर्मेणासि समावृता ॥२४॥

'महाभागे ! तुम धर्मसे आवृत हो, आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण—ये सब देवता तुम्हारी रक्षा करें' ॥

एवमुक्त्वा प्रियां भार्यां रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
कलिनापहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ॥२५॥

इस भूतलपर रूप-सौन्दर्यमें जिसकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी, उसी अपनी प्यारी पत्नी दमयन्तीके प्रति इस प्रकार कहकर राजा नल वहाँसे उठे और चल दिये। उस समय कलिने इनकी विवेकशक्ति हर ली थी।२५।

गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः ।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनावकृष्यते ॥२६॥

राजा नलको एक ओर कलियुग खींच रहा था और दूसरी ओर दमयन्तीका सौहार्द। अतः वे बार-बार जाकर फिर उस धर्मशालेमें ही लौट आते थे ॥ २६ ॥

द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याभवत् तदा ।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति ॥२७॥

उस समय दुखी राजा नलका हृदय मानो दुविधामें पड़ गया था। जैसे झूला बार-बार नीचे-ऊपर आता-जाता रहता है, उसी प्रकार उनका हृदय कभी बाहर जाता, कभी सभा-

अवकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः ।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्यां विलप्य करुणं बहु ॥ २८ ॥

अन्तमें कलियुगने उनका आकर्षण किया, जिससे मोहित होकर राजा नल बहुत देरतक करुण विलाप करके अपनी सोती हुई पत्नीको छोड़कर वहाँसे चले गये ॥ २८ ॥

नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तत् तद् विगणयन् नृपः ।
जगामैकां वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः ॥ २९ ॥

कलियुगके स्पर्शसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी; अतः वे अत्यन्त दुःखी हो विभिन्न बातोंका विचार करते हुए उस सूने वनमें अपनी पत्नीको अकेली छोड़कर चल दिये ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपरित्यागे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीपरित्यागविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप तथा अजगर एवं व्याधसे उसके प्राण एवं सतीत्वकी रक्षा तथा दमयन्तीके पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे व्याधका विनाश

बृहदश्व उवाच

अपक्रान्ते नले राजन् दमयन्ती गतक्लमा ।
अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ॥ १ ॥
अपश्यमाना भर्तारं शोकदुःखसमन्विता ।
प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ॥ २ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! नलके चले जानेपर जब दमयन्तीकी थकावट दूर हो गयी, तब उसकी आँख खुली। उस निर्जन वनमें अपने स्वामीको न देखकर सुन्दरी दमयन्ती भयातुर और दुःख-शोकसे व्याकुल हो गयी। उसने भयभीत होकर निषधनरेश नलको 'महाराज ! आप कहाँ हैं ?' यह कहकर बड़े जोरसे पुकारा ॥ १-२ ॥

हा नाथ हा महाराज हा स्वामिन् किं जहासि माम् ।
हा हतास्मि विनष्टास्मि भीतास्मि विजने वने ॥ ३ ॥

'हा नाथ ! हा महाराज ! हा स्वामिन् ! आप मुझे क्यों त्याग रहे हैं ? हाय ! मैं मारी गयी, नष्ट हो गयी, इस जनशून्य वनमें मुझे बड़ा भय लग रहा है ॥ ३ ॥

ननु नाम महाराज धर्मज्ञः सत्यवागसि ।
कथमुक्त्वा तथा सत्यं सुप्तामुत्सृज्य कानने ॥ ४ ॥

'महाराज ! आप तो धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं; फिर वैसी सच्ची प्रतिज्ञा करके आज आप इस जंगलमें मुझे सोती छोड़कर कैसे चले गये ? ॥ ४ ॥

कथमुत्सृज्य गन्तासि दक्षां भार्यामनुव्रताम् ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ ५ ॥

'मैं आपकी सेवामें कुशल और अनुरक्त भार्या हूँ। विशेषतः मेरेद्वारा आपका कोई अपराध भी नहीं हुआ है। यदि कोई अपराध हुआ है, तो वह दूसरेके ही द्वारा, मुझसे नहीं; तो भी आप मुझे त्यागकर क्यों चले जा रहे हैं ? ॥ ५ ॥

शक्ष्यसे ता गिरः सत्याः कर्तुं मयि नरेश्वर ।
यास्तेषां लोकपालानां संनिधौ कथिताः पुरा ॥ ६ ॥

'नरेश्वर ! आपने पहले स्वयंवरसभामें उन लोकपालोंके निकट जो बातें कही थीं, क्या आप उन्हें आज मेरे प्रति सत्य सिद्ध कर सकेंगे ? ॥ ६ ॥

नाकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां पुरुषर्षभ ।
तत्र कान्ता त्वयोत्सृष्टा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७ ॥

'पुरुषशिरोमणे ! मनुष्योंकी मृत्यु असमयमें नहीं होती, तभी तो आपकी यह प्रियतमा आपसे परित्यक्त होकर दो घड़ी भी जी रही है ॥ ७ ॥

पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान् पुरुषर्षभ ।
भीताहमतिदुर्धर्ष दर्शयात्मानमीश्वर ॥ ८ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ ! यहाँ इतना ही परिहास बहुत है। अत्यन्त दुर्धर्ष वीर ! मैं बहुत डर गयी हूँ। प्राणेश्वर ! अब मुझे अपना दर्शन दीजिये ॥ ८ ॥

दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष दृष्टोऽसि नैषध ।
आवार्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ ९ ॥

'राजन् ! निषधनरेश ! आप दीख रहे हैं, दीख रहे हैं, यह दिखायी दिये। लताओंद्वारा अपनेको छिपाकर आप मुझसे बात क्यों नहीं कर रहे हैं ? ॥ ९ ॥

नृशंसं बत राजेन्द्र यन्मामेवंगतामिह ।
विलपन्तीं समासाद्य नाश्वासयसि पार्थिव ॥ १० ॥

'राजेन्द्र ! मैं इस प्रकार भय और चिन्तामें पड़कर यहाँ विलाप कर रही हूँ और आप आकर आश्वासन भी नहीं देते ! भूपाल ! यह तो आपकी बड़ी निर्दयता है ॥ १० ॥

न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किंचन ।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचिमि ॥ ११ ॥

किसी बातका भी शोक नहीं है। मैं केवल आपके लिये शोक कर रही हूँ कि आप अकेले कैसी शोचनीय दशामें पड़ जायँगे ! ॥ ११ ॥

कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्षितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यसि ॥१२॥

'राजन् ! आप भूखे-प्यासे और परिश्रमसे थके-माँदे होकर जब सायंकाल किसी वृक्षके नीचे आकर विश्राम करेंगे, उस समय मुझे अपने पास न देखकर आपकी कैसी दशा हो जायगी ?' ॥ १२ ॥

ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ॥१३॥

तदनन्तर प्रचण्ड शोकसे पीड़ित हो क्रोधाग्निसे दग्ध होती हुई-सी दमयन्ती अत्यन्त दुखी हो रोने और इधर-उधर दौड़ने लगी ॥ १३ ॥

मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥१४॥

दमयन्ती बार-बार उठती और बार-बार विह्वल होकर गिर पड़ती थी। वह कभी भयभीत होकर छिपती और कभी जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगती थी ॥ १४ ॥

अतीव शोकसंतप्ता मुहुर्निःश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निःश्वस्य रुदत्यथ पतिव्रता ॥१५॥

अत्यन्त शोकसंतप्त हो बार-बार लम्बी साँसें खींचती हुई व्याकुल पतिव्रता दमयन्ती दीर्घ निःश्वास लेकर रोती हुई बोली— ॥ १५ ॥

यस्याभिशापाद् दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य नो दुःखाद् दुःखमप्यधिकं भवेत् ॥१६॥

'जिसके अभिशापसे निषधनरेश नल दुःखसे पीड़ित हो क्लेशपर क्लेश उठाते जा रहे हैं, उस प्राणीको हमलोगोंके दुःखसे भी अधिक दुःख प्राप्त हो ॥ १६ ॥

अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान् नलम् ।
तस्माद् दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ॥१७॥

'जिस पापीने पुण्यात्मा राजा नलको इस दशामें पहुँचाया है, वह उनसे भी भारी दुःखमें पड़कर दुःखकी ही जिंदगी बितावे' ॥ १७ ॥

एवं तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषमाणा भर्तारं वने श्वापदसेविते ॥१८॥
उन्मत्तवद् भीमसुता विलपन्ती इतस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्चेतश्च धावति ॥१९॥

इस प्रकार विलाप करती तथा हिंस्र जन्तुओंसे भरे हुए वनमें अपने पतिको ढूँढ़ती हुई महामना राजा नलकी पत्नी भीमकुमारी दमयन्ती उन्मत्त हुई रोती-बिलखती और 'हा राजन्, हा महाराज' ऐसा बार-बार कहती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी ॥ १८–१९ ॥

तां क्रन्दमानामत्यर्थं कुररीमिव वाशतीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ॥२०॥
सहसाभ्यागतां भैमीमभ्याशपरिवर्तिनीम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ॥२१॥

वह कुररी पक्षीकी भाँति जोर-जोरसे करुण क्रन्दन कर रही थी और अत्यन्त शोक करती हुई बार-बार विलाप कर रही थी। वहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक विशालकाय भूखा अजगर बैठा था। उसने बार-बार चक्कर लगाती सहसा निकट आयी हुई भीमकुमारी दमयन्तीको (पैरोंकी ओरसे) निगलना आरम्भ कर दिया ॥ २०–२१ ॥

सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च परिप्लुता ।
नात्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥२२॥

शोकमें डूबी हुई वैदर्भीको अजगर निगल रहा था, तो भी वह अपने लिये उतना शोक नहीं कर रही थी, जितना शोक उसे निषध-नरेश नलके लिये था ॥ २२ ॥

हा नाथ मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणानेन विजने किमर्थं नानुधावसि ॥२३॥

(वह विलाप करती हुई कहने लगी—) 'हा नाथ ! इस निर्जन वनमें यह अजगर सर्प मुझे अनाथकी भाँति निगल रहा है। आप मेरी रक्षाके लिये दौड़कर आते क्यों नहीं हैं ? ॥

कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
कथं भवाञ्जगामाद्य मामुत्सृज्य वने प्रभो ॥२४॥

'निषधनरेश ! यदि मैं मर गयी, तो मुझे बार-बार याद करके आपकी कैसी दशा हो जायगी ? प्रभो ! आज मुझे वनमें छोड़कर आप क्यों चले गये ? ॥ २४ ॥

पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ।
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य परिग्लानस्य नैषध ।
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति तेऽनघ ॥२५॥

'निष्पाप निषधनरेश ! इस संकटसे मुक्त होनेपर जब आपको पुनः शुद्ध बुद्धि, चेतना और धन आदिकी प्राप्ति होगी, उस समय मेरे बिना आपकी क्या दशा होगी ? नृपप्रवर ! जब आप भूखसे पीड़ित हो थके-माँदे एवं अत्यन्त खिन्न होंगे, उस समय आपकी उस थकावटको कौन दूर करेगा ?' ॥२५॥

ततः कश्चिन्मृगव्याधो विचरन् गहने वने ।
आक्रन्दमानां संश्रुत्य जवेनाभिससार ह ॥२६॥

इसी समय कोई व्याध उस गहन वनमें विचर रहा था। वह दमयन्तीका करुण क्रन्दन सुनकर बड़े वेगसे उधर आया ॥ २६ ॥

तां तु दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणायतेक्षणाम्।
त्वरमाणो मृगव्याधः समभिक्रम्य वेगतः ॥२७॥
मुखतः पाटयामास शस्त्रेण निशितेन च।
निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ॥२८॥
मोक्षयित्वा स तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन ह।
समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ॥२९॥

उस विशाल नयनोंवाली युवतीको अजगरके द्वारा उस प्रकार निगली जाती हुई देख व्याधने बड़ी उतावलीके साथ वेगसे दौड़कर तीखे शस्त्रसे शीघ्र ही उस अजगरका मुख फाड़ दिया। वह अजगर छटपटाकर चेष्टारहित हो गया। मृगोंको मारकर जीविका चलानेवाले उस व्याधने सर्पके टुकड़े-टुकड़े करके दमयन्तीको छुड़ाया। फिर जलसे उसके सर्पग्रस्त शरीरको धोकर उसे आश्वासन दे उसके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दी। भारत ! जब वह भोजनकर चुकी, तब व्याधने उससे पूछा—॥ २७-२९ ॥

कस्य त्वं मृगशावाक्षि कथं चाभ्यागता वनम्।
कथं चेदं महत् कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भाविनि ॥३०॥

'मृगलोचने ! तुम किसकी स्त्री हो और कैसे वनमें चली आयी हो ? भामिनि ! किस प्रकार तुम्हें यह महान् कष्ट प्राप्त हुआ है ?' ॥ ३० ॥

दमयन्ती तथा तेन पृच्छ्यमाना विशाम्पते।
सर्वमेतद् यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ॥३१॥

भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर ! व्याधके पूछनेपर दमयन्तीने उसे सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे कह सुनाया ॥ ३१ ॥

तामर्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम्।
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥३२॥
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम्।
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमीयिवान् ॥ ३३ ॥

स्थूल नितम्ब और स्तनोंवाली विदर्भकुमारीने आधे वस्त्रसे ही अपने अङ्गोंको ढँक रखा था। पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली दमयन्तीका एक-एक अङ्ग सुकुमार एवं निर्दोष था। उसकी आँखें तिरछी बरौनियोंसे सुशोभित थीं और वह बड़े मधुर स्वरमें बोल रही थी। इन सब बातोंकी ओर लक्ष्य करके वह व्याध कामके अधीन हो गया ॥ ३२-३३ ॥

तामेवं श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया।
सान्त्वयामास कामार्तस्तदबुध्यत भाविनी ॥ ३४ ॥

वह मधुर एवं कोमल वाणीसे उसे अपने अनुकूल बनानेके लिये भाँति-भाँतिके आश्वासन देने लगा। वह व्याध उस समय कामवेदनासे पीड़ित हो रहा था। सती दमयन्तीने उसके दूषित मनोभावको समझ लिया ॥ ३४ ॥

दमयन्त्यपि तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता।
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ॥ ३५ ॥

पतिव्रता दमयन्ती भी उसकी दुष्टताको समझकर तीव्र क्रोधके वशीभूत हो मानो रोषाग्निसे प्रज्वलित हो उठी ॥ ३५ ॥

स तु पापमतिः क्षुद्रः प्रधर्षयितुमातुरः।
दुर्धर्षां तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ॥ ३६ ॥

यद्यपि वह नीच पापात्मा व्याध उसपर बलात्कार करनेके लिये व्याकुल हो गया था, परंतु दमयन्ती अग्नि-शिखाकी भाँति उद्दीप्त हो रही थी; अतः उसका स्पर्श करना उसको अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हुआ ॥ ३६ ॥

दमयन्ती तु दुःखार्ता पतिराज्यविनाकृता।
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषान्विता ॥ ३७ ॥

पति तथा राज्य दोनोंसे वञ्चित होनेके कारण दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही थी। इधर व्याधकी कुचेष्टा वाणीद्वारा रोकनेपर रुक सके, ऐसी प्रतीत नहीं होती

थी । तब (उस व्याधपर अत्यन्त रुष्ट हो) उसने उसे शाप दे दिया—॥ ३७ ॥

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथायं पततां क्षुद्रो परासुर्मृगजीवनः ॥ ३८ ॥

'यदि मैं निषधराज नलके सिवा दूसरे किसी पुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती होऊँ, तो इसके प्रभावसे यह तुच्छ व्याध प्राणशून्य होकर गिर पड़े' ॥ ३८ ॥

उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः ॥ ३९ ॥

दमयन्तीके इतना कहते ही वह व्याध आगसे जले हुए वृक्षकी भाँति प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥
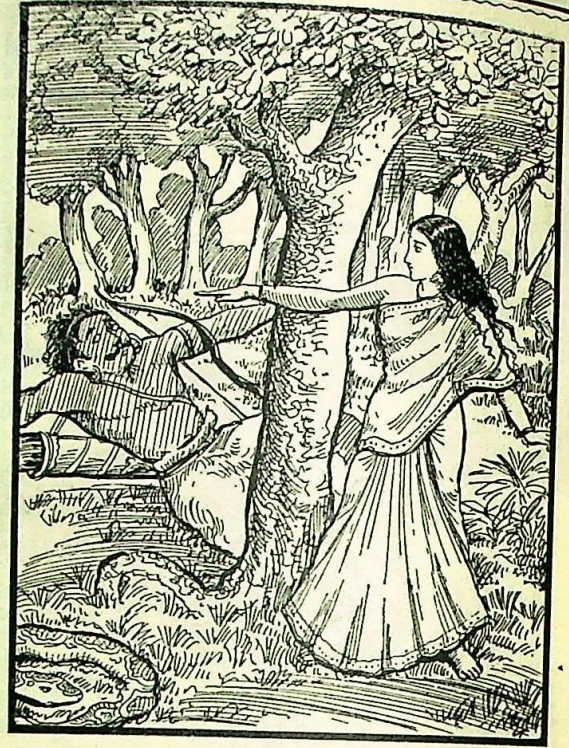
इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचनविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप और प्रलाप, तपस्वियोंद्वारा दमयन्तीको आश्वासन तथा उसकी व्यापारियोंके दलसे भेंट

बृहदश्व उवाच

सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा ।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! व्याधका विनाश करके वह कमलनयनी राजकुमारी झिल्लियोंकी झंकारसे गूँजते हुए निर्जन एवं भयंकर वनमें आगे बढ़ी ॥ १ ॥

सिंहद्वीपिरुरुव्याघ्रमहिषर्क्षगणैर्युतम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम् ॥ २ ॥

वह वन सिंह, चीतों, रुरुमृग, व्याघ्र, भैंसों तथा रीछ आदि पशुओंसे युक्त एवं भाँति-भाँतिके पक्षिसमुदायसे व्याप्त था । वहाँ म्लेच्छ और तस्करोंका निवास था ॥ २ ॥

शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेङ्गुदकिंशुकैः ।
अर्जुनारिष्टसंछन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः ॥ ३ ॥
जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरसालवेत्रसमाकुलम् ।
पद्मकामलकप्लक्षकदम्बोदुम्बरावृतम् ॥ ४ ॥
बदरीबिल्वसंछन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम् ।
प्रियालतालखर्जूरहरीतकविभीतकैः ॥ ५ ॥

शाल, वेणु, धव, पीपल, तिन्दुक, इंगुद, पलाश, अर्जुन, अरिष्ट, स्यन्दन (तिनिश), सेमल, जामुन, आम, लोध, खैर, साखू, बेंत, पद्मक, आँवला, पाकर, कदम्ब, गूलर, बेर, बेल, बरगद, प्रियाल, ताल, खजूर, हर्रे तथा बहेड़े आदि वृक्षोंसे वह विशाल वन परिपूर्ण हो रहा था ॥ ३—५ ॥

नानाधातुशतैर्नद्धान् विविधानपि चाचलान् ।
निकुञ्जान् परिसंघुष्टान् दरीश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ६ ॥

दमयन्तीने वहाँ सैकड़ों धातुओंसे संयुक्त नाना प्रकारके पर्वत, पक्षियोंके कलरवोंसे गुंजायमान कितने ही निकुंज और अद्भुत कन्दराएँ देखीं ॥ ६ ॥

नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान् ।
सा बहून् भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ७ ॥
पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः ।
सरितो निर्झरांश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान् ॥ ८ ॥

कितनी ही नदियों, सरोवरों, बावलियों तथा नाना प्रकारके मृगों और पक्षियोंको देखा । उसने बहुत-से भयानक रूपवाले पिशाच, नाग तथा राक्षस देखे । कितने ही गड्ढों, पोखरों और पर्वतशिखरोंका अवलोकन किया । सरिताओं और अद्भुत झरनोंको देखा ॥ ७-८ ॥

सती दमयन्तीके तेजसे पापी व्याधका विनाश

पृथशो ददृशे चात्र विदर्भाधिपनन्दिनी।
महिषांश्च वराहांश्च ऋक्षांश्च वनपन्नगान् ॥ ९ ॥
तेजसा यशसा लक्ष्म्या स्थित्या च परया युता।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा ॥ १० ॥

विदर्भराजनन्दिनीने उस वनमें झुंड-के-झुंड भैंसे, सूअर, रीछ और जंगली साँप देखे। तेज, यश, शोभा और परम धैर्यसे युक्त विदर्भकुमारी उस समय अकेली विचरती और नलको ढूँढ़ती थी ॥ ९-१० ॥

नाबिभ्यत् सा नृपसुता भैमी तत्राथ कस्यचित्।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनपीडिता ॥ ११ ॥

वह पतिके विरहरूपी संकटसे संतप्त थी। अतः राजकुमारी दमयन्ती उस भयंकर वनमें प्रवेश करके भी किसी जीव-जन्तुसे भयभीत नहीं हुई ॥ ११ ॥

विदर्भतनया राजन् विललाप सुदुःखिता।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलमथाश्रिता ॥ १२ ॥

राजन्! विदर्भकुमारी दमयन्तीके अङ्ग-अङ्गमें पतिके वियोगका शोक व्याप्त हो गया था, इसलिये वह अत्यन्त दुःखित हो एक शिलाके नीचे भागमें बैठकर बहुत विलाप करने लगी— ॥ १२ ॥

दमयन्त्युवाच

व्यूढोरस्क महाबाहो नैषधानां जनाधिप।
क नु राजन् गतोऽस्यद्य विसृज्य विजने वने ॥ १३ ॥
अश्वमेधादिभिर्वीर क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र मयि मिथ्या प्रवर्तसे ॥ १४ ॥

दमयन्ती बोली—चौड़ी छातीवाले महाबाहु निषधनरेश महाराज! आज इस निर्जन वनमें (मुझ अकेलीको) छोड़कर आप कहाँ चले गये? नरश्रेष्ठ! वीरशिरोमणे! प्रचुर दक्षिणावाले अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी आप मेरे साथ मिथ्या बर्ताव क्यों कर रहे हैं? ॥ १३-१४ ॥

यत् त्वयोक्तं नरश्रेष्ठ तत् समक्षं महाद्युते।
स्मर्तुमर्हसि कल्याण वचनं पार्थिवर्षभ ॥ १५ ॥

महातेजस्वी कल्याणमय राजाओंमें उत्तम नरश्रेष्ठ! आपने मेरे सामने जो बात कही थी, अपनी उस बातका स्मरण करना उचित है ॥ १५ ॥

यच्चोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप।
मत्समक्षं यदुक्तं च तदवेक्षितुमर्हसि ॥ १६ ॥

भूमिपाल! आकाशचारी हंसोंने आपके समीप तथा मेरे सामने जो बातें कही थीं, उनपर विचार कीजिये ॥ १६ ॥

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः ॥ १७ ॥

नरसिंह! एक ओर अङ्ग और उपाङ्गोंसहित विस्तारपूर्वक चारों वेदोंका स्वाध्याय हो और दूसरी ओर केवल सत्यभाषण हो तो वह निश्चय ही उससे बढ़कर है ॥ १७ ॥

तस्मादर्हसि शत्रुघ्न सत्यं कर्तुं नरेश्वर।
उक्तवानसि यद् वीर मत्सकाशे पुरा वचः ॥ १८ ॥

अतः शत्रुहन्ता नरेश्वर! वीर! आपने पहले मेरे समीप जो बातें कहीं हैं, उन्हें सत्य करना चाहिये ॥ १८ ॥

हा वीर नल नामाहं नष्टा किल तवानघ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ १९ ॥

हा निष्पाप वीर नल! आपकी मैं दमयन्ती इस भयंकर वनमें नष्ट हो रही हूँ, आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते? ॥ १९ ॥

कर्षयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि ॥ २० ॥

यह भयानक आकृतिवाला क्रूर सिंह भूखसे पीड़ित हो मुँह बाये खड़ा है और मुझपर आक्रमण करना चाहता है, क्या आप मेरी रक्षा नहीं कर सकते? ॥ २० ॥

न मे त्वदन्या काचिद्धि प्रियास्तीत्यब्रवीः सदा।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप ॥ २१ ॥

कल्याणमय नरेश! आप पहले जो सदा यह कहते थे कि तुम्हारे सिवा दूसरी कोई भी स्त्री मुझे प्रिय नहीं है, अपनी उस बातको सत्य कीजिये ॥ २१ ॥

उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप।
ईप्सितामीप्सितोऽसि त्वं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २२ ॥

महाराज! मैं आपकी प्रिय पत्नी हूँ और आप मेरे प्रियतम पति हैं, ऐसी दशामें भी मैं यहाँ उन्मत्त विलाप कर रही हूँ तो भी आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते! ॥ २२ ॥

कृशां दीनां विवर्णां च मलिनां वसुधाधिप।
वस्त्रार्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत् ॥ २३ ॥
यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन।
न मानयसि मामार्य रुदन्तीमरिकर्शन ॥ २४ ॥

पृथ्वीनाथ! मैं दीन, दुर्बल, कान्तिहीन और मलिन होकर आधे वस्त्रसे अपने अङ्गोंको ढककर अकेली अनाथ-सी विलाप कर रही हूँ। विशाल नेत्रोंवाले शत्रुसूदन आर्य! मेरी दशा अपने झुंडसे बिछुड़ी हुई हरिणीकी-सी हो रही है। मैं यहाँ अकेली रो रही हूँ। परंतु आप मेरा मान नहीं रखते हैं ॥ २३-२४ ॥

महाराज महारण्ये अहमेकाकिनी सती।
दमयन्त्यभिभाषे त्वां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २५ ॥

महाराज! इस महान् वनमें मैं सती दमयन्ती अकेली

आपको पुकार रही हूँ, आप मुझे उत्तर क्यों नहीं देते? ॥२५॥

कुलशीलोपसम्पन्न चारुसर्वाङ्गशोभन।
नाद्य त्वां प्रतिपश्यामि गिरावस्मिन् नरोत्तम ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप उत्तम कुल और श्रेष्ठ शीलस्वभावसे सम्पन्न हैं। आप अपने सम्पूर्ण मनोहर अङ्गोंसे सुशोभित होते हैं। आज इस पर्वत-शिखरपर मैं आपको नहीं देख पाती हूँ ॥

वने चास्मिन् महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते।
शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप ॥ २७ ॥

निषधनरेश ! इस महाभयंकर वनमें, जहाँ सिंह-व्याघ्र रहते हैं, आप कहीं सोये हैं, बैठे हैं अथवा खड़े हैं?॥ २७ ॥

प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्धन।
कं नु पृच्छामि दुःखार्ता त्वदर्थे शोककर्शिता ॥ २८ ॥

मेरे शोकको बढ़ानेवाले नरश्रेष्ठ ! आप यहीं हैं या कहीं अन्यत्र चल दिये, यह मैं किससे पूछूँ? आपके लिये शोकसे दुर्बल होकर मैं अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही हूँ ॥ २८ ॥

कच्चिद् दृष्टस्त्वयारण्ये संगत्येह नलो नृपः।
को नु मे वाथ प्रष्टव्यो वनेऽस्मिन् प्रस्थितं नलम् ॥ २९ ॥

'क्या तुमने इस वनमें राजा नलसे मिलकर उन्हें देखा है?' ऐसा प्रश्न अब मैं इस वनमें प्रस्थान करनेवाले नलके विषयमें किससे करूँ? ॥ २९ ॥

अभिरूपं महात्मानं परव्यूहविनाशनम्।
यमन्वेषसि राजानं नलं पद्मनिभेक्षणम् ॥ ३० ॥
अयं स इति कस्याद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम्।

'शत्रुओंके व्यूहका नाश करनेवाले जिन परम सुन्दर कमल-नयन महात्मा राजा नलको तू खोज रही है, वे यही तो हैं, ऐसी मधुर वाणी आज मैं किसके मुखसे सुनूँगी? ॥ ३०½ ॥

अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः ॥ ३१ ॥
शार्दूलोऽभिमुखोऽभ्येति व्रजाम्येनमशङ्किता।
भवान् मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन् कानने प्रभुः ॥ ३२ ॥

यह वनका राजा कान्तिमान् सिंह मेरे सामने चला आ रहा है, इसके चार दाढ़ें और विशाल ठोड़ी है। मैं निःशङ्क होकर इसके सामने जा रही हूँ और कहती हूँ, 'आप मृगोंके राजा और इस वनके स्वामी हैं ॥ ३१-३२ ॥

विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम्।
निषधाधिपतेर्भार्यां नलस्यामित्रघातिनः ॥ ३३ ॥

'मैं विदर्भराजकुमारी दमयन्ती हूँ। मुझे शत्रुघाती निषध-नरेश नलकी पत्नी समझिये ॥ ३३ ॥

पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्शिताम्।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ॥ ३४ ॥

'मृगेन्द्र ! मैं इस वनमें अकेली पतिकी खोजमें भटक रही हूँ तथा शोकसे पीडित एवं दीन हो रही हूँ। यदि आपने नलको यहाँ कहीं देखा हो तो उनका कुशल-समाचार बताकर मुझे आश्वासन दीजिये ॥ ३४ ॥

अथवा त्वं वनपते नलं यदि न शंससि।
मां खादय मृगश्रेष्ठ दुःखादस्माद् विमोचय ॥ ३५ ॥

'अथवा वनराज मृगश्रेष्ठ ! यदि आप नलके विषयमें कुछ नहीं बताते हैं तो मुझे खा जायँ और इस दुःखसे छुटकारा दे दें' ॥ ३५ ॥

श्रुत्वारण्ये विलपितं न मामाश्वासयत्ययम्।
यात्येतां स्वादुसलिलामापगां सागरंगमाम् ॥ ३६ ॥

अहो ! इस घोर वनमें मेरा विलाप सुनकर भी यह सिंह मुझे सान्त्वना नहीं देता। यह तो स्वादिष्ट जलसे भरी हुई इस समुद्रगामिनी नदीकी ओर जा रहा है ॥ ३६ ॥

इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः।
विराजद्भिरिवानेकैर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ॥ ३७ ॥

अच्छा, इस पवित्र पर्वतसे ही पूछती हूँ। यह बहुत-से ऊँचे-ऊँचे शोभाशाली बहुरंगे एवं मनोरम शिखरोंद्वारा सुशोभित है ॥ ३७ ॥

नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम्।
अस्यारण्यस्य महतः केतुभूतमिवोत्थितम् ॥ ३८ ॥

अनेक प्रकारके धातुओंसे व्याप्त और भाँति-भाँतिके शिला-खण्डोंसे विभूषित है। यह पर्वत इस महान् वनकी ऊपर उठी हुई पताकाके समान जान पड़ता है ॥ ३८ ॥

सिंहशार्दूलमातङ्गवराहर्क्षमृगायुतम्।
पतत्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ॥ ३९ ॥

यह सिंह, व्याघ्र, हाथी, सूअर, रीछ और मृगोंसे परिपूर्ण है। इसके चारों ओर अनेक प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे हैं ॥ ३९ ॥

किंशुकाशोकबकुलपुन्नागैरुपशोभितम्।
कर्णिकारधवप्लक्षैः सुपुष्पैरुपशोभितम् ॥ ४० ॥

पलाश, अशोक, बकुल, पुन्नाग, कनेर, धव तथा प्लक्ष आदि सुन्दर फूलोंवाले वृक्षोंसे वह पर्वत सुशोभित हो रहा है ॥ ४० ॥

सरिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्च समाकुलम्।
गिरिराजमिमं तावत् पृच्छामि नृपतिं प्रति ॥ ४१ ॥

यह पर्वत अनेक सरिताओं, सुन्दर पक्षियों और शिखरोंसे परिपूर्ण है। अब मैं इसी गिरिराजसे महाराज नलका समाचार पूछती हूँ ॥ ४१ ॥

भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत।
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ॥ ४२ ॥

…भगवन् ! अचलप्रवर ! दिव्य दृष्टिवाले ! विख्यात ! …को शरण देनेवाले परम कल्याणमय महीधर ! आपको …स्कार है ॥ ४२ ॥

…मास्यभिगम्याहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
…ः स्नुषां राजभार्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ॥ ४३॥

'मैं निकट आकर आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ । …मेरा परिचय इस प्रकार जानें, मैं राजाकी पुत्री, राजाकी …वधू तथा राजाकी ही पत्नी हूँ । मेरी 'दमयन्ती' नामसे …सिद्धि है ॥ ४३ ॥

…ा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
…मो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥ ४४॥

'विदर्भदेशके स्वामी महारथी भीम नामक राजा मेरे …ा हैं । वे पृथ्वीके पालक तथा चारों वर्णोंके रक्षक हैं ॥

…जसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
…हर्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ४५ ॥

'उन्होंने (प्रचुर) दक्षिणावाले राजसूय तथा अश्वमेध …मक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । वे भूमिपालोंमें श्रेष्ठ हैं । …के नेत्र बड़े, चञ्चल और सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥

…ह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
…लवान् वीर्यसम्पन्नः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ॥ ४६ ॥

'वे ब्राह्मणभक्त, सदाचारी, सत्यवादी, किसीके दोषको … देखनेवाले, शीलवान्, पराक्रमी, प्रचुर सम्पत्तिके स्वामी, …र्मज्ञ तथा पवित्र हैं ॥ ४६ ॥

…म्यग् गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
…स्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ॥ ४७ ॥

'वे विदर्भदेशकी जनताका अच्छी तरह पालन करनेवाले …। उन्होंने समस्त शत्रुओंको जीत लिया है, वे बड़े शक्ति- …ाली हैं । भगवन् ! मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये । मैं आपकी …वामें (एक जिज्ञासा लेकर) उपस्थित हुई हूँ ॥ ४७ ॥

…निषधेषु महाराजः श्वशुरो मे नरोत्तमः ।
…गृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ॥ ४८ ॥

'निषधदेशके महाराज मेरे श्वशुर थे, वे प्रातःस्मरणीय नर- …श्रेष्ठ वीरसेनके नामसे विख्यात थे ॥ ४८ ॥

तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान् सत्यपराक्रमः ।
…क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह॥ ४९ ॥

'उन्हीं महाराज वीरसेनके एक वीर पुत्र हैं, जो बड़े ही सुन्दर और सत्यपराक्रमी हैं । वे वंशपरम्परासे प्राप्त अपने पिताके राज्यका पालन करते हैं ॥ ४९ ॥

नलो नामारिहा श्यामः पुण्यश्लोक इति श्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद् वाग्मी पुण्यकृत् सोमपोऽग्निमान्॥५०॥

'उनका नाम नल है । शत्रुदमन, श्यामसुन्दर राजा नल पुण्यश्लोक कहे जाते हैं । वे बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, वक्ता, पुण्यात्मा, सोमपान करनेवाले और अग्निहोत्री हैं ॥ ५० ॥

यष्टा दाता च योद्धा च सम्यक् चैव प्रशासिता ।
तस्य मामबलां श्रेष्ठां विद्धि भार्यामिहागताम् ॥ ५१ ॥
त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम् ।
अन्वेषमाणां भर्तारं त्वं मां पर्वतसत्तम ॥ ५२ ॥

'वे एक अच्छे यज्ञकर्ता, उत्तम दाता, शूरवीर योद्धा और श्रेष्ठ शासक हैं, आप मुझे उन्हींकी श्रेष्ठ पत्नी समझ लीजिये । मैं अबला नारी आपके निकट यहाँ उन्हींकी कुशल पूछनेके लिये आयी हूँ । गिरिराज ! (मेरे स्वामी मुझे छोड़कर कहीं चले गये हैं) । मैं धन-सम्पत्तिसे वञ्चित, पतिदेवसे रहित, अनाथ और सङ्कटोंकी मारी हुई हूँ । इस वनमें अपने पतिकी ही खोज कर रही हूँ ॥ ५१-५२ ॥

समुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृपः ।
कच्चिद् दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन् दारुणे नलः ॥ ५३ ॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! क्या आपने इन सैकड़ों गगनचुम्बी शिखरों-द्वारा इस भयानक वनमें कहीं राजा नलको देखा है ? ॥ ५३ ॥

गजेन्द्रविक्रमो धीमान् दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्त्ववान् वीरो भर्ता मम महायशाः ॥ ५४ ॥
निषधानामधिपतिः कच्चिद् दृष्टस्त्वया नलः ।
विलपतीं किमेकां मां पर्वतश्रेष्ठ विह्वलाम् ॥ ५५ ॥
गिरा नाश्वासयस्यद्य स्वां सुतामिव दुःखिताम् ।

'मेरे महायशस्वी स्वामी निषधराज नल गजराजकी-सी चालसे चलते हैं । वे बड़े बुद्धिमान्, महाबाहु, अमर्षशील (दुःख-को न सह सकनेवाले), पराक्रमी, धैर्यवान् तथा वीर हैं । क्या आपने कहीं उन्हें देखा है ? गिरिश्रेष्ठ ! मैं आपकी पुत्रीके समान हूँ और (पतिके वियोगसे बहुत ही) दुखी हूँ । क्या आप व्याकुल होकर अकेली विलाप करती हुई मुझ अबलाको आज अपनी वाणीद्वारा आश्वासन न देंगे ?' ॥ ५४-५५½ ॥

वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसंध महीपते ॥ ५६ ॥
यद्यस्यस्मिन् वने राजन् दर्शयात्मानमात्मना ।

वीर ! धर्मज्ञ ! सत्यप्रतिज्ञ और पराक्रमी महीपाल ! यदि आप इसी वनमें हैं तो राजन् ! अपने-आपको प्रकट करके मुझे दर्शन दीजिये ॥ ५६½ ॥

कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसंनिभाम् ॥ ५७ ॥
श्रोष्यामि नैषधस्याहं वाचं तामममृतोपमाम् ।
वैदर्भीत्येव विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ॥ ५८ ॥
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।

मैं कब निषधराज नलकी मेघ-गर्जनाके समान स्निग्ध,…

गम्भीर, अमृतोपम वह मधुर वाणी सुनूँगी। उन महामना राजाके मुखसे 'वैदर्भि !' इस सम्बोधनसे युक्त शुभ, स्पष्ट, वेदके अनुकूल, सुन्दर पद और अर्थसे युक्त तथा मेरे शोकका विनाश करनेवाली वाणी मुझे कब सुनायी देगी ॥ ५७-५८½ ॥

भीतामाश्वासयत मां नृपते धर्मवत्सल ॥ ५९ ॥

धर्मवत्सल नरेश्वर ! मुझ भयभीत अबलाको आश्वासन दीजिये ॥ ५९ ॥

इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी।
दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार उस श्रेष्ठ पर्वतसे कहकर वह राजकुमारी दमयन्ती फिर वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर चल दीं ॥ ६० ॥

सा गत्वा त्रीनहोरात्रान् ददर्श परमाङ्गना ।
तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननशोभितम् ॥ ६१ ॥

लगातार तीन दिन और तीन रात चलनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नारीने तपस्वियोंसे युक्त एक वन देखा, जो अनुपम तथा दिव्य वनसे सुशोभित था ॥ ६१ ॥

वसिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम् ।
नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ॥ ६२ ॥

तथा वसिष्ठ, भृगु और अत्रिके समान नियम-परायण, मिताहारी तथा (शम,) दम, शौच आदिसे सम्पन्न तपस्वियोंसे वह शोभायमान हो रहा था ॥ ६२ ॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पत्राहारैस्तथैव च ।
जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गदिदृक्षुभिः ॥ ६३ ॥

वहाँ कुछ तपस्वीलोग केवल जल पीकर रहते थे और कुछ लोग वायु पीकर। कितने ही केवल पत्ते चबाकर रहते थे। वे जितेन्द्रिय महाभाग स्वर्गलोकके मार्गका दर्शन करना चाहते थे ॥ ६३ ॥

वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः ।
तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ६४ ॥

वल्कल और मृगचर्म धारण करनेवाले उन जितेन्द्रिय मुनियोंसे सेवित एक रमणीय आश्रममण्डल दिखायी दिया, जिसमें प्रायः तपस्वीलोग ही निवास करते थे ॥ ६४ ॥

नानामृगगणैर्जुष्टं शाखामृगगणायुतम् ।
तापसैः समुपेतं च सा दृष्ट्वैव समाश्वसत् ॥ ६५ ॥

उस आश्रममें नाना प्रकारके मृगों और वानरोंके समुदाय भी विचरते रहते थे। तपस्वी महात्माओंसे भरे हुए उस आश्रमको देखते ही दमयन्तीको बड़ी सान्त्वना मिली ॥ ६५ ॥

सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना ।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ॥ ६६ ॥

उसकी भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। केश मनोहर जान पड़ते थे। नितम्बभाग, स्तन, दन्तपंक्ति और मुख सभी सुन्दर थे। उसके मनोहर कजरारे नेत्र विशाल थे। वह तेजस्विनी और प्रतिष्ठित थी ॥ ६६ ॥

सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ।
योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती तपस्विनी ॥ ६७ ॥

महाराज वीरसेनकी पुत्रवधू रमणीशिरोमणि महाभागा तपस्विनी उस दमयन्तीने आश्रमके भीतर प्रवेश किया ॥ ६७ ॥

साभिवाद्य तपोवृद्धान् विनयावनता स्थिता ।
स्वागतं त इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसोत्तमैः ॥ ६८ ॥

वहाँ तपोवृद्ध महात्माओंको प्रणाम करके वह उनके समीप विनीत भावसे खड़ी हो गयी। तब वहाँके सभी श्रेष्ठ तपस्वीजनोंने उससे कहा—'देवि ! तुम्हारा स्वागत है' ॥ ६८ ॥

पूजां चास्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः ।
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ॥ ६९ ॥

तदनन्तर वहाँ दमयन्तीका यथोचित आदर-सत्कार करके उन तपोधनोंने कहा—'शुभे ! बैठो, बताओ, हम तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करें' ॥ ६९ ॥

तानुवाच वरारोहा कच्चिद् भगवतामिह ।
तपःस्वग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चानघाः ॥ ७० ॥
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च ।
तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनि ॥ ७१ ॥

उस समय सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्तीने उनसे कहा—'भगवन् ! निष्पाप महाभागगण ! यहाँ तप, अग्निहोत्र, धर्म, मृग और पक्षियोंके पालन तथा अपने धर्मके आचरण आदि विषयोंमें आपलोग सकुशल हैं न ?' तब उन महात्माओंने कहा—'भद्रे ! यशस्विनि ! सर्वत्र कुशल है ॥ ७०-७१ ॥

ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किं च चिकीर्षसि ।
दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिं च परमामिह ॥ ७२ ॥
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वसिहि मा शुचः ।
अस्यारण्यस्य देवी त्वमुताहोऽस्य महीभृतः ॥ ७३ ॥

'सर्वाङ्गसुन्दरी ! बताओ, तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो ? तुम्हारे उत्तम रूप और परम सुन्दर कान्तिको यहाँ देखकर हमें बड़ा विस्मय हो रहा है। धैर्य धारण करो, शोक न करो। तुम इस वनकी देवी हो या इस पर्वतकी अधिदेवता ॥ ७२-७३ ॥

अस्याश्च नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते ।
साब्रवीत् तानृषीन् नाहमरण्यस्यास्य देवता ॥ ७४ ॥
न चाप्यस्य गिरेर्विप्रा नैव नद्याश्च देवता ।
मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ॥ ७५ ॥

'अनिन्दिते ! कल्याणि ! अथवा तुम इस नदीकी अधिष्ठात्री देवी हो, सच-सच बताओ ।' दमयन्तीने उन ऋषियोंसे कहा—तपस्याके धनी ब्राह्मणो ! न तो मैं इस वनकी देवी हूँ, न पर्वतकी अधिदेवता और न इस नदीकी ही देवी हूँ । आप सब लोग मुझे मानवी समझें ॥ ७४-७५ ॥

विस्तरेणाभिधास्यामि तन्मे शृणुत सर्वशः ।
विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महीपतिः ॥ ७६ ॥

'मैं विस्तारपूर्वक अपना परिचय दे रही हूँ, आपलोग सुनें । विदर्भदेशमें भीम नामसे प्रसिद्ध एक भूमिपाल हैं ॥

तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः ।
निषधाधिपतिर्धीमान् नलो नाम महायशाः ॥ ७७ ॥
वीरः संग्रामजिद् विद्वान् मम भर्ता विशाम्पतिः ।
देवताभ्यर्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ॥ ७८ ॥

'द्विजवरो ! आप सब महात्मा जान लें, मैं उन्हीं महाराजकी पुत्री हूँ । निषध देशके स्वामी, संग्रामविजयी, वीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, प्रजापालक महायशस्वी राजा नल मेरे पति हैं । वे देवताओंके पूजनमें संलग्न रहते हैं और ब्राह्मणोंके प्रति उनके हृदयमें बड़ा स्नेह है ॥ ७७-७८ ॥

गोप्ता निषधवंशस्य महातेजा महाबलः ।
सत्यवान् धर्मवित् प्राज्ञः सत्यसंधोऽरिमर्दनः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान् परपुरंजयः ।
नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः ॥ ८० ॥
मम भर्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा ।
आहर्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ८१ ॥

'वे निषधकुलके रक्षक, महातेजस्वी, महाबली, सत्यवादी, धर्मज्ञ, विद्वान्, सत्यप्रतिज्ञ, शत्रुमर्दन, ब्राह्मणभक्त, देवोपासक, शोभा और सम्पत्तिसे युक्त तथा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले हैं । मेरे स्वामी नृपश्रेष्ठ नल देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं । उनके नेत्र विशाल हैं, उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, वे शत्रुओंका संहार करनेवाले, बड़े-बड़े यज्ञोंके आयोजक और वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् हैं ॥ ७९-८१ ॥

सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः ।
स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ ८२ ॥
आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः ।
देवने कुशलैर्जिह्मैर्हृतं राज्यं वसूनि च ॥ ८३ ॥

'युद्धमें उन्होंने कितने ही शत्रुओंका संहार किया है । वे सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी और कान्तिमान् हैं । एक दिन कुछ कपटकुशल, अजितेन्द्रिय, अनार्य, कुटिल तथा द्यूतनिपुण जुआरिओंने उन सत्यधर्मपरायण महाराज नलको जूएके लिये आवाहन करके उनके सारे राज्य और धनका अपहरण कर लिया ॥ ८२-८३ ॥

तस्य मामवगच्छध्वं भार्यां राजर्षभस्य वै ।
दमयन्तीति विख्यातां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥ ८४ ॥

'आप दमयन्ती नामसे विख्यात मुझे उन्हीं नृपश्रेष्ठ नलकी पत्नी जानें । मैंअपने स्वामीके दर्शनके लिये उत्सुक हो रही हूँ ॥

सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा ।
पल्वलानि च सर्वाणि तथारण्यानि सर्वशः ॥ ८५ ॥
अन्वेषमाणा भर्तारं नलं रणविशारदम् ।
महात्मानं कृतास्त्रं च विचरामीह दुःखिता ॥ ८६ ॥

'मेरे पति महामना नल युद्धकलामें कुशल और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् हैं । मैं उन्हींकी खोज करती हुई वन, पर्वत, सरोवर, नदी, गड्ढे और सभी जंगलोंमें दुखी होकर घूमती हूँ ॥ ८५-८६ ॥

कच्चिद् भगवतां रम्यं तपोवनमिदं नृपः ।
भवेत् प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ॥ ८७ ॥
यत्कृतेऽहमिदं ब्रह्मन् प्रपन्ना भृशदारुणम् ।
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ॥ ८८ ॥

'भगवन् ! क्या आपके इस रमणीय तपोवनमें निषध-नरेश नल आये थे ? ब्रह्मन् ! जिनके लिये मैं व्याघ्र, सिंह आदि पशुओंसे सेवित अत्यन्त दारुण, भयंकर, घोर वनमें आयी हूँ ॥ ८७-८८ ॥

यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम् ।
आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्यास्य विमोचनात् ॥ ८९ ॥

'यदि कुछ ही दिन-रातमें मैं राजा नलको नहीं देखूँगी तो इस शरीरका परित्याग करके आत्माका कल्याण करूँगी ॥

को नु मे जीवितेनार्थस्तमृते पुरुषर्षभम् ।
कथं भविष्याम्यद्याहं भर्तृशोकाभिपीडिता ॥ ९० ॥

'उन पुरुषरत्न नलके बिना जीवन धारण करनेसे मेरा क्या प्रयोजन है ? अब मैं पतिशोकसे पीडित होकर न जाने कैसी हो जाऊँगी ?' ॥ ९० ॥

तथा विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम् ।
दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यदर्शिनः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार वनमें अकेली विलाप करती हुई भीमनन्दिनी दमयन्तीसे सत्यका दर्शन करनेवाले उन तपस्वियोंने कहा—॥

उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे ।
वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ॥ ९२ ॥

'कल्याणि ! शुभे ! हम अपने तपोबलसे देख रहे हैं, तुम्हारा भविष्य परम कल्याणमय होगा । तुम शीघ्र ही निषध-नरेश नलका दर्शन प्राप्त करोगी ॥ ९२ ॥

निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिपातिनम् ।
भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ॥ ९३ ॥

'भीमकुमारी ! तुम शत्रुओंका संहार करनेवाले निषध देशके अधिपति और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा नलको सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित देखोगी ॥ ९३ ॥

विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम् ।
तदेव नगरं श्रेष्ठं प्रशासतमरिंदमम् ॥ ९४ ॥
द्विषतां भयकर्तारं सुहृदां शोकनाशनम् ।
पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम् ॥ ९५ ॥

'तुम्हारे पति सब प्रकारके पापजनित दुःखोंसे मुक्त और सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न होंगे । शत्रुदमन राजा नल फिर उसी श्रेष्ठ नगरका शासन करेंगे । वे शत्रुओंके लिये भयदायक और सुहृदोंके लिये शोकका नाश करनेवाले होंगे । कल्याणि ! इस प्रकार सत्कुलमें उत्पन्न अपने पतिको तुम (नरेशके पदपर प्रतिष्ठित) देखोगी' ॥ ९४-९५ ॥

एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम् ।
अन्तर्हितास्तापसास्ते साग्निहोत्राश्रमास्तथा ॥ ९६ ॥

नलकी प्रियतमा महारानी राजकुमारी दमयन्तीसे ऐसा कहकर वे सभी तपस्वी अग्निहोत्र और आश्रमसहित अदृश्य हो गये ॥ ९६ ॥

सा दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता ह्यभवत् तदा ।
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ॥ ९७ ॥

उस समय राजा वीरसेनकी पुत्रवधू सर्वाङ्गसुन्दरी दमयन्ती वह महान् आश्चर्यकी बात देखकर बड़े विस्मयमें पड़ गयी । ९७ ।

किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाभवत् ।
क्व नु ते तापसाः सर्वे क्व तदाश्रममण्डलम् ॥ ९८ ॥

(उसने सोचा—)'क्या मैंने कोई स्वप्न देखा है ? यहाँ यह कैसी अद्भुत घटना हो गयी ? वे सब तपस्वी कहाँ चले गये और वह आश्रममण्डल कहाँ है ? ॥ ९८ ॥

क्व सा पुण्यजला रम्या नदी द्विजनिषेविता ।
क्व नु ते ह नगा हृद्याः फलपुष्पोपशोभिताः ॥ ९९ ॥

'वह पुण्यसलिला रमणीय नदी, जिसपर पक्षी निवास कर रहे थे, कहाँ चली गयी ? फल और फूलोंसे सुशोभित वे मनोरम वृक्ष कहाँ विलीन हो गये' ॥ ९९ ॥

ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता ।
भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाभवत् ॥१००॥

पवित्र मुसकानवाली भीमपुत्री दमयन्ती बहुत देरतक इन सब बातोंपर विचार करती रही । तत्पश्चात् वह पति-शोक-परायण और दीन हो गयी तथा उसके मुखपर उदासी छा गयी ॥ १०० ॥

सा गत्वाथापरां भूमिं बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
विललापाश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाशोकतरुं ततः ॥१०१॥
उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं वने ।
पल्लवापीडितं हृद्यं विहङ्गैरनुनादितम् ॥१०२॥

तदनन्तर वह दूसरे स्थानपर जाकर अश्रुगद्गद वाणीसे विलाप करने लगी । उसने आँसू भरे नेत्रोंसे देखा, वहाँसे कुछ ही दूरपर एक अशोकका वृक्ष था । दमयन्ती उसके पास गयी । वह तरुवर अशोक फूलोंसे भरा था । उस वनमें पल्लवोंसे लदा हुआ और पक्षियोंके कलरवोंसे गुञ्जायमान वह वृक्ष बड़ा ही मनोरम जान पड़ता था ॥ १०१-१०२ ॥

अहो बतायमगमः श्रीमानस्मिन् वनान्तरे ।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान् पर्वतराडिव ॥१०३॥

(उसे देखकर वह मन-ही-मन कहने लगी—) 'अहो ! इस वनके भीतर यह अशोक बड़ा ही सुन्दर है । यह अनेक प्रकारके फल, फूल आदि अलङ्कारोंसे अलंकृत सुन्दर गिरिराजकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ॥ १०३ ॥

विशोकां कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन ।
वीतशोकभयाबाधं कच्चित् त्वं दृष्टवान् नृपम् ॥१०४॥
नलं नामारिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम् ।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ॥१०५॥

(अब उसने अशोकसे कहा—) 'प्रियदर्शन अशोक ! तुम शीघ्र ही मेरा शोक दूर कर दो । क्या तुमने शोक, भय और बाधासे रहित शत्रुदमन राजा नलको देखा है ? क्या मेरे प्रियतम, दमयन्तीके प्राणवल्लभ, निषधनरेश नलपर तुम्हारी दृष्टि पड़ी है ? ॥ १०४-१०५ ॥

एकवस्त्रार्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम् ।
व्यसनेनार्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ॥१०६॥

'उन्होंने एक साड़ीके आधे टुकड़ेसे अपने शरीरको ढँक रक्खा है, उनके अङ्गोंकी त्वचा बड़ी सुकुमार है । वे वीरवर नल भारी संकटसे पीडित होकर इस वनमें आये हैं ॥

यथा विशोका गच्छेयमशोकनग तत् कुरु ।
सत्यनामा भवाशोक अशोकः शोकनाशनः ॥१०७॥

'अशोक वृक्ष ! तुम ऐसा करो, जिससे मैं यहाँसे शोकरहित होकर जाऊँ । अशोक उसे कहते हैं, जो शोकका नाश करनेवाला हो, अतः अशोक ! तुम अपने नामको सत्य एवं सार्थक करो' ॥ १०७ ॥

एवं साशोकवृक्षं तमार्ता वै परिगम्य ह ।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ॥१०८॥

इस प्रकार शोकार्त हुई सुन्दरी दमयन्ती उस अशोक वृक्षकी परिक्रमा करके वहाँसे अत्यन्त भयंकर स्थानकी ओर गयी ॥

सा ददर्श नगान् नैकान् नैकांश्च सरितस्तथा ।
नैकांश्च पर्वतान् रम्यान् नैकांश्च मृगपक्षिणः ॥१०९॥

कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदीश्चाद्भुतदर्शनाः ।
ददर्श तान् भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ॥११०॥
गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥१११॥
उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम् ।
सुशीततोयां विस्तीर्णां ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम् ॥११२॥

उसने अनेक प्रकारके वृक्ष, अनेकानेक सरिताओं, बहुसंख्यक रमणीय पर्वतों, अनेक मृग-पक्षियों, पर्वतकी कन्दराओं तथा उनके मध्य भागों और अद्भुत नदियोंको देखा। पतिका अन्वेषण करनेवाली दमयन्तीने उस समय पूर्वोक्त सभी वस्तुओंको देखा। इस तरह बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीने एक बहुत बड़े सार्थ (व्यापारियोंके दल) को देखा, जो हाथी, घोड़े तथा रथसे व्याप्त था। वह व्यापारियोंका समूह स्वच्छ जलसे सुशोभित एक सुन्दर रमणीय नदीको पार कर रहा था। नदीका जल बहुत ठंडा था। उसका पाट चौड़ा था। उसमें कई कुण्ड थे और वह किनारेपर उगे हुए बेंतके वृक्षोंसे आच्छादित हो रही थी ॥

प्रोद्घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्चक्रवाकोपकूजिताम् ।
कूर्मग्राहझषाकीर्णां विपुलद्वीपशोभिताम् ॥११३॥

उसके तटपर क्रौञ्च, कुरर और चक्रवाक आदि पक्षी कूज रहे थे। कछुए, मगर और मछलियोंसे भरी हुई वह नदी विस्तृत टापूसे सुशोभित हो रही थी ॥ ११३ ॥

सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी ।
उपसर्प्य वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ॥११४॥

उस बहुत बड़े समूहको देखते ही यशस्विनी नलपत्नी सुन्दरी दमयन्ती उसके पास पहुँच कर लोगोंकी भीड़में घुस गयी ॥

उन्मत्तरूपा शोकार्ता तथा वस्त्रार्धसंवृता ।
कृशा विवर्णा मलिना पांसुध्वस्तशिरोरुहा ॥११५॥

उसका रूप उन्मत्त स्त्रीका-सा जान पड़ता था, वह शोकसे पीडित, दुर्बल, उदास और मलिन हो रही थी। उसने आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढक रखा था और उसके केशोंपर धूल जम गयी थी ॥ ११५ ॥

तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तापरा जग्मुः केचित् तत्र विचुक्रुशुः ॥११६॥

वहाँ दमयन्तीको सहसा देखकर कितने ही मनुष्य भयसे भाग खड़े हुए। कोई-कोई भारी चिन्तामें पड़ गये और कुछ लोग तो चीखने-चिल्लाने लगे ॥ ११६ ॥

प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्ति चापरे ।
अकुर्वत दयां केचित् पप्रच्छुश्चापि भारत ॥११७॥

कुछ लोग उसकी हँसी उड़ाते थे और कुछ उसमें दोष देख रहे थे। भारत! उन्हींमें कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसका समाचार पूछा—॥

कासि कस्यासि कल्याणि किं वा मृगयसे वने ।
त्वां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह कच्चित् त्वमसि मानुषी ॥११८॥

'कल्याणि! तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो और इस वनमें क्या खोज रही हो? तुम्हें देखकर हम बहुत दुखी हैं। क्या तुम मानवी हो? ॥ ११८ ॥

वद सत्यं वनस्यास्य पर्वतस्याथवा दिशः ।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥११९॥

'कल्याणि! सच बताओ, तुम इस वन, पर्वत अथवा दिशाकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो? हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं ॥ ११९ ॥

यक्षी वा राक्षसी वा त्वमुताहोऽसि वराङ्गना ।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्ष चास्माननिन्दिते ॥१२०॥
यथायं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत् ।
तथा विधत्स्व कल्याणि यथा श्रेयो हि नो भवेत् ॥१२१॥

'तुम यक्षी हो या राक्षसी अथवा कोई श्रेष्ठ देवाङ्गना हो? अनिन्दिते! सर्वथा हमारा कल्याण एवं संरक्षण करो। कल्याणी! यह हमारा समूह शीघ्र कुशलपूर्वक यहाँसे चला जाय और हमलोगोंका सब प्रकारसे भला हो, ऐसी कृपा करो' ॥

तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा ।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनपीडिता ॥१२२॥

उस यात्रीदलके द्वारा जब ऐसी बात कही गयी, तब पतिके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित साध्वी राजकुमारी दमयन्तीने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १२२ ॥

सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन ।
युवस्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ॥१२३॥
मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम् ।
नृपस्नुषां राजभार्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥१२४॥

'इस जनसमुदायके जो सरदार हों, उनसे, इस जनसमूहसे तथा इसके (भीतर रहनेवाले और) आगे चलनेवाले जो बाल-वृद्ध और युवक मनुष्य हों, उन सबसे मेरा यह कहना है कि आप सब लोग मुझे मानवी समझें। मैं एक नरेशपुत्री, महाराजकी पुत्रवधू तथा राजपत्नी हूँ। अपने स्वामीके दर्शनकी इच्छासे इस वनमें भटक रही हूँ १२३-१२४

विदर्भराण्मम पिता भर्ता राजा च नैषधः ।
नलो नाम महाभागस्तं मृग्याम्यपराजितम् ॥१२५॥

'विदर्भराज भीम मेरे पिता हैं, निषधनरेश महाभाग राजा नल मेरे पति हैं। मैं उन्हीं अपराजित वीर नलकी खोज कर रही हूँ ॥ १२५ ॥

यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम् ।
नलं पुरुषशार्दूलममित्रगणसूदनम् ॥१२६॥

'यदि आपलोग शत्रुसमूहका संहार करनेवाले मेरे प्रियतम पुरुषसिंह महाराज नलके विषयमें कुछ जानते हों तो शीघ्र बतावें' ॥ १२६ ॥

तामुवाचानवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः ।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः ॥१२७॥

उस महान् समूहका मालिक और समस्त यात्रीदलका संचालक (वणिक्) शुचिनामसे प्रसिद्ध था । उसने उस सुन्दरीसे कहा—'कल्याणि ! मेरी बात सुनो ॥ १२७ ॥

अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते ।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ॥१२८॥

'शुचिस्मिते ! मैं इस दलका नेता और संचालक हूँ । यशस्विनि ! मैंने नल नामधारी किसी मनुष्यको इस वनमें नहीं देखा है ॥ १२८ ॥

कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि ।
पश्याम्यस्मिन् वने कृत्स्ने ह्यमनुष्यनिषेविते ॥१२९॥

'यह सम्पूर्ण वन मनुष्येतर प्राणियोंसे भरा है । इसके भीतर हाथियों, चीतों, भैंसों, सिंहों, रीछों और मृगोंको ही मैं देखता आ रहा हूँ ॥ १२९ ॥

ऋते त्वां मानुषीं मर्त्यं न पश्यामि महावने ।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ॥१३०॥

'तुम-जैसी मानव-कन्याके सिवा और किसी मनुष्यको मैं इस विशाल वनमें नहीं देख रहा हूँ । इसलिये यक्षराज मणिभद्र आज हमपर प्रसन्न हों' ॥ १३० ॥

साब्रवीद् वणिजः सर्वान् सार्थवाहं च तं ततः ।
क्व नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१३१॥

तब दमयन्तीने उन सब व्यापारियों तथा दलके संचालकसे कहा—'आपका यह दल कहाँ जायगा ? यह मुझे बताइये' ॥ १३१ ॥

सार्थवाह उवाच

सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ।
क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ॥१३२॥

सार्थवाहने कहा—राजकुमारी ! हमारा यह दल शीघ्र ही सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुके जनपद (नगर) में विशेष लाभके उद्देश्यसे जायगा ॥ १३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसार्थवाहसंगमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीकी सार्थवाहसे भेंटविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६४॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

जंगली हाथियोंद्वारा व्यापारियोंके दलका सर्वनाश तथा दुःखित दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें सुखपूर्वक निवास

बृहदश्व उवाच

सा तच्छ्रुत्वानवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा ।
जगाम सह तेनैव सार्थेन पतिलालसा ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! दलके संचालककी वह बात सुनकर निर्दोष एवं सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्ती पतिदेवके दर्शनके लिये उत्सुक हो व्यापारियोंके उस दलके साथ ही यात्रा करने लगी ॥ १ ॥

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे ।
तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ॥ २ ॥
ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम् ।
बहुपुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर बहुत समयके बाद एक भयंकर विशाल वनमें पहुँचकर उन व्यापारियोंने एक महान् सरोवर देखा, जिसका नाम था, पद्म-सौगन्धिक । वह सब ओरसे कल्याणप्रद जान पड़ता था । उस रमणीय सरोवरके पास घास और ईन्धनकी अधिकता थी, फूल और फल भी वहाँ प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते थे । उस तालाबपर बहुत-से पक्षी निवास करते थे ॥२-३॥

निर्मलस्वादुसलिलं मनोहारि सुशीतलम् ।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ॥ ४ ॥

सरोवरका जल स्वच्छ और स्वादु था, वह देखनेमें बड़ा ही मनोहर और अत्यन्त शीतल था । व्यापारियोंके वाहन बहुत थक गये थे । इसलिये उन्होंने वहीं पड़ाव डालनेका निश्चय किया ॥ ४ ॥

सम्मते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम् ।
उवास सार्थः सुमहान् वेलामासाद्य पश्चिमाम् ॥५॥

समूहके अधिपतिसे अनुमति लेकर सब लोगोंने उस उत्तम वनमें प्रवेश किया और वह महान् जनसमुदाय सरोवरके पश्चिम तटपर ठहर गया ॥ ५ ॥

अथार्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ॥ ६ ॥
पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ।
अथापश्यत सार्थं तं सार्थजान् सुबहून् गजान् ॥७॥

तत्पश्चात् आधी रातके समय जब कहींसे भी कोई शब्द सुनायी नहीं देता था और उस दलके सभी लोग थककर सो गये थे, उस समय गजराजोंके मदकी धारासे मलिन जलवाली पहाड़ी नदीमें पानी पीनेके लिये (जंगली) हाथियोंका एक झुंड आ निकला । उस झुंडने व्यापारियोंके सोये हुए दलको और उसके साथ आये हुए बहुत-से हाथियोंको भी देखा ॥ ६-७ ॥

ते तान् ग्राम्यगजान् दृष्ट्वा सर्वे वनगजास्तदा ।
समाद्रवन्त वेगेन जिघांसन्तो मदोत्कटाः ॥ ८ ॥

तब वनमें रहनेवाले उन सभी मदोन्मत्त गजोंने उन ग्रामीण हाथियोंको देखकर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे उनपर वेगपूर्वक आक्रमण किया ॥ ८ ॥

तेषामापततां वेगः करिणां दुःसहोऽभवत् ।
नगाग्रादिव शीर्णानां शृङ्गाणां पततां क्षितौ ॥ ९ ॥

पर्वतकी चोटीसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाले बड़े-बड़े शिखरोंके समान उन आक्रमणकारी जंगली हाथियोंका वेग (उस यात्रीदलके लिये) अत्यन्त दुःसह था ॥ ९ ॥

स्पन्दतामपि नागानां मार्गा नष्टा वनोद्भवाः ।
मार्गं संरुध्य संसुप्तं पद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ॥१०॥

ग्रामीण हाथियोंपर आक्रमण करनेकी चेष्टावाले उन वनवासी गजराजोंके वन्य मार्ग अवरुद्ध हो गये थे । सरोवरके तटपर व्यापारियोंका महान् समुदाय उनका मार्ग रोककर सो रहा था ॥ १० ॥

ते तं ममर्दुः सहसा चेष्टमानं महीतले ।
हाहाकारं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ॥ ११ ॥
वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा बहवोऽभवन् ।
केचिद् दन्तैः करैः केचित् केचित् पद्भ्यां हता गजैः ॥

उन हाथियोंने सहसा पहुँचकर समूचे दलको कुचल दिया । कितने ही मनुष्य धरतीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे । उस दलके कितने ही पुरुष हाहाकार करते हुए बचावकी जगह खोजते हुए जंगलके पौधोंके समूहमें भाग गये । बहुत-से मनुष्य तो नींदके मारे अन्धे हो रहे थे । हाथियोंने किन्हींको दाँतोंसे, किन्हींको सूँडोंसे और कितनोंको पैरोंसे घायल कर दिया ॥ ११-१२ ॥
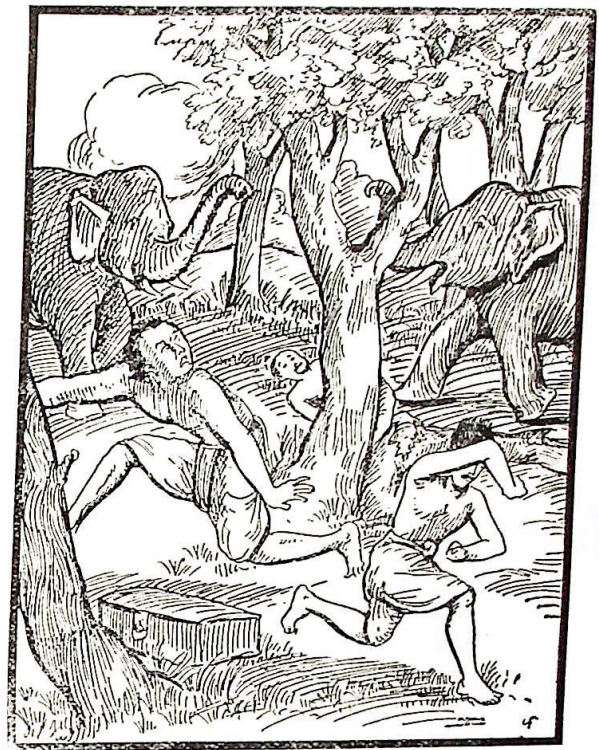
निहतोष्ट्राश्वबहुलाः पदातिजनसंकुलाः ।
भयादाधावमानाश्च परस्परहतास्तदा ॥ १३ ॥
घोरान् नादान् विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वारुह्य संरब्धाः पतिता विषमेषु च ॥ १४ ॥

उनके बहुत-से ऊँट और घोड़े मारे गये और उस समुदायमें बहुत-से पैदल लोग भी थे । वे सब लोग उस समय भय से चारों ओर भागते हुए एक दूसरेसे टकराकर चोट खा जाते थे । घोर आर्तनाद करते हुए सभी लोग धरतीपर गिरने लगे । कुछ लोग बड़े वेगसे वृक्षोंपर चढ़ते हुए नीचेकी विषम भूमियोंपर गिर पड़ते थे ॥ १३-१४ ॥

एवं प्रकारैर्बहुभिर्दैवेनाक्रम्य हस्तिभिः ।
राजन् विनिहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ॥ १५ ॥

राजन् ! इस प्रकार दैववश बहुतेरे जंगली हाथियोंने आक्रमण करके (प्रायः) उस सम्पूर्ण समृद्धिशाली व्यापारियोंके समुदाय-को नष्ट कर दिया ॥ १५ ॥

आरावः सुमहांश्चासीत् त्रैलोक्यभयकारकः ।
एषोऽग्निरुत्थितः कष्टस्त्रायध्वं धावताधुना ॥ १६ ॥
रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृह्णीध्वं किं प्रधावत ।

उस समय वहाँ तीनों लोकोंको भयमें डालनेवाला महान् आर्तनाद एवं चीत्कार हो रहा था । कोई कहता—'अरे ! इधर बड़े जोरकी आग प्रज्वलित हो उठी है । यह भारी संकट आ गया (अब) दौड़ो और बचाओ ।' दूसरा कहता—'अरे ! ये ढेर-के-ढेर रत्न बिखरे पड़े हैं, इन्हें सम्हालकर रक्खो । इधर-उधर भागते क्यों हो ?' ॥ १६½ ॥

सामान्यमेतद् द्रविणं न मिथ्यावचनं मम ॥ १७ ॥

तीसरा कहता था—'भाई ! इस धनपर सबका समान अधिकार है, मेरी यह बात झूठी नहीं है' ॥ १७ ॥

एवमेवाभिभाषन्तो विद्रवन्ति भयात् तदा ।
पुनरेवाभिधास्यामि चिन्तयध्वं सुकातराः ॥ १८ ॥

कोई कहता—'ऐ कायरो ! मैं फिर तुमसे बात करूँगा, अभी अपनी रक्षाकी चिन्ता करो ।' इस तरहकी बातें करते हुए सब लोग भयसे भाग रहे थे ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने दारुणे जनसंक्षये ।
दमयन्ती च बुबुधे भयसंत्रस्तमानसा ॥ १९ ॥

इस प्रकार जब वहाँ भयानक नर-संहार हो रहा था, उसी समय दमयन्ती भी जाग उठी । उसका हृदय भयसे संत्रस्त हो उठा ॥ १९ ॥

अपश्यद् वैशसं तत्र सर्वलोकभयंकरम् ।
अदृष्टपूर्वं तद् दृष्ट्वा बाला पद्मनिभेक्षणा ॥ २० ॥
संसक्तवदनाश्वासा उत्तस्थौ भयविह्वला ।
ये तु तत्र विनिर्मुक्ताः सार्थात् केचिदविक्षताः ॥
तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे कस्येदं कर्मणः फलम् ।
नूनं न पूजितोऽस्माभिर्मणिभद्रो महायशाः ॥ २२ ॥
तथा यक्षाधिपः श्रीमान् न वै वैश्रवणः प्रभुः ।
न पूजा विघ्नकर्तॄणामथवा प्रथमं कृता ॥ २३ ॥
शकुनानां फलं वाथ विपरीतमिदं ध्रुवम् ।
ग्रहा न विपरीतास्तु किमन्यदिदमागतम् ॥ २४ ॥

वहाँ उसने वह महासंहार अपनी आँखों देखा, जो सब लोगोंके लिये भयंकर था । उसने ऐसी दुर्घटना पहले कभी नहीं देखी थी । वह सब देखकर वह कमलनयनी बाला भयसे व्याकुल हो उठी । उसको कहींसे कोई सान्त्वना नहीं मिल रही थी । वह इस प्रकार स्तब्ध हो रही थी, मानो धरतीसे सट गयी हो । तदनन्तर वह किसी प्रकार उठकर खड़ी हुई । दलके जो लोग उस संकटसे मुक्त हो आघातसे बचे हुए थे, वे सब एकत्र हो कहने लगे कि 'यह हमारे किस कर्मका फल है ? निश्चय ही हमने महायशस्वी मणिभद्रका पूजन नहीं किया है । इसी प्रकार हमने श्रीमान् यक्षराज कुबेरकी भी पूजा नहीं की है अथवा विघ्नकर्ता विनायकोंकी भी पहले पूजा नहीं कर ली थी । अथवा हमने पहले जो-जो शकुन देखे थे, उसका यह विपरीत फल है । यदि हमारे ग्रह विपरीत न होते तो और किस हेतुसे यह संकट हमारे ऊपर कैसे आ सकता था ?' ॥ २०—२४ ॥

अपरे त्वब्रुवन् दीना ज्ञातिद्रव्यविनाकृताः ।
यासावद्य महासार्थे नारी ह्युन्मत्तदर्शना ॥२५॥
प्रविष्टा विकृताकारा कृत्वा रूपममानुषम् ।
तयेयं विहिता पूर्वं माया परमदारुणा ॥२६॥

दूसरे लोग जो अपने कुटुम्बीजनों और धनके विनाशसे दीन हो रहे थे, वे इस प्रकार कहने लगे—'आज हमारे विशाल जनसमूहके साथ वह जो उन्मत्त-जैसी दिखायी देनेवाली नारी आ गयी थी, वह विकराल आकारवाली राक्षसी थी तो भी अलौकिक सुन्दर रूप धारण करके हमारे दलमें घुस गयी थी । उसीने पहलेसे ही यह अत्यन्त भयंकर माया फैला रक्खी थी ॥ २५-२६ ॥

राक्षसी वा ध्रुवं यक्षी पिशाची वा भयंकरी ।
तस्याः सर्वमिदं पापं नात्र कार्या विचारणा ॥२७॥
पश्यामो यदि तां पापां सार्थघ्नीं नैकदुःखदाम् ।
लोष्टभिः पांसुभिश्चैव तृणैः काष्ठैश्च मुष्टिभिः ॥२८॥
अवश्यमेव हन्यामः सार्थस्य किल कृत्यकाम् ।

'निश्चय ही वह राक्षसी, यक्षी अथवा भयंकर पिशाची थी—इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यह सारा पापपूर्ण कृत्य उसीका किया हुआ है । उसने हमें अनेक प्रकारका दुःख दिया और प्रायः सारे दलका विनाश कर डाला । वह पापिनी समूचे सार्थके लिये अवश्य ही कृत्या बनकर आयी थी । यदि हम उसे देख लेंगे तो ढेलोंसे, धूल और तिनकोंसे, लकड़ियों और मुक्कोंसे भी अवश्य मार डालेंगे ॥ २७-२८½ ॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं तेषां सुदारुणम् ॥२९॥
ह्रीता भीता च संविग्ना प्राद्रवद् यत्र काननम् ।
आशङ्कमाना तत्पापमात्मानं पर्यदेवयत् ॥३०॥

उनका वह अत्यन्त भयंकर वचन सुनकर दमयन्ती लज्जासे गड़ गयी और भयसे व्याकुल हो उठी । उनके पापपूर्ण संकल्पके संघटित होनेकी आशङ्का करके वह उसी ओर भाग गयी, जहाँ घना जंगल था । वहाँ जाकर अपनी इस परिस्थितिपर विचार करके वह विलाप करने लगी—। २९-३० ।

अहो ममोपरि विधेः संरम्भो दारुणो महान् ।
नानुबध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम् ॥३१॥

'अहो ! मुझपर विधाताका अत्यन्त भयानक और महान् कोप है, जिससे मुझे कहीं भी कुशल-क्षेमकी प्राप्ति नहीं होती । न जाने, यह हमारे किस कर्मका फल है ? ॥ ३१ ॥

न स्माराम्यशुभं किंचित् कृतं कस्यचिदण्वपि ।
कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम् ॥३२॥

'मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसीका थोड़ा-सा भी अमङ्गल किया हो, इसकी याद नहीं आती, फिर यह मेरे किस कर्मका फल मिल रहा है ? ॥ ३२ ॥

नूनं जन्मान्तरकृतं पापमापतितं महत् ।
अपश्चिमामिमां कष्टामापदं प्राप्तवत्यहम् ॥३३॥

'निश्चय ही यह मेरे दूसरे जन्मोंके किये हुए पापका महान् फल प्राप्त हुआ है, जिससे मैं इस अनन्त कष्टमें पड़ गयी हूँ ॥ ३३ ॥

भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः ।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्यां च विच्युतिः ॥३४॥

'मेरे स्वामीके राज्यका अपहरण हुआ, उन्हें आत्मीयजनसे ही पराजित होना पड़ा, मेरा अपने पतिदेवसे वियोग हुआ और अपनी संतानोंके दर्शनसे भी वञ्चित हो गयी हूँ। ३४

निर्नाथता वने वासो बहुव्यालनिषेविते ।

'इतना ही नहीं, असंख्य सर्प आदि जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें मुझे अनाथकी-सी दशामें रहना पड़ता है, ॥ ३४½ ॥

अथापरेद्युः सम्प्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ॥३५॥
देशात् तस्माद् विनिष्क्रम्य शोचन्ते वैशसं कृतम् ।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायं च नराधिप ॥३६॥

तदनन्तर दूसरा दिन प्रारम्भ होनेपर मरनेसे बचे हुए लोग उस स्थानसे निकलकर उस विकट संहारके लिये शोक करने लगे । राजन् ! कोई भाईके लिये दुखी था, कोई पिताके लिये; किसीको पुत्रका शोक था और किसीको मित्रका ॥ ३५-३६ ॥

अशोचत् तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम् ।
योऽपि मे निर्जनेऽरण्ये सम्प्राप्तोऽयं जनार्णवः ॥३७॥
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत् ।
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नूनमद्यापि वै मया ॥३८॥

विदर्भराजकुमारी दमयन्ती भी इसके लिये शोक करने लगी कि 'मैंने कौन-सा पाप किया है, जिससे इस निर्जन वनमें मुझे जो यह समुद्रके समान जनसमुदाय प्राप्त हो गया था, वह भी मेरे ही दुर्भाग्यसे हाथियोंके झुंडद्वारा मारा गया । निश्चय ही मुझे अभी दीर्घकालतक दुःख-ही-दुःख भोगना है ॥ ३७-३८ ॥

नाप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम् ।
या नाहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ॥३९॥

'जिसकी मृत्युका समय नहीं आया है, वह इच्छा होते हुए भी मर नहीं सकता । वृद्ध पुरुषोंका यह जो उपदेश मैंने सुन रक्खा है, यह ठीक ही जान पड़ता है, तभी तो आज मैं दुःखित होनेपर भी हाथियोंके झुंडसे कुचलकर मर न सकी। ३९

न ह्यदैवकृतं किंचिन्नराणामिह विद्यते ।
न च मे बालभावेऽपि किंचित् पापकृतं कृतम् ॥४०॥
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम् ।

मनुष्योंको इस जगत्‌में कोई भी सुख या दुःख ऐसा नहीं मिलता, जो विधाताका दिया हुआ न हो । मैंने बचपनमें भी मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा ऐसा पाप नहीं किया है, जिससे मुझे यह दुःख प्राप्त होता ॥ ४०½ ॥

मन्ये स्वयंवरकृते लोकपालाः समागताः ॥४१॥
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्यार्थाय देवताः ।
नूनं तेषां प्रभावेण वियोगं प्राप्तवत्यहम् ॥४२॥
एवमादीनि दुःखार्ता सा विलप्य वराङ्गना ।
प्रलापानि तदा तानि दमयन्ती पतिव्रता ॥४३॥

'मैं समझती हूँ, स्वयंवरके लिये जो लोकपाल देवगण पधारे थे, नलके कारण मैंने उनका तिरस्कार कर दिया था । अवश्य उन्हीं देवताओंके प्रभावसे आज मुझे वियोगका कष्ट प्राप्त हुआ है ।' इस प्रकार दुःखसे आतुर हुई सुन्दरी पतिव्रता दमयन्तीने उस समय अनेक प्रकारसे विलाप एवं प्रलाप किये ॥ ४१–४३ ॥

हतशेषैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अगच्छद् राजशार्दूल चन्द्रलेखेव शारदी ॥४४॥
गच्छन्ती साचिराद् बाला पुरमासादयन्महत् ।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ॥४५॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर मरनेसे बचे हुए वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ यात्रा करती हुई शरत्कालके चन्द्रमाकी कलाके समान वह सुन्दरी युवती थोड़े ही समयमें संध्या होते-होते सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुकी राजधानीमें जा पहुँची ॥ ४४-४५ ॥

अथ वस्त्रार्धसंवीता प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
तां विह्वलां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जिताम् ॥४६॥

शरीरमें आधी साड़ीको लपेटे हुए ही उसने उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया । वह विह्वल, दीन और दुर्बल हो रही थी । उसके सिरके बाल खुले हुए थे । उसने स्नान नहीं किया था ॥ ४६ ॥

उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः ।
प्रविशन्तीं तु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ॥४७॥
अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात् ।
सा तैः परिवृतागच्छत् समीपं राजवेश्मनः ॥४८॥

पुरवासियोंने उसे उन्मत्ताकी भाँति जाते देखा । चेदिनरेशकी राजधानीमें उसे प्रवेश करते देख उस समय बहुत-से ग्रामीण बालक कौतूहलवश उसके साथ हो लिये थे । उनसे घिरी हुई दमयन्ती राजमहलके समीप गयी ॥ ४७-४८ ॥

तां प्रासादगतापश्यद् राजमाता जनैर्वृताम् ।
धात्रीमुवाच गच्छैनामानयेह ममान्तिकम् ॥४९॥

उस समय राजमाताने उसे महलपरसे देखा । वह जनसाधारणसे घिरी हुई थी । राजमाताने धायसे कहा—'जाओ, इस युवतीको मेरे पास ले आओ ॥ ४९ ॥

जनेन क्लिश्यते बाला दुःखिता शरणार्थिनी।
तादृग् रूपं च पश्यामि विद्योतयति मे गृहम् ॥५०॥

'इसे लोग तंग कर रहे हैं। यह दुःखिनी युवती कोई आश्रय चाहती है। मुझे इसका रूप ऐसा दिखायी देता है, जो मेरे घरको प्रकाशित कर देगा ॥ ५० ॥

उन्मत्तवेषा कल्याणी श्रीरिवायतलोचना।
सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ॥५१॥
आरोप्य विस्मिता राजन् दमयन्तीमपृच्छत।
एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ॥५२॥

'इसका वेष तो उन्मत्तके समान है, परंतु यह विशाल-नेत्रोंवाली युवती कल्याणमयी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है।' धाय उन सब लोगोंको हटाकर उसे उत्तम राजमहलकी अट्टालिकापर चढ़ा ले आयी। राजन्! तत्पश्चात् विस्मित होकर राजमाताने दमयन्तीसे पूछा—'अहो! तुम इस प्रकार दुःखसे दबी होनेपर भी इतना सुन्दर रूप कैसे धारण करती हो?।५१-५२।
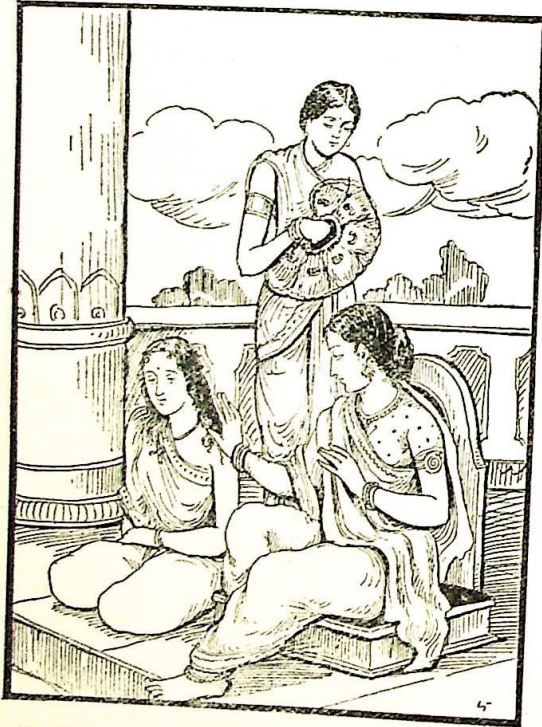
भासि विद्युदिवाभ्रेषु शंस मे कासि कस्य वा।
न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ॥५३॥
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे।

'मेघमालामें प्रकाशित होनेवाली बिजलीकी भाँति तुम इस दुःखमें भी कैसी तेजस्विनी दिखायी देती हो। मुझसे बताओ, तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो? यद्यपि तुम्हारे शरीरपर कोई आभूषण नहीं है तो भी तुम्हारा यह रूप मानव-जगत्का नहीं जान पड़ता। देवताकी-सी दिव्य कान्ति धारण करनेवाली वत्से! तुम असहाय-अवस्थामें होकर भी लोगोंसे डरती क्यों नहीं हो?' ॥ ५३½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भैमी वचनमब्रवीत् ॥५४॥

उसकी वह बात सुनकर भीमकुमारीने कहा—॥ ५४ ॥

मानुषीं मां विजानीहि भर्तारं समनुव्रताम्।
सैरन्ध्रीजातिसम्पन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ।५५।

'माताजी! आप मुझे मानव-कन्या ही समझिये। मैं अपने पतिके चरणोंमें अनुराग रखनेवाली एक नारी हूँ। मेरी अन्तःपुरमें काम करनेवाली सैरन्ध्री जाति है। मैं सेविका हूँ और जहाँ इच्छा होती है, वहीं रहती हूँ ॥ ५५ ॥

फलमूलाशनामेकां यत्रसायंप्रतिश्रयाम्।
असंख्येयगुणो भर्ता मां च नित्यमनुव्रतः ॥५६॥

'मैं अकेली हूँ, फल-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करती हूँ और जहाँ साँझ होती है, वहीं टिक जाती हूँ। मेरे स्वामीमें असंख्य गुण हैं, उनका मेरे प्रति सदा अत्यन्त अनुराग है ॥ ५६ ॥

भक्ताहमपि तं वीरं छायेवानुगता पथि।
तस्य दैवात् प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं सुदेवने ॥५७॥

'जैसे छाया राह चलनेवाले पथिकके पीछे-पीछे चलती है, उसी प्रकार मैं भी अपने वीर पतिदेवमें भक्तिभाव रख-कर सदा उन्हींका अनुसरण करती हूँ। दुर्भाग्यवश एक दिन मेरे पतिदेव जूआ खेलनेमें अत्यन्त आसक्त हो गये॥

द्यूते स निर्जितश्चैव वनमेक उपेयिवान्।
तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ॥५८॥
आश्वासयन्ती भर्तारमहमप्यगमं वनम्।
स कदाचिद् वने वीरः कस्मिंश्चित् कारणान्तरे॥ ५९ ॥

'और उसीमें अपना सब कुछ हारकर वे अकेले ही वनकी ओर चल दिये। एक वस्त्र धारण किये उन्मत्त और विह्वल हुए अपने वीर स्वामीको सान्त्वना देती हुई मैं भी उनके साथ वनमें चली आयी। एक दिनकी बात है, मेरे वीर स्वामी किसी कारणवश वनमें गये ॥ ५८-५९ ॥

क्षुत्परीतस्तु विमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत्।
तमेकवसना नग्नमुन्मत्तवदचेतसम् ॥ ६० ॥
अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशास्तदा।
ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित्॥ ६१ ॥
वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान् मामनागसम्।
तं मार्गमाणा भर्तारं दह्यमाना दिवानिशम् ॥ ६२ ॥

'उस समय वे भूखसे पीड़ित और अनमने हो रहे थे। अतः उन्होंने अपने उस एक वस्त्रको भी कहीं वनमें ही छोड़ दिया। मेरे शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वे नग्न, उन्मत्त-जैसे और अचेत हो रहे थे। उसी दशामें सदा उनका अनुसरण करती हुई अनेक रात्रियोंतक कभी सो

न सकी। तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् एक दिन जब मैं सो गयी थी, उन्होंने मेरी आधी साड़ी फाड़ ली और मुझ निरपराधिनी पत्नीको वहीं छोड़कर वे कहीं चल दिये। मैं दिन-रात वियोगाग्निमें जलती हुई निरन्तर उन्हीं पतिदेवको ढूँढ़ती फिरती हूँ ॥ ६०—६२ ॥

साहं कमलगर्भाभमपश्यन्ती हृदि प्रियम्।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणेश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥

'मेरे प्रियतमकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान है। वे देवताओंके समान तेजस्वी, मेरे प्राणोंके स्वामी और शक्तिशाली हैं। बहुत खोजनेपर भी मैं अपने प्रियको न तो देख सकी हूँ और न उनका पता ही पा रही हूँ'॥ ६३॥

तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु।
राजमाताब्रवीदार्ता भैमीमार्तस्वरां स्वयम् ॥ ६४ ॥
वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे परमा त्वयि।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्तारं पुरुषा मम ॥ ६५ ॥

भीमकुमारी दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे एवं वह आर्तस्वरसे बहुत विलाप कर रही थी। राजमाता स्वयं भी उसके दुःखसे दुखी हो बोली—'कल्याणि! तुम मेरे पास रहो। तुमपर मेरा बहुत प्रेम है। भद्रे! मेरे सेवक तुम्हारे पतिकी खोज करेंगे ॥ ६४-६५ ॥

अपि वा स्वयमागच्छेत् परिधावन्नितस्ततः।
इहैव वसती भद्रे भर्तारमुपलप्स्यसे ॥ ६६ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है, वे इधर-उधर भटकते हुए स्वयं ही इधर आ निकलें। भद्रे! तुम यहीं रहकर अपने पतिको प्राप्त कर लोगी' ॥ ६६ ॥

राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत्।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ॥ ६७ ॥

राजमाताकी यह बात सुनकर दमयन्तीने कहा—'वीरमातः! मैं एक नियमके साथ आपके यहाँ रह सकती हूँ ॥

उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम्।
न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथंचन ॥ ६८ ॥

'मैं किसीका जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी दूसरे पुरुषसे किसी तरह भी वार्तालाप नहीं करूँगी ॥ ६८ ॥

प्रार्थयेद् यदि मां कश्चिद् दण्ड्यस्ते स पुमान् भवेत्।
वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम् ॥ ६९ ॥

'यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो वह आपके द्वारा दण्डनीय हो और बार-बार ऐसे अपराध करनेवाले मूढ़को आप प्राणदण्ड भी दें, यही मेरा निश्चित व्रत है ॥

भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम्।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः ॥ ७० ॥

'मैं अपने पतिकी खोजके लिये केवल ब्राह्मणोंसे मिल सकती हूँ। यदि यहाँ ऐसी व्यवस्था हो सके तो निश्चय ही आपके निकट निवास करूँगी। इसमें संशय नहीं है ॥ ७० ॥

अतोऽन्यथा न मे वासो वर्तते हृदये क्वचित्।
तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

'यदि इसके विपरीत कोई बात हो तो कहीं भी रहनेका मेरे मनमें संकल्प नहीं हो सकता।' यह सुनकर राजमाता प्रसन्नचित्त होकर उससे बोली—॥ ७१ ॥

सर्वमेतत् करिष्यामि दिष्ट्या ते व्रतमीदृशम्।
एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशाम्पते ॥ ७२ ॥
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत।
सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ॥ ७३ ॥

'बेटी! मैं यह सब करूँगी। सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा व्रत ऐसा उत्तम है।' राजा युधिष्ठिर! दमयन्तीसे ऐसा कहकर राजमाता अपनी पुत्री सुनन्दासे बोली—'सुनन्दे! इस सैरन्ध्रीको तुम देवीस्वरूपा समझो ॥ ७२-७३ ॥

वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम्।
एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः सदा ॥ ७४ ॥

'यह अवस्थामें तुम्हारे समान है, अतः तुम्हारी सखी होकर रहे। तुम इसके साथ सदा प्रसन्नचित्त एवं आनन्दमग्न रहो' ॥ ७४ ॥

ततः परमसंहृष्टा सुनन्दा गृहमागमत्।
दमयन्तीमुपादाय सखीभिः परिवारिता ॥ ७५ ॥

तब सखियोंसे घिरी हुई सुनन्दा अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरकर दमयन्तीको साथ ले अपने भवनमें आयी ॥ ७५ ॥

स तत्र पूज्यमाना वै दमयन्ती व्यनन्दत।
सर्वकामैः सुविहितैर्निरुद्वेगावसत् तदा ॥ ७६ ॥

सुनन्दा दमयन्तीके इच्छानुसार सब प्रकारकी व्यवस्था करके उसे बड़े आदर-सत्कारके साथ रखने लगी। इससे दमयन्तीको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह वहाँ उद्वेगरहित हो रहने लगी ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीचेदिराजगृहवासे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें निवासविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजा नलके द्वारा दावानलसे कर्कोटक नागकी रक्षा तथा नागद्वारा नलको आश्वासन

बृहदश्व उवाच

उत्सृज्य दमयन्तीं तु नलो राजा विशाम्पते।
ददर्श दावं दह्यन्तं महान्तं गहने वने॥ १॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! दमयन्तीको छोड़कर जब राजा नल आगे बढ़ गये, तब एक गहन वनमें उन्होंने महान् दावानल प्रज्वलित होते देखा॥ १॥

तत्र शुश्राव शब्दं वै मध्ये भूतस्य कस्यचित्।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चासकृत्॥ २॥
मा भैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम्।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम्॥ ३॥

उसीके बीचमें उन्हें किसी प्राणीका यह शब्द सुनायी पड़ा—'पुण्यश्लोक महाराज नल! दौड़िये, मुझे बचाइये।' उच्चस्वरसे बार-बार दुहरायी गयी इस वाणीको सुनकर राजा नलने कहा—'डरो मत'। इतना कहकर वे आगके भीतर घुस गये। वहाँ उन्होंने देखा, एक नागराज कुण्डलाकार पड़ा हुआ सो रहा है॥ २-३॥

स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा।
उवाच मां विद्धि राजन् नागं कर्कोटकं नृप॥ ४॥
मया प्रलब्धो ब्रह्मर्षिर्नारदः सुमहातपाः।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप॥ ५॥
तिष्ठ त्वं स्थावर इव यावदेव नलः क्वचित्।
इतो नेता हि तत्र त्वं शापान्मोक्ष्यसि मत्कृतात्॥ ६॥

उस नागने हाथ जोड़कर काँपते हुए नलसे उस समय इस प्रकार कहा—'राजन्! मुझे कर्कोटक नाग समझिये। नरेश्वर! एक दिन मेरेद्वारा महातपस्वी ब्रह्मर्षि नारद ठगे गये, अतः मनुजेश्वर! उन्होंने क्रोधसे आविष्ट होकर मुझे शाप दे दिया—'तुम स्थावर वृक्षकी भाँति एक जगह पड़े रहो, जब कभी राजा नल आकर तुम्हें यहाँसे अन्यत्र ले जायँगे, तभी तुम मेरे शापसे छुटकारा पा सकोगे'॥ ४—६॥

तस्य शापान्न शक्तोऽस्मि पदाद् विचलितुं पदम्।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हति मां भवान्॥ ७॥

'राजन्! नारदजीके उस शापसे मैं एक पग भी चल नहीं सकता; आप मुझे बचाइये, मैं आपको कल्याणकारी उपदेश दूँगा॥ ७॥

सखा च ते भविष्यामि मत्समो नास्ति पन्नगः।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम्॥ ८॥

'साथ ही मैं आपका मित्र हो जाऊँगा। सर्पोंमें मेरे-जैसा प्रभावशाली दूसरा कोई नहीं है। मैं आपके लिये हल्का हो जाऊँगा। आप शीघ्र मुझे लेकर यहाँसे चल दीजिये'॥ ८॥

एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः।
तं गृहीत्वा नलः प्रायाद् देशं दावविवर्जितम्॥ ९॥

इतना कहकर नागराज कर्कोटक अँगूठेके बराबर हो गया। उसे लेकर राजा नल वनके उस प्रदेशकी ओर चले गये, जहाँ दावानल नहीं था॥ ९॥

आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत्॥ १०॥

अग्निके प्रभावसे रहित अवकाश देशमें पहुँचनेपर जब नलने उस नागको छोड़नेका विचार किया, उस समय कर्कोटकने फिर कहा—॥ १०॥

पदानि गणयन् गच्छ स्वानि नैषध कानिचित्।
तत्र तेऽहं महाबाहो श्रेयो धास्यामि यत् परम्॥ ११॥

'नैषध! आप अपने कुछ पैंड गिनते हुए चलिये। महाबाहो! ऐसा करनेपर मैं आपके लिये परम कल्याणका साधन करूँगा'॥ ११॥

ततः संख्यातुमारब्धमदशद् दशमे पदे।
तस्य दष्टस्य तद् रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत॥ १२॥

तब राजा नलने अपने पैंड गिनने आरम्भ किये। पैंड गिनते-गिनते जब राजा नलने 'दश' कहा, तब नागने उन्हें डँस लिया। उसके डँसते ही उनका पहला रूप तत्काल अन्तर्हित (होकर श्याम वर्ण) हो गया॥ १२॥

स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्थावात्मानं विकृतं नलः।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श स महीपतिः॥ १३॥

अपने रूपको इस प्रकार विकृत (गौरवर्णसे श्यामवर्ण) हुआ देख राजा नलको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने अपने पूर्वस्वरूपको धारण करके खड़े हुए कर्कोटक नागको देखा॥

ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन् नलमब्रवीत्।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वां विद्युर्जना इति॥ १४॥

तब कर्कोटक नागने राजा नलको सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! मैंने आपके पहले रूपको इसलिये अदृश्य कर दिया है कि लोग आपको पहचान न सकें॥ १४॥

यत्कृते चासि निकृतो दुःखेन महता नल।
विषेण स मदीयेन त्वयि दुःखं निवत्स्यति॥ १५॥

'महाराज नल ! जिस कलियुगके कपटसे आपको महान्
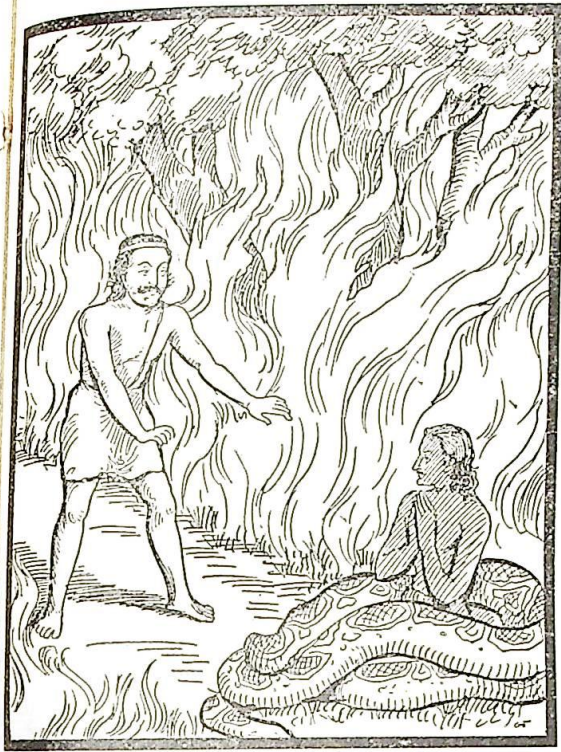
दुःखका सामना करना पड़ा है, वह मेरे विषसे दग्ध होकर आपके भीतर बड़े कष्टसे निवास करेगा ॥ १५ ॥

विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत् त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत् त्वयि महाराज दुःखं वै स निवत्स्यति ॥ १६ ॥

'कलियुगके सारे अङ्ग मेरे विषसे व्याप्त हो जायँगे। महाराज ! वह जबतक आपको छोड़ नहीं देगा, तबतक आपके भीतर बड़े दुःखसे निवास करेगा ॥ १६ ॥

अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ॥ १७ ॥

'नरेश्वर ! आप छल-कपटद्वारा सताये जाने योग्य नहीं थे, तो भी जिसने बिना किसी अपराधके आपके साथ कपटका व्यवहार किया है, उसीके प्रति क्रोधसे दोषदृष्टि रखकर मैंने आपकी रक्षा की है ॥ १७ ॥

न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ॥ १८ ॥

'नरव्याघ्र महाराज ! मेरे प्रसादसे आपको दाढ़ोंवाले जन्तुओं और शत्रुओंसे तथा वेदवेत्ताओंके शाप आदिसे भी कभी भय नहीं होगा ॥ १८ ॥

राजन् विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
संग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥

'राजन् ! आपको विषजनित पीड़ा कभी नहीं होगी। राजेन्द्र ! आप युद्धमें भी सदा विजय प्राप्त करेंगे ॥ १९ ॥

गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि चैवाक्षनैपुणः ॥ २० ॥

'राजन् ! अब आप यहाँसे अपनेको बाहुक नामक सूत बताते हुए राजा ऋतुपर्णके समीप जाइये। वे द्यूत-विद्यामें बड़े निपुण हैं ॥ २० ॥

अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य वै निषधेश्वर ।
स तेऽक्षहृदयं दाता राजाश्वहृदयेन वै ॥ २१ ॥
इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान् मित्रं चैव भविष्यति ।
भविष्यसि यदाक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ॥ २२ ॥

'निषधेश्वर ! आप आज ही रमणीय अयोध्यापुरीको चले जाइये। इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न श्रीमान् राजा ऋतुपर्ण आपसे अश्वविद्याका रहस्य सीखकर बदलेमें आपको द्यूत-क्रीड़ाका रहस्य बतलायेंगे और आपके मित्र भी हो जायँगे। जब आप द्यूतविद्याके ज्ञाता होंगे, तब पुनः कल्याण-भागी हो जायँगे ॥ २१-२२ ॥

सममेष्यसि दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
राज्येन तनयाभ्यां च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

'मैं सच कहता हूँ, आप एक ही साथ अपनी पत्नी, दोनों संतानों तथा राज्यको प्राप्त कर लेंगे; अतः अपने मनमें चिन्ता न कीजिये ॥ २३ ॥

स्वं रूपं च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप ।
संस्मर्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं निवासयेः ॥ २४ ॥

'नरेश्वर ! जब आप अपने (पहलेवाले) रूपको देखना चाहें, उस समय मेरा स्मरण करें और इस कपड़ेको ओढ़ लें॥

अनेन वाससाच्छन्नः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यसे ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ॥ २५ ॥

'इस वस्त्रसे आच्छादित होते ही आप अपना पहला रूप प्राप्त कर लेंगे।' ऐसा कहकर नागने उन्हें दो दिव्य वस्त्र प्रदान किये ॥ २५ ॥

एवं नलं च संदिश्य वासो दत्त्वा च कौरव ।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २६ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! इस प्रकार राजा नलको संदेश और वस्त्र देकर नागराज कर्कोटक वहीं अन्तर्धान हो गया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्कोटकसंवादे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकर्कोटकसंवादविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६६॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलका ऋतुपर्णके यहाँ अश्वाध्यक्षके पदपर नियुक्त होना और वहाँ दमयन्तीके लिये निरन्तर चिन्तित रहना तथा उनकी जीवलसे बातचीत

बृहदश्व उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद् दशमेऽहनि ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—कर्कोटक नागके अन्तर्धान हो जानेपर निषधनरेश नलने दसवें दिन राजा ऋतुपर्णके नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

स राजानमुपातिष्ठद् बाहुकोऽहमिति ब्रुवन्।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ॥ २ ॥

वे बाहुक नामसे अपना परिचय देते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ उपस्थित हुए और बोले—'घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें इस पृथ्वीपर मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु चैवाहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ॥ ३ ॥

'मैं इन दिनों अर्थसंकटमें हूँ। आपको किसी भी कलाकी निपुणताके विषयमें सलाह लेनी हो, तो मुझसे पूछ सकते हैं। अन्न-संस्कार (भाँति-भाँतिकी रसोई बनानेका कार्य) भी मैं दूसरोंकी अपेक्षा विशेष जानता हूँ ॥ ३ ॥

यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन् यच्चैवान्यत् सुदुष्करम्।
सर्वं यतिष्ये तत् कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥ ४ ॥

'इस जगत्में जितनी भी शिल्पकलाएँ हैं तथा दूसरे भी जो अत्यन्त कठिन कार्य हैं, मैं उन सबको अच्छी तरह करनेका प्रयत्न कर सकता हूँ। महाराज ऋतुपर्ण! आप मेरा भरण-पोषण कीजिये' ॥ ४ ॥

ऋतुपर्ण उवाच

वस बाहुक भद्रं ते सर्वमेतत् करिष्यसि।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥ ५ ॥

ऋतुपर्णने कहा—बाहुक! तुम्हारा भला हो। तुम मेरे यहाँ निवास करो। ये सब कार्य तुम्हें करने होंगे। मेरे मनमें सदा यही विचार विशेषतः रहता है कि मैं शीघ्रतापूर्वक कहीं भी पहुँच सकूँ ॥ ५ ॥

स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शतम् ॥ ६ ॥

अतः तुम ऐसा उपाय करो, जिससे मेरे घोड़े शीघ्रगामी हो जायँ। आजसे तुम हमारे अश्वाध्यक्ष हो। दस हजार मुद्राएँ तुम्हारा वार्षिक वेतन है ॥ ६ ॥

त्वामुपस्थास्यतश्चैव नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक ॥ ७ ॥

वार्ष्णेय और जीवल—ये दोनों सारथि तुम्हारी सेवामें रहेंगे। बाहुक! इन दोनोंके साथ तुम बड़े सुखसे रहोगे। तुम मेरे यहाँ रहो ॥ ७ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत् तत्र पूजितः।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ॥ ८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! राजाके ऐसा कहनेपर नल वार्ष्णेय और जीवलके साथ सम्मानपूर्वक ऋतुपर्णके नगरमें निवास करने लगे ॥ ८ ॥

स वै तत्रावसद् राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन्।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ॥ ९ ॥

वे दमयन्तीका निरन्तर चिन्तन करते हुए वहाँ रहने लगे। वे प्रतिदिन सायंकाल इस एक श्लोकको पढ़ा करते थे— ॥ ९ ॥

क नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी।
स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साद्योपतिष्ठति ॥ १० ॥
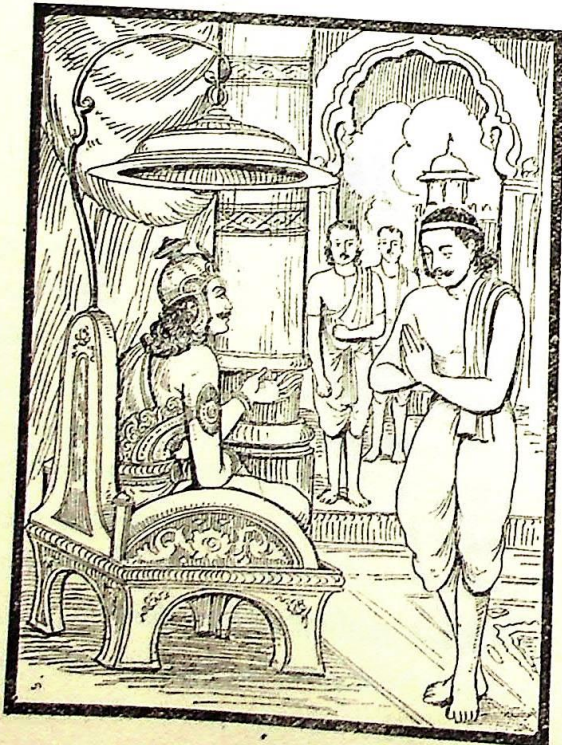
'भूख-प्याससे पीड़ित और थकी-माँदी वह तपस्विनी उस मन्दबुद्धि पुरुषका स्मरण करती हुई कहाँ सोती होगी तथा अब वह किसके समीप रहती होगी ?' ॥ १० ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत् ।
कामेनां शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ॥ ११ ॥

एक दिन रात्रिके समय जब राजा इस प्रकार बोल रहे थे 'जीवलने पूछा—बाहुक ! तुम प्रतिदिन किस स्त्रीके लिये शोक करते हो, मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

आयुष्मन् कस्य वा नारी यामेवमनुशोचसि ।
तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
आसीद् बहुमता नारी तस्याद्दढतरं वचः ।
स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ॥ १३ ॥

'आयुष्मन् ! वह किसकी पत्नी है, जिसके लिये तुम इस प्रकार निरन्तर शोकमग्न रहते हो ।' तब राजा नलने उससे कहा—'किसी अल्पबुद्धि पुरुषके एक स्त्री थी, जो उसके अत्यन्त आदरकी पात्र थी। किंतु उस पुरुषकी बात अत्यन्त दृढ़ नहीं थी । वह अपनी प्रतिज्ञासे फिसल गया । किसी विशेष प्रयोजनसे विवश होकर वह भाग्यहीन पुरुष अपनी पत्नीसे बिछुड़ गया ॥ १२-१३ ॥

विप्रयुक्तः स मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः ।
दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १४ ॥

'पत्नीसे विलग होकर वह मन्दबुद्धि मानव दिन-रात शोकाग्निसे दग्ध एवं दुःखसे पीड़ित होकर आलस्यसे रहित हो इधर-उधर भटकता रहता है ॥ १४ ॥

निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेकं स गायति।
स विभ्रमन् महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किंचन ॥ १५ ॥
वसत्यनर्हस्तद् दुःखं भूय एवानुसंस्मरन् ।

'रातमें उसीका स्मरण करके वह एक श्लोकको गाया करता है । सारी पृथ्वीका चक्कर लगाकर वह कभी किसी स्थानमें पहुँचा और वहीं निरन्तर उस प्रियतमाका स्मरण करके दुःख भोगता रहता है। यद्यपि वह उस दुःखको भोगनेके योग्य है नहीं॥ १५½॥

सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ॥ १६ ॥
त्यक्ता तेनाल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति ।
एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ॥ १७ ॥

'वह नारी इतनी पतिव्रता थी कि संकटकालमें भी उस पुरुषके पीछे-पीछे वनमें चली गयी; किंतु उस अल्प पुण्यवाले पुरुषने उसे वनमें ही त्याग दिया । अब तो यदि वह जीवित होगी तो बड़े कष्टसे उसके दिन बीतते होंगे । वह स्त्री अकेली थी । उसे मार्गका ज्ञान नहीं था । जिस संकटमें वह पड़ी थी, उसके योग्य वह कदापि नहीं थी ॥ १६-१७ ॥

क्षुत्पिपासापरीताङ्गी दुष्करं यदि जीवति ।
श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ॥ १८ ॥
त्यक्ता तेनाल्पभाग्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष ।
इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ॥
अज्ञातवासं न्यवसद् राज्ञस्तस्य निवेशने ॥ १९ ॥

'भूख और प्याससे उसके अङ्ग व्याप्त हो रहे थे । उस दशामें परित्यक्त होकर वह यदि जीवित भी हो तो भी उसका जीवित रहना बहुत कठिन है । आर्य जीवन ! अत्यन्त भयंकर विशाल वनमें जहाँ नित्य-निरन्तर हिंसक जन्तु विचरते रहते हैं, उस मन्दबुद्धि एवं मन्दभाग्य पुरुषने उसका त्याग कर दिया था ।' इस प्रकार निषधनरेश राजा नल दमयन्तीका निरन्तर स्मरण करते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलविलापे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलविलापविषयक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

विदर्भराजका नल-दमयन्तीकी खोजके लिये ब्राह्मणोंको भेजना, सुदेव ब्राह्मणका चेदिराजके भवनमें जाकर मन-ही-मन दमयन्तीके गुणोंका चिन्तन और उससे भेंट करना

बृहदश्व उवाच

हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये च वनं गते ।
द्विजान् प्रस्थापयामास नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! राज्यका अपहरण हो जानेपर जब राजा नल पत्नीसहित वनमें चले गये, तब विदर्भ-नरेश भीमने नलका पता लगानेके लिये बहुत-से ब्राह्मणोंको इधर-उधर भेजा ॥ १ ॥

संदिदेश च तान् भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम्।
मृगयध्वं नलं चैव दमयन्तीं च मे सुताम् ॥ २ ॥

राजा भीमने प्रचुर धन देकर ब्राह्मणोंको यह संदेश दिया—'आपलोग राजा नल और मेरी पुत्री दमयन्तीकी खोज करें ॥ २ ॥

अस्मिन् कर्मणि सम्पन्ने विज्ञाते निषधाधिपे ।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ॥ ३ ॥

'निषधनरेश नलका पता लग जानेपर जब यह कार्य सम्पन्न हो जायगा, तब मैं आपलोगोंमेंसे जो भी नल-दमयन्ती-को यहाँ ले आयेगा, उसे एक हजार गौएँ दूँगा ॥ ३ ॥

अग्रहारांश्च दास्यामि ग्रामं नगरसम्मितम् ।
न चेच्छक्याविहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा ॥ ४ ॥
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ।

'साथ ही जीविकाके लिये अग्रहार (करमुक्त भूमि) दूँगा और ऐसा गाँव दे दूँगा, जो आयमें नगरके समान होगा । यदि नल-दमयन्तीमेंसे किसी एकको या दोनोंको ही यहाँ ले आना सम्भव न हो सके तो केवल उनका पता लग जानेपर भी मैं एक हजार गोधन दान करूँगा' ॥ ४½ ॥

इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम् ॥ ५ ॥
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्यया ।
नैव क्वापि प्रपश्यन्ति नलं वा भीमपुत्रिकाम् ॥ ६ ॥
ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः ।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद् राजवेश्मनि ॥ ७ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण बड़े प्रसन्न होकर सब दिशाओंमें चले गये और नगर तथा राष्ट्रोंमें पत्नीसहित निषधनरेश नलका अनुसंधान करने लगे; परंतु कहीं भी वे नल अथवा भीमकुमारी दमयन्तीको नहीं देख पाते थे। तदनन्तर सुदेव नामक ब्राह्मणने पता लगाते हुए रमणीय चेदिनगरीमें जाकर वहाँ राजमहलमें विदर्भकुमारी दमयन्तीको देखा।५–७।

पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ।
मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेणाप्रतिमेन ताम् ॥ ८ ॥
निबद्धां धूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ।
तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ॥ ९ ॥

वह राजाके पुण्याहवाचनके समय सुनन्दाके साथ खड़ी थी । उसका अनुपम रूप (मैलसे आवृत होनेके कारण) मन्द-मन्द प्रकाशित हो रहा था, मानो अग्निकी प्रभा धूमसमूहसे आवृत हो रही हो । विशाल नेत्रोंवाली उस राजकुमारीको अधिक मलिन और दुर्बल देख उपर्युक्त कारणोंसे उसकी पहचान करते हुए सुदेवने निश्चय किया कि यह भीमकुमारी दमयन्ती ही है ॥ ८-९ ॥

सुदेव उवाच

यथेयं मे पुरा दृष्टा तथारूपेयमङ्गना ।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम् ॥ १० ॥

सुदेव मन-ही-मन बोले—मैंने पहले जिस रूपमें इस कल्याणमयी राजकन्याको देखा है, वैसी ही यह आज भी है । लोककमनीय लक्ष्मीकी भाँति इस भीमकुमारीको देखकर आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ ॥ १० ॥

पूर्णचन्द्रनिभां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम् ।
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ॥ ११ ॥

यह श्यामा युवती पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमती है । इसके स्तन बड़े मनोहर और गोल-गोल हैं । यह देवी अपनी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको आलोकित कर रही है ॥

चारुपद्मविशालाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव ।
इष्टां समस्तलोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥ १२ ॥

उसके बड़े-बड़े नेत्र मनोहर कमलोंकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं । यह कामदेवकी रति-सी जान पड़ती है। पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनीके समान यह सब लोगोंके लिये प्रिय है ॥ १२ ॥

विदर्भसरसस्तस्माद् दैवदोषादिवोद्धृताम् ।
मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १३ ॥
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम् ।
पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ॥ १४ ॥

विदर्भरूपी सरोवरसे यह कमलिनी मानो प्रारब्धके दोषसे निकाल ली गयी है । इसके मलिन अङ्ग कीचड़ लिपटी हुई नलिनीके समान प्रतीत होते हैं । यह उस पूर्णिमाकी रजनीके समान जान पड़ती है, जिसके चन्द्रमापर मानो राहुने ग्रहण लगा रक्खा हो । पति-शोकसे व्याकुल और दीन होनेके कारण यह सूखे जल-प्रवाहवाली सरिताके समान प्रतीत होती है ॥ १३-१४ ॥

विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहंगमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ॥ १५ ॥

इसकी दशा उस पुष्करिणीके समान दिखायी देती है, जिसे हाथियोंने अपने शुण्डदण्डसे मथ डाला हो तथा जो नष्ट हुए पत्तोंवाले कमलसे युक्त हो एवं जिसके भीतर निवास करनेवाले पक्षी अत्यन्त भयभीत हो रहे हों। यह दुःखसे अत्यन्त व्याकुल-सी प्रतीत हो रही है ॥ १५ ॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
दह्यमानामिवार्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १६ ॥

मनोहर अङ्गोंवाली यह सुकुमारी राजकन्या उन महलोंमें रहनेयोग्य है, जिनका भीतरी भाग रत्नोंका बना हुआ है । (इस समय दुःखने इसे ऐसा दुर्बल कर दिया है कि) यह सरोवरसे निकाली और सूर्यकी किरणोंसे जलायी हुई कमलिनी-के समान प्रतीत हो रही है ॥ १६ ॥

रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ॥ १७ ॥

यह रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न है । शृङ्गार धारण करनेके योग्य होनेपर भी यह शृङ्गारशून्य है, मानो आकाशमें मेघोंकी काली घटासे आवृत नूतन चन्द्रकला हो ॥

कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च ।
देहं संधारयन्तीं हि भर्तृदर्शनकाङ्क्षया ॥ १८ ॥

यह राजकन्या प्रिय कामभोगोंसे वञ्चित है। अपने बन्धु-जनोंसे बिछुड़ी हुई है और पतिके दर्शनकी इच्छासे अपने (दीन-दुर्बल) शरीरको धारण कर रही है ॥ १८ ॥

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा हि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ॥ १९ ॥

वास्तवमें पति ही नारीका सबसे श्रेष्ठ आभूषण है। उसके होनेसे वह बिना आभूषणोंके सुशोभित होती है; परंतु यह पतिरूप आभूषणसे रहित होनेके कारण शोभामयी होकर भी सुशोभित नहीं हो रही है ॥ १९ ॥

दुष्करं कुरुतेऽत्यन्तं हीनो यदनया नलः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनापि सीदति ॥ २० ॥

इससे विलग होकर राजा नल यदि अपने शरीरको धारण करते हैं और शोकसे शिथिल नहीं हो रहे हैं तो यह समझना चाहिये कि वे अत्यन्त दुष्कर कर्म कर रहे हैं ॥ २० ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथते मनः ॥ २१ ॥

काले-काले केशों और कमलके समान विशाल नेत्रोंसे सुशोभित इस राजकन्याको, जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, दुःखित देखकर मेरे मनमें भी बड़ी व्यथा हो रही है ॥ २१ ॥

कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा ।
भर्तुः समागमात् साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ॥ २२ ॥

जैसे रोहिणी चन्द्रमाके संयोगसे सुखी होती है, उसी प्रकार यह शुभलक्षणा साध्वी राजकुमारी अपने पतिके समागमसे (संतुष्ट हो) कब इस दुःखके समुद्रसे पार हो सकेगी ॥

अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति ।
राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वा च मेदिनीम् ॥ २३ ॥

जैसे कोई राजा एक बार अपने राज्यसे च्युत होकर फिर उसी राज्यभूमिको प्राप्त कर लेनेपर अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है, उसी प्रकार पुनः इसके मिल जानेपर निषधनरेश नलको निश्चय ही बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ २३ ॥

तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंवृताम् ।
नैषधोऽर्हति वैदर्भीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ २४ ॥

विदर्भकुमारी दमयन्ती राजा नलके समान शील और अवस्थासे युक्त है, उन्हींके तुल्य उत्तम कुलसे सुशोभित है। निषधनरेश नल विदर्भकुमारीके योग्य हैं और यह कजरारे नेत्रोंवाली वैदर्भी नलके योग्य है ॥ २४ ॥

युक्तं तस्याप्रमेयस्य वीर्यसत्त्ववतो मया ।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनलालसाम् ॥ २५ ॥

राजा नलका पराक्रम और धैर्य असीम है। उनकी यह पत्नी पतिदर्शनके लिये लालायित और उत्कण्ठित है, अतः मुझे इससे मिलकर इसे आश्वासन देना चाहिये ॥ २५ ॥

अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्तां ध्यानतत्पराम् ॥ २६ ॥

इस पूर्णचन्द्रमुखी राजकुमारीने पहले कभी दुःखको नहीं देखा था। इस समय दुःखसे आतुर हो पतिके ध्यानमें परायण है, अतः मैं इसे आश्वासन देनेका विचार कर रहा हूँ ॥

बृहदश्व उवाच

एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम् ।
उपागम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥
अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा ।
भीमस्य वचनाद् राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहागतः ॥ २८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार भाँति-भाँतिके कारणों और लक्षणोंसे दमयन्तीको पहचानकर और अपने कर्तव्यके विषयमें विचार करके सुदेव ब्राह्मण उसके समीप गये और इस प्रकार बोले—'विदर्भराजकुमारी !
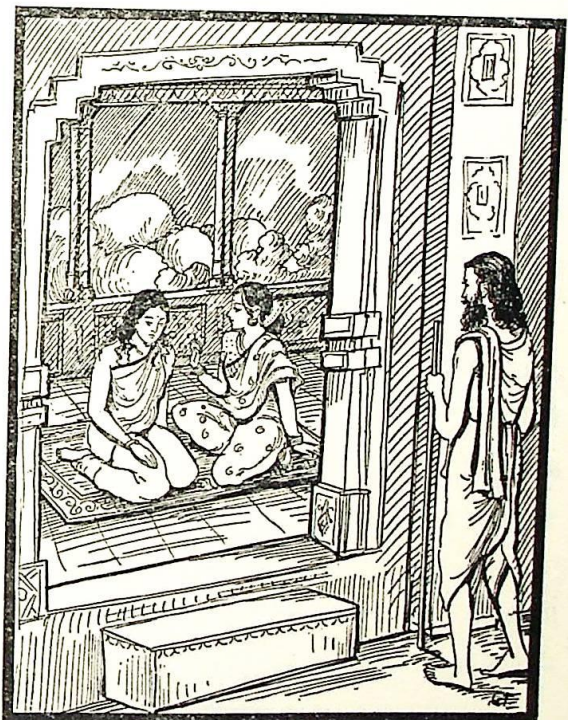
मैं तुम्हारे भाईका प्रिय सखा सुदेव हूँ। महाराज भीमकी आज्ञासे तुम्हारी खोज करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ २७-२८ ॥

कुशली ते पिता राज्ञि जननी भ्रातरश्च ते ।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च तौ ॥ २९ ॥

'निषधदेशकी महारानी ! तुम्हारे पिता, माता और भाई सब सकुशल हैं और कुण्डिनपुरमें जो तुम्हारे बालक हैं, वे भी कुशलसे हैं ॥ २९ ॥

त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवासते ।
अन्वेष्टारो ब्राह्मणाश्च भ्रमन्ति शतशो महीम् ॥ ३० ॥

'तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारी ही चिन्तासे मृतक-तुल्य हो रहे हैं। (तुम्हारी खोज करनेके लिये) सैकड़ों ब्राह्मण इस पृथ्वीपर घूम रहे हैं' ॥ ३० ॥

बृहदश्व उवाच

अभिज्ञाय सुदेवं तं दमयन्ती युधिष्ठिर ।
पर्यपृच्छत तान् सर्वान् क्रमेण सुहृदः स्वकान् ॥ ३१ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! सुदेवको पहचानकर दमयन्तीने क्रमशः अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३१ ॥

रुरोद च भृशं राजन् वैदर्भी शोककर्शिता ।
दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ॥ ३२ ॥
रुदतीं तामथो दृष्ट्वा सुनन्दा शोककर्शिता ।
सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीं च भारत ॥ ३३ ॥

राजन्! अपने भाईके प्रिय मित्र द्विजश्रेष्ठ सुदेवको सहसा आया देख दमयन्ती शोकसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगी। भारत! तदनन्तर उसे सुदेवके साथ एकान्तमें बात करती तथा रोती देख सुनन्दा शोकसे व्याकुल हो उठी ॥ ३२-३३ ॥

जनित्र्यै कथयामास सैरन्ध्री रोदितीति च ।
ब्राह्मणेन समागम्य तां वेद यदि मन्यसे ॥ ३४ ॥

उसने अपनी मातासे जाकर कहा—'माँ! सैरन्ध्री एक ब्राह्मणसे मिलकर बहुत रो रही है। यदि तुम ठीक समझो तो इसका कारण जाननेकी चेष्टा करो' ॥ ३४ ॥

अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चान्तःपुरात् तदा ।
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाभवत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर चेदिराजकी माता उस समय अन्तःपुरसे निकलकर उसी स्थानपर गयीं, जहाँ राजकन्या दमयन्ती ब्राह्मणके साथ खड़ी थी ॥ ३५ ॥

ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशाम्पते ।
पप्रच्छ भार्या कस्येयं सुता वा कस्य भाविनी ॥ ३६ ॥
कथं च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्तुर्वा वामलोचना ।
त्वया च विदिता विप्र कथमेवंगता सती ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर! तब राजमाताने सुदेवको बुलाकर पूछा—'विप्रवर! जान पड़ता है, तुम इसे जानते हो। बताओ, यह सुन्दरी युवती किसकी पत्नी अथवा किसकी पुत्री है? यह सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरी अपने भाई-बन्धुओं अथवा पतिसे किस प्रकार विलग हुई है? यह सती-साध्वी नारी ऐसी दुरवस्थामें क्यों पड़ गयी?॥ ३६-३७ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः सर्वमशेषतः ।
तत्त्वेन हि ममाचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ॥ ३८ ॥

'ब्रह्मन्! इस देवरूपिणी नारीके विषयमें यह सारा वृत्तान्त मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहती हूँ। मैं जो कुछ पूछती हूँ, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ' ॥ ३८ ॥

एवमुक्तस्तया राजन् सुदेवो द्विजसत्तमः ।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ॥ ३९ ॥

राजन्! राजमाताके इस प्रकार पूछनेपर वे द्विजश्रेष्ठ सुदेव सुखपूर्वक बैठकर दमयन्तीका यथार्थ वृत्तान्त बताने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसुदेवसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्ती-सुदेव-संवादविषयक अरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीका अपने पिताके यहाँ जाना और वहाँसे नलको ढूँढ़नेके लिये अपना संदेश देकर ब्राह्मणोंको भेजना

सुदेव उवाच

विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो नाम महाद्युतिः ।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ॥ १ ॥

सुदेवने कहा—देवि! विदर्भदेशके राजा महातेजस्वी भीम बड़े धर्मात्मा हैं। यह उन्हींकी पुत्री है। इस कल्याणस्वरूपा राजकन्याका नाम दमयन्ती है ॥ १ ॥
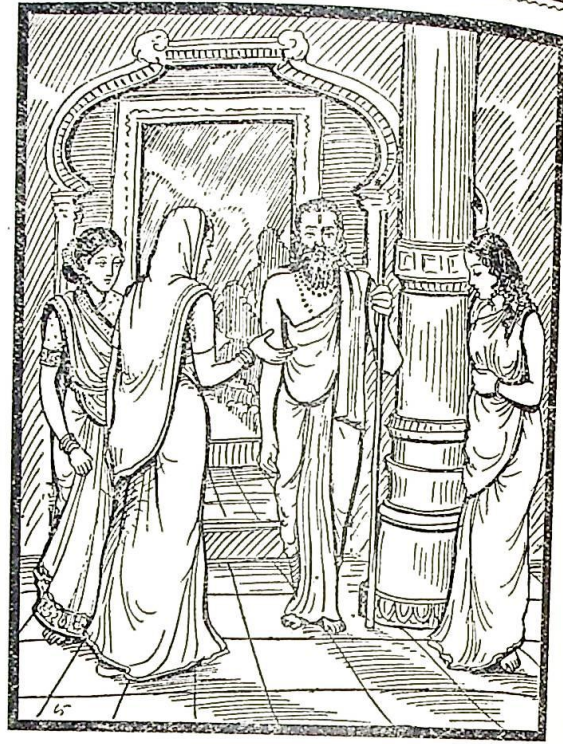
राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः ।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः ॥ २ ॥

वीरसेनपुत्र नल निषधदेशके सुप्रसिद्ध राजा हैं। उन्हीं (परम) बुद्धिमान् पुण्यश्लोक नलकी यह कल्याणमयी पत्नी है ॥

स द्यूतेन जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः ।
दमयन्त्या गतः सार्धं न प्राज्ञायत कस्यचित् ॥ ३ ॥

एक दिन राजा नल अपने भाईके द्वारा जूएमें हार गये। उसीमें उनका सारा राज्य चला गया। वे दमयन्तीके साथ वनमें चले गये। तबसे अबतक किसीको उनका पता नहीं लगा ॥ ३ ॥

ते वयं दमयन्त्यर्थे चरामः पृथिवीमिमाम् ।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने ॥ ४ ॥

हम अनेक ब्राह्मण दमयन्तीको ढूँढ़नेके लिये इस पृथ्वीपर विचर रहे हैं। आज आपके पुत्रके महलमें मुझे यह राजकुमारी मिली है ॥ ४ ॥

अस्या रूपेण सदृशी मानुषी न हि विद्यते ।
अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः ॥ ५ ॥

रूपमें इसकी समानता करनेवाली कोई भी मानवकन्या नहीं है। इसके दोनों भौंहोंके बीच एक जन्मजात उत्तम तिलका चिह्न है ॥ ५ ॥

श्यामायाः पद्मसंकाशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया ।
मलेन संवृतो ह्यस्याश्छन्नोऽभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ६ ॥

मैंने देखा है, इस श्यामा राजकुमारीके ललाटमें वह कमलके समान चिह्न छिपा हुआ है। मेघमालासे ढँके हुए चन्द्रमाकी भाँति उसका वह चिह्न मैलसे ढक गया है ॥ ६ ॥

चिह्नभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः ।
प्रतिपत्कलुषस्येन्दोर्लेखा नातिविराजते ॥ ७ ॥
न चास्या नश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम् ।
असंस्कृतमभिव्यक्तं भाति काञ्चनसंनिभम् ॥ ८ ॥
अनेन वपुषा बाला पिप्लुनानेन सूचिता ।
लक्षितेयं मया देवी निभृतोऽग्निरिवोष्मणा ॥ ९ ॥

विधाताके द्वारा निर्मित यह चिह्न इसके भावी ऐश्वर्यका सूचक है। इस समय यह प्रतिपदाकी मलिन चन्द्रकलाके समान अधिक शोभा नहीं पा रही है। इसका सुवर्ण-जैसा सुन्दर शरीर मैलसे व्याप्त और संस्कारशून्य (मार्जन आदिसे रहित) होनेपर भी स्पष्ट रूपसे उद्भासित हो रहा है। इसका रूप-सौन्दर्य नष्ट नहीं हुआ है। जैसे छिपी हुई आग अपनी गर्मीसे पहचान ली जाती है, उसी प्रकार यद्यपि देवी दमयन्ती मलिन शरीरसे युक्त है तो भी इस ललाटवर्ती तिलके चिह्नसे ही मैंने इसे पहचान लिया है ॥ ७–९ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशाम्पते ।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम् ॥ १० ॥

युधिष्ठिर! सुदेवका यह वचन सुनकर सुनन्दाने दमयन्तीके ललाटवर्ती चिह्नको ढँकनेवाली मैल धो दी ॥ १० ॥

स मलेनापकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत ।
दमयन्त्या यथा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः ॥ ११ ॥

मैल धुल जानेपर उसके ललाटका वह चिह्न उसी प्रकार चमक उठा, जैसे बादलरहित आकाशमें चन्द्रमा प्रकाशित होता है ॥ ११ ॥

पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत ।
रुदत्यौ तां परिष्वज्य मुहूर्तमिव तस्थतुः ॥ १२ ॥

भारत ! उस चिह्नको देखकर सुनन्दा और राजमाता दोनों रोने लगीं और दमयन्तीको हृदयसे लगाये दो घड़ीतक स्तब्ध खड़ी रहीं ॥ १२ ॥

उत्सृज्य बाष्पं शनकै राजमातेदमब्रवीत् ।
भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनानेन सूचिता ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् राजमाताने आँसू बहाते हुए धीरेसे कहा—'बेटी ! तुम मेरी बहिनकी पुत्री हो। इस चिह्नके कारण मैंने भी तुम्हें पहचान लिया ॥ १३ ॥

अहं च तव माता च राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
सुते दशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने ॥ १४ ॥

'सुन्दरी ! मैं और तुम्हारी माता दोनों दशार्णदेशके स्वामी महामना राजा सुदामाकी पुत्रियाँ हैं ॥ १४ ॥

भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः ।
त्वं तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितुर्गृहे ॥ १५ ॥

'तुम्हारी माँका ब्याह राजा भीमके साथ हुआ और मेरा चेदिराज वीरबाहुके साथ। तुम्हारा जन्म दशार्णदेशमें मेरे पिताके ही घरपर हुआ और मैंने अपनी आँखों देखा ॥

यथैव ते पितुर्गेहं तथैव मम भामिनि ।
यथैव च ममैश्वर्यं दमयन्ति तथा तव ॥ १६ ॥

'भामिनि ! तुम्हारे लिये जैसा पिताका घर है, वैसा ही मेरा घर है। दमयन्ती ! यह सारा ऐश्वर्य जैसे मेरा है, उसी प्रकार तुम्हारा भी है' ॥ १६ ॥

तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशाम्पते ।
प्रणम्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर ! तब दमयन्तीने प्रसन्न हृदयसे अपनी मौसीको प्रणाम करके कहा— ॥ १७ ॥

अज्ञायमानापि सती सुखमस्म्युषिता त्वयि ।
सर्वकामैः सुविहिता रक्ष्यमाणा सदा त्वया ॥ १८ ॥

'माँ ! यद्यपि तुम मुझे पहचानती नहीं थी, तब भी मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रही हूँ। तुमने मेरे इच्छानुसार सारी सुविधाएँ कर दीं और सदा तुम्हारे द्वारा मेरी रक्षा होती रही ॥

सुखात् सुखतरो वासो भविष्यति न संशयः।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि ॥१९॥

'अब यदि मैं यहाँ रहूँ तो यह मेरे लिये अधिक-से-अधिक सुखदायक होगा, इसमें संशय नहीं है, किंतु मैं बहुत दिनोंसे प्रवासमें भटक रही हूँ, अतः माताजी ! मुझे विदर्भ जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ १९ ॥

दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ।
पित्रा विहीनौ शोकार्तौ मया चैव कथं नु तौ ॥२०॥

'मैंने अपने बच्चोंको पहले ही कुण्डिनपुर भेज दिया था। वे वहीं रहते हैं। पितासे तो उनका वियोग हो ही गया है; मुझसे भी वे बिछुड़ गये हैं, ऐसी दशामें वे शोकार्त बालक कैसे रहते होंगे ?॥ २० ॥

यदि चापि प्रियं किंचिन्मयि कर्तुमिहेच्छसि।
विदर्भान् यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ॥२१॥
बाढमित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृष्वसा नृप।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्यानुमते ततः ॥२२॥
प्रास्थापयद् राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम् ॥२३॥

'माँ ! यदि तुम मेरा कुछ भी प्रिय करना चाहती हो तो मेरे लिये शीघ्र किसी सवारीकी व्यवस्था कर दो। मैं विदर्भदेश जाना चाहती हूँ।' राजन् ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर दमयन्तीकी मौसीने प्रसन्नतापूर्वक अपने पुत्रकी राय लेकर सुन्दरी दमयन्तीको पालकीपर बिठाकर विदा किया। उसकी रक्षाके लिये बहुत बड़ी सेना दे दी। भरतश्रेष्ठ ! राजमाताने दमयन्तीके साथ खाने-पीनेकी तथा अन्य आवश्यक सामग्रियोंकी अच्छी व्यवस्था कर दी ॥ २१-२३ ॥

ततः सा न चिरादेव विदर्भानगमत् पुनः।
तां तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः समपूजयत् ॥२४॥

तदनन्तर वहाँसे विदा हो वह थोड़े ही दिनोंमें विदर्भदेशकी राजधानीमें जा पहुँची। उसके आगमनसे माता-पिता आदि सभी बन्धु-बान्धव बड़े प्रसन्न हुए और सबने उसका स्वागत-सत्कार किया ॥ २४ ॥

सर्वान् कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान् दारकौ च तौ।
मातरं पितरं चोभौ सर्वं चैव सखीजनम् ॥२५॥
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी।
परेण विधिना देवी दमयन्ती विशाम्पते ॥२६॥

राजन् ! समस्त बन्धु-बान्धवों, दोनों बच्चों, माता-पिता और सम्पूर्ण सखियोंको सकुशल देखकर यशस्विनी देवी दमयन्तीने उत्तम विधिके साथ देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ २५-२६ ॥

अतर्पयत् सुदेवं च गोसहस्रेण पार्थिवः।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ॥२७॥

राजा भीम अपनी पुत्रीको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने एक हजार गौ, एक गाँव तथा धन देकर सुदेव ब्राह्मणको संतुष्ट किया ॥ २७ ॥

सा व्युष्टा रजनीं तत्र पितुर्वेश्मनि भाविनी।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥२८॥

युधिष्ठिर ! भाविनी दमयन्तीने उस रातमें पिताके घरमें विश्राम किया। सबेरा होनेपर उसने मातासे कहा—॥ २८ ॥

दमयन्त्युवाच

मां चेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते।
नलस्य नरवीरस्य यतस्वानयने पुनः ॥२९॥

दमयन्ती बोली—माँ ! यदि मुझे जीवित देखना चाहती हो तो मैं तुमसे सच कहती हूँ, नरवीर महाराज नलकी खोज करानेका पुनः प्रयत्न करो ॥ २९ ॥

दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता।
बाष्पेणापिहिता राज्ञी नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ॥३०॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं। वे अत्यन्त दुखी हो गयीं और तत्काल उसे कोई उत्तर न दे सकीं ॥ ३० ॥

तदवस्थां तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं तदा।
हाहाभूतमतीवासीद् भृशं च प्ररुरोद ह ॥३१॥

तब महारानीकी यह दयनीय अवस्था देख उस समय सारे अन्तःपुरमें हाहाकार मच गया। सब-के-सब फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३१ ॥

ततो भीमं महाराजं भार्या वचनमब्रवीत्।
दमयन्ती तव सुता भर्तारमनुशोचति ॥३२॥

तदनन्तर महाराज भीमसे उनकी पत्नीने कहा—'प्राणनाथ ! आपकी पुत्री दमयन्ती अपने पतिके लिये निरन्तर शोकमें डूबी रहती है ॥ ३२ ॥

अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप।
प्रयतन्तां तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य मार्गणे ॥३३॥

'नरेश्वर ! उसने लाज छोड़कर स्वयं अपने मुँहसे कहा है, अतः आपके सेवक पुण्यश्लोक महाराज नलका पता लगानेका प्रयत्न करें' ॥ ३३ ॥

तया प्रचोदितो राजा ब्राह्मणान् वशवर्तिनः।
प्रास्थापयद् दिशः सर्वा यतध्वं नलमार्गणे ॥३४॥

महारानीसे प्रेरित हो राजा भीमने अपने अधीनस्थ ब्राह्मणोंको यह कहकर सब दिशाओंमें भेजा कि 'आपलोग नलको ढूँढ़नेकी चेष्टा करें' ॥ ३४ ॥

ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद् ब्राह्मणास्तदा।
दमयन्तीमथो दृष्ट्वा प्रस्थिताः स्मेत्यथाब्रुवन् ॥३५॥

तत्पश्चात् विदर्भनरेशकी आज्ञासे ब्राह्मणलोग प्रस्थित हो दमयन्तीके पास जाकर बोले—'राजकुमारी! हम सब नलका पता लगाने जा रहे हैं (क्या आपको कुछ कहना है?)' ॥
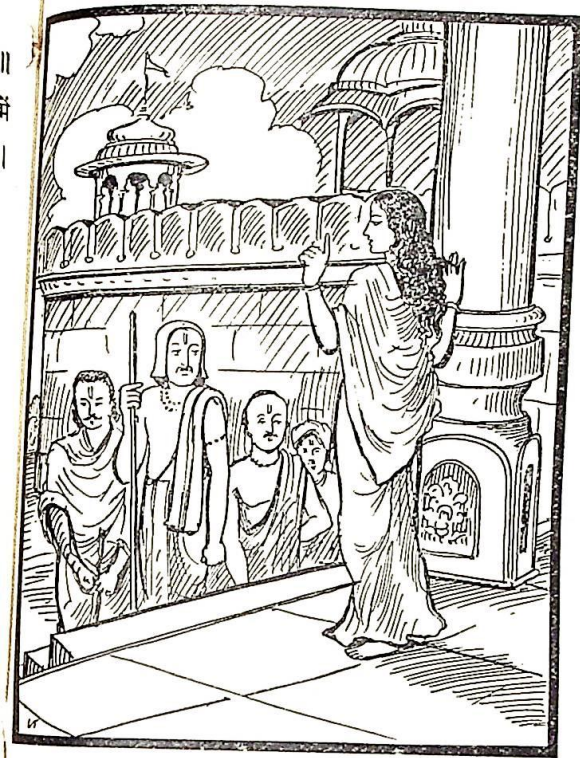
अथ तानब्रवीद् भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः।
ब्रुवध्वं जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनः पुनः ॥३६॥

तब भीमकुमारीने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'सब राष्ट्रोंमें घूम-घूमकर जनसमुदायमें आपलोग बार-बार मेरी यह बात बोलें—॥ ३६ ॥

क नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥३७॥

'ओ जुआरी प्रियतम! तुम वनमें सोयी हुई और अपने प्रतिमें अनुराग रखनेवाली मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये?॥ ३७॥

सा वै यथा त्वया दृष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ॥३८॥

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढँककर वह युवती तुम्हारी विरहाग्निमें निरन्तर जल रही है॥ ३८॥

तस्या रुदत्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं ददस्व च ॥३९॥

'वीर भूमिपाल! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उस प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मुझे मेरी बातका उत्तर दो'॥ ३९॥

एवमन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद् यथा मयि।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः ॥४०॥

'ब्राह्मणो! ये तथा और भी बहुत-सी ऐसी बातें आप कहें, जिससे वे मुझपर कृपा करें। वायुकी सहायतासे प्रज्वलित आग सारे वनको जला डालती है (इसी प्रकार विरहकी व्याकुलता मुझे जला रही है)॥ ४०॥

भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी पत्या हि सर्वदा।
तन्नष्टमुभयं कस्माद् धर्मज्ञस्य सतस्तव ॥४१॥

'प्राणनाथ! पतिको उचित है कि वह सदा अपनी पत्नीका भरण-पोषण एवं संरक्षण करे। आप धर्मज्ञ और साधु पुरुष हैं, आपके ये दोनों कर्तव्य सहसा नष्ट कैसे हो गये?॥

ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशो भवान् सदा।
संवृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ॥४२॥

'आप विख्यात विद्वान्, कुलीन और सदा सबके प्रति दयाभाव रखनेवाले हैं, परंतु मेरे हृदयमें यह संदेह होने लगा है कि आप मेरा भाग्य नष्ट होनेके कारण मेरे प्रति निर्दय हो गये हैं॥ ४२॥

तत् कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः ॥४३॥

'नरव्याघ्र! नरोत्तम! मुझपर दया करो। मैंने तुम्हारे ही मुखसे सुन रक्खा है कि दयालुता सबसे बड़ा धर्म है'॥

एवं ब्रुवाणान् यदि वः प्रतिब्रूयात् कथंचन।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चासौ क्व नु वर्तते ॥४४॥

'ब्राह्मणो! यदि आपके ऐसी बातें कहनेपर कोई किसी प्रकार भी आपको उत्तर दे तो उस मनुष्यका सब प्रकारसे परिचय प्राप्त कीजियेगा कि वह कौन है और कहाँ रहता है, इत्यादि॥ ४४॥

यश्चैवं वचनं श्रुत्वा ब्रूयात् प्रतिवचो नरः।
तदादाय वचस्तस्य ममावेद्यं द्विजोत्तमाः ॥४५॥

'विप्रवरो! आपके इन वचनोंको सुनकर जो कोई मनुष्य जैसा भी उत्तर दे, उसकी वह बात याद रखकर आपलोग मुझे बतावें॥ ४५॥

यथा च वो न जानीयाद् ब्रुवतो मम शासनात्।
पुनरागमनं चैव तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥४६॥

'किसीको भी यह नहीं मालूम होना चाहिये कि आपलोग मेरी आज्ञासे ये बातें कह रहे हैं। जब कोई उत्तर मिल जाय, तब आप आलस्य छोड़कर पुनः यहाँ तुरंत लौट आवें॥४६॥

यदि वासौ समृद्धः स्याद् यदि वाप्यधनो भवेत्।
यदि वाप्यसमर्थः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम् ॥४७॥

'उत्तर देनेवाला पुरुष धनवान् हो या निर्धन, समर्थ हो या असमर्थ, वह क्या करना चाहता है, इस बातको जाननेका प्रयत्न कीजिये' ॥ ४७ ॥

एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम्।
नलं मृगयितुं राजंस्तदा व्यसनिनं तथा ॥४८॥
ते पुराणि सराष्ट्राणि ग्रामान् घोषांस्तथाऽऽश्रमान्।
अन्वेषन्तो नलं राजन् नाधिजग्मुर्द्विजातयः ॥४९॥

राजन्! दमयन्तीके ऐसा कहनेपर वे ब्राह्मण संकटमें पड़े हुए राजा नलको ढूँढ़नेके लिये सब दिशाओंकी ओर च[ले] गये। युधिष्ठिर! उन ब्राह्मणोंने नगरों, राष्ट्रों, गाँवों, गो[शालाओं] तथा आश्रमोंमें भी नलका अन्वेषण किया; किंतु उन्हें क[हीं] भी उनका पता न लगा ॥ ४८-४९ ॥

तच्च वाक्यं तथा सर्वं तत्र तत्र विशाम्पते।
श्रावयांचक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ॥५०॥

महाराज! दमयन्तीने जैसा बताया था, उस वाक्यको सभी ब्राह्मण भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जाकर लोगोंको सुनाय[ा] करते थे ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलान्वेषणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी खोजविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

पर्णादका दमयन्तीसे बाहुकरूपधारी नलका समाचार बताना और दमयन्तीका ऋतुपर्णके यहाँ सुदेव नामक ब्राह्मणको स्वयंवरका संदेश देकर भेजना

बृहदश्व उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् पर्णादनामक ब्राह्मण विदर्भदेशकी राजधानीमें लौटकर आये और दमयन्तीसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

नैषधं मृगयानेन दमयन्ति मया नलम्।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ २ ॥

'दमयन्ती! मैं निषधनरेश नलको ढूँढ़ता हुआ अयोध्या नगरीमें गया और वहाँ राजा ऋतुपर्णके दरबारमें उपस्थित हुआ ॥ २ ॥

श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ॥ ३ ॥
तच्छ्रुत्वा नाब्रवीत् किंचिदृतुपर्णो नराधिपः।
न च पारिषदः कश्चिद् भाष्यमाणो मयासकृत् ॥ ४ ॥

'वहाँ बहुत लोगोंकी भीड़में मैंने तुम्हारा वाक्य महाभाग ऋतुपर्णको सुनाया। वरवर्णिनि! उस बातको सुनकर राजा ऋतुपर्ण कुछ न बोले। मेरे बार-बार कहनेपर भी उनका कोई सभासद् भी इसका उत्तर न दे सका ॥ ३-४ ॥

अनुज्ञातं तु मां राज्ञा विजने कश्चिदब्रवीत्।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ॥ ५ ॥

'परंतु ऋतुपर्णके यहाँ बाहुक नामधारी एक पुरुष है, उसने जब मैं राजासे विदा लेकर लौटने लगा, तब मुझसे एकान्तमें आकर तुम्हारी बातोंका उत्तर दिया ॥ ५ ॥

सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः।
शीघ्रयानेषु कुशलो मृष्टकर्ता च भोजने ॥ ६ ॥

'वह महाराज ऋतुपर्णका सारथि है। उसकी भुजाएँ छोटी हैं तथा वह देखनेमें कुरूप भी है। वह घोड़ोंको शीघ्र हाँकनेमें कुशल है और अपने बनाये हुए भोजनमें बड़ा मिठास उत्पन्न कर देता है ॥ ६ ॥

स विनिःश्वस्य बहुशो रुदित्वा च पुनः पुनः।
कुशलं चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ॥ ७ ॥

'बाहुकने बार-बार लम्बी साँसें खींचकर अनेक बार रोदन किया और मुझसे कुशल-समाचार पूछकर फिर वह इस प्रकार कहने लगा—॥ ७ ॥

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥ ८ ॥

'उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी सङ्कटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे सत्य और स्वर्ग दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ ९ ॥

'श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ॥ ९ ॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥१०॥

'वह पुरुष बड़े संकटमें था, सुखके साधनोंसे वञ्चित होकर किंकर्तव्यविमूढ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥११॥

'जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम्।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥१२॥

'पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार—उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वञ्चित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था' ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहागतः।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ॥१३॥

'बाहुककी वह बात सुनकर मैं तुरंत यहाँ चला आया। यह सब सुनकर अब कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें तुम्हीं प्रमाण हो। (तुम्हारी इच्छा हो तो) महाराजको भी ये बातें सूचित कर दो' ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वाश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशाम्पते।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ॥१४॥

युधिष्ठिर! पर्णादका यह कथन सुनकर दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आया। उसने एकान्तमें जाकर अपनी मातासे कहा—॥ १४ ॥

अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कदाचन।
त्वत्संनिधौ नियोक्ष्येऽहं सुदेवं द्विजसत्तमम् ॥१५॥
यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम्।
तथा त्वया प्रकर्तव्यं मम चेत् प्रियमिच्छसि ॥१६॥

'माँ! पिताजीको यह बात कदापि मालूम न होनी चाहिये। मैं तुम्हारे ही सामने विप्रवर सुदेवको इस कार्यमें लगाऊँगी। तुम ऐसी चेष्टा करो, जिससे पिताजीको मेरा विचार ज्ञात न हो। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहती हो तो तुम्हें इसके लिये सचेष्ट रहना होगा ॥ १५-१६ ॥

यथा चाहं समानीता सुदेवेनाशु बान्धवान्।
तेनैव मङ्गलेनाशु सुदेवो यातु मा चिरम् ॥१७॥
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः।

'जैसे सुदेवने मुझे यहाँ लाकर बन्धु-बान्धवोंसे शीघ्र मिला दिया, उसी मङ्गलमय उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सुदेव ब्राह्मण फिर शीघ्र ही यहाँसे अयोध्या जायँ, देर न करें। माँ! वहाँ जानेका उद्देश्य है, महाराज नलको यहाँ ले आना' ॥ १७½ ॥

विश्रान्तं तु ततः पश्चात् पर्णादं द्विजसत्तमम् ॥१८॥
अर्चयामास वैदर्भी धनेनातीव भाविनी।
नले चेहागते तत्र भूयो दास्यामि ते वसु ॥१९॥

इतनेहीमें विप्रवर पर्णाद जब विश्राम कर चुके, तब विदर्भराजकुमारी दमयन्तीने बहुत धन देकर उनका सत्कार किया और यह भी कहा—'महाराज नलके यहाँ पधारनेपर मैं आपको और भी धन दूँगी ॥ १८-१९ ॥

त्वया हि मे बहु कृतं यदन्यो न करिष्यति।
यद् भर्त्राहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ॥२०॥

'विप्रवर! आपने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया, जो दूसरा नहीं कर सकता; क्योंकि अब मैं अपने स्वामीसे शीघ्र ही मिल सकूँगी' ॥ २० ॥

स एवमुक्तोऽथाश्वास्य आशीर्वादैः सुमङ्गलैः।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः सुमहामनाः ॥२१॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अत्यन्त उदार हृदयवाले पर्णाद अपने परम मङ्गलमय आशीर्वादोंद्वारा उसे आश्वासन दे कृतार्थ हो अपने घर चले गये ॥ २१ ॥

ततः सुदेवमाभाष्य दमयन्ती युधिष्ठिर।
अब्रवीत् संनिधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ॥२२॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर दमयन्तीने सुदेव ब्राह्मणको बुलाकर अपनी माताके समीप दुःख-शोकसे पीड़ित होकर कहा—॥२२॥

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम्।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि सम्पतन्निव कामगः ॥२३॥

'सुदेवजी ! आप इच्छानुसार चलनेवाले द्रुतगामी पक्षीकी भाँति शीघ्रतापूर्वक अयोध्या नगरीमें जाकर वहाँके निवासी राजा ऋतुपर्णसे कहिये—॥ २३ ॥

आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम्।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥२४॥

'भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी। वहाँ बहुत-से राजा और राजकुमार सब ओरसे जा रहे हैं ॥२४॥

तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति।
यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिंदम ॥२५॥

'उसके लिये समय नियत हो चुका है। कल ही स्वयंवर होगा। शत्रुदमन ! यदि आपका वहाँ पहुँचना सम्भव हो तो शीघ्र जाइये ॥ २५ ॥

सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा ॥२६॥

'कल सूर्योदय होनेके बाद वह दूसरे पतिका वरण कर लेगी; क्योंकि वीरवर नल जीवित हैं या नहीं, इसका कुछ पता नहीं लगता है' ॥ २६ ॥

एवं तया यथोक्तो वै गत्वा राजानमब्रवीत्।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ॥२७॥

महाराज ! दमयन्तीके इस प्रकार बतानेपर सुदेव ब्राह्मणने राजा ऋतुपर्णके पास जाकर वही बात कही ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपुनःस्वयंवरकथने सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीके पुनः स्वयंवरकी चर्चासे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा ऋतुपर्णका विदर्भदेशको प्रस्थान, राजा नलके विषयमें वार्ष्णेयका विचार और बाहुककी अद्भुत अश्वसंचालन-कलासे वार्ष्णेय और ऋतुपर्णका प्रभावित होना

बृहदश्व उवाच

श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुदेवकी वह बात सुनकर राजा ऋतुपर्णने मधुर वाणीसे सान्त्वना देते हुए बाहुकसे कहा—॥ १ ॥

विदर्भान् यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ॥ २ ॥

'बाहुक ! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ हो, यदि मेरी बात मानो तो मैं दमयन्तीके स्वयवरमें सम्मिलित होनेके लिये एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ' ॥२॥

एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह।
व्यदीर्यत मनो दुःखात् प्रदध्यौ च महामनाः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! राजा ऋतुपर्णके ऐसा कहनेपर राजा नलका मन अत्यन्त दुःखसे विदीर्ण होने लगा। महामना नल बहुत देरतक किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ॥३॥

दमयन्ती वदेदेतत् कुर्याद् दुःखेन मोहिता।
अस्मदर्थे भवेद् वायमुपायश्चिन्तितो महान् ॥ ४ ॥

वे सोचने लगे—'क्या दमयन्ती ऐसी बात कह सकती है ? अथवा सम्भव है, दुःखसे मोहित होकर वह ऐसा कार्य कर ले। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसने मेरी प्राप्तिके लिये यह महान् उपाय सोच निकाला हो ? ॥ ४ ॥

नृशंसं बत वैदर्भी भर्तृकामा तपस्विनी।
मया क्षुद्रेण निकृता कृपणा पापबुद्धिना ॥ ५ ॥
स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः।
स्यादेवमपि कुर्यात् सा विवासाद् गतसौहृदा ॥ ६ ॥

'तपस्विनी एवं दीन विदर्भराजकुमारीको मुझ नीच एवं पापबुद्धि पुरुषने धोखा दिया है, इसीलिये वह ऐसा निष्ठुर कार्य करनेको उद्यत हो गयी। संसारमें स्त्रीका चञ्चल स्वभाव प्रसिद्ध है। मेरा अपराध भी भयंकर है। सम्भव है मेरे प्रवाससे उसका हार्दिक स्नेह कम हो गया हो, अतः वह ऐसा भी कर ले ॥ ५-६ ॥

मम शोकेन संविग्ना नैराश्यात् तनुमध्यमा।
नैवं सा कर्हिचित् कुर्यात् सापत्या च विशेषतः ॥ ७ ॥

'क्योंकि पतली कमरवाली वह युवती मेरे शोकसे अत्यन्त उद्विग्न हो उठी होगी और मेरे मिलनेकी आशा न होनेके कारण उसने ऐसा विचार कर लिया होगा, परंतु मेरा हृदय कहता है कि वह कभी ऐसा नहीं कर सकती। विशेषतः वह संतानवती है। इसलिये भी उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती ॥ ७ ॥

यदत्र सत्यं वासत्यं गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम् ।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थं च करोम्यहम् ॥ ८ ॥

'इसमें कितना सत्य या असत्य है—इसे मैं वहाँ जाकर ही निश्चितरूपसे जान सकूँगा, अतः मैं अपने लिये ही ऋतुपर्णकी इस कामनाको पूर्ण करूँगा' ॥ ८ ॥

इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं जनाधिपम् ॥ ९ ॥
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप ।
एकाह्ना पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ॥ १० ॥

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके दीनहृदय बाहुकने दोनों हाथ जोड़कर राजा ऋतुपर्णसे इस प्रकार कहा—'नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! मैंने आपकी आज्ञा सुनी है, मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें आपके साथ जा पहुँचूँगा' ॥ ९-१० ॥

ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन् स बाहुकः ।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गासुरिर्नृपाज्ञया ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर बाहुकने अश्वशालामें जाकर राजा ऋतुपर्णकी आज्ञासे अश्वोंकी परीक्षा की ॥ ११ ॥

स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः ।
अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः ।
अध्यगच्छत् कृशानश्वान् समर्थानध्वनि क्षमान् ॥ १२ ॥

ऋतुपर्ण बाहुकको बार-बार उत्तेजित करने लगे, अतः उसने अच्छी तरह विचार करके अश्वोंकी परीक्षा कर ली और ऐसे अश्वोंको चुना, जो देखनेमें दुबले होनेपर भी मार्ग तय करनेमें शक्तिशाली एवं समर्थ थे ॥ १२ ॥

तेजोबलसमायुक्तान् कुलशीलसमन्वितान् ।
वर्जिताँल्लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान् महाहनून् ॥ १३ ॥

वे तेज और बलसे युक्त थे। वे अच्छी जातिके और अच्छे स्वभावके थे। उनमें अशुभ लक्षणोंका सर्वथा अभाव था। उनकी नाक मोटी और थूथन(ठोड़ी) चौड़ी था १३

शुद्धान् दशभिरावर्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः ।
दृष्ट्वा तानब्रवीद् राजा किंचित् कोपसमन्वितः ॥ १४ ॥

वे वायुके समान वेगशाली सिन्धुदेशके घोड़े थे। वे दस आवर्त (भँवरियों) के चिह्नोंसे युक्त होनेके कारण निर्दोष थे। उन्हें देखकर राजा ऋतुपर्णने कुछ कुपित होकर कहा— ॥ १४ ॥

किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या न ते वयम् ।
कथमल्पबलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम ।
महदध्वानमपि च गन्तव्यं कथमीदृशैः ॥ १५ ॥

'क्या तुमसे ऐसे ही घोड़े चुननेके लिये कहा था, तुम मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हो। ये अल्प बल और शक्तिवाले घोड़े कैसे मेरा इतना बड़ा रास्ता तय कर सकेंगे ! ऐसे घोड़ोंसे इतनी दूरतक रथ कैसे ले जाया जायगा ?' ॥ १५ ॥

बाहुक उवाच

एको ललाटे द्वौ मूर्ध्नि द्वौ द्वौ पार्श्वोपपार्श्वयोः ।
द्वौ द्वौ वक्षसि विज्ञेयौ प्रयाणे चैक एव तु ॥ १६ ॥

बाहुकने कहा—राजन् ! ललाटमें एक, मस्तकमें दो, पार्श्वभागमें दो, उपपार्श्वभागमें भी दो, छातीमें दोनों ओर दो-दो और पीठमें एक—इस प्रकार कुल बारह भँवरियोंको पहचानकर घोड़े रथमें जोतने चाहिये ॥ १६ ॥

एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान् नात्र संशयः ।
यानन्यान् मन्यसे राजन् ब्रूहि तान् योजयामि ते ॥ १७ ॥

ये मेरे चुने हुए घोड़े अवश्य विदर्भदेशकी राजधानीतक पहुँचेंगे, इसमें संशय नहीं है। महाराज ! इन्हें छोड़कर आप जिनको ठीक समझें, उन्हींको मैं रथमें जोत दूँगा ॥ १७ ॥

ऋतुपर्ण उवाच

त्वमेव हयतत्त्वज्ञः कुशलो ह्यसि बाहुक ।
यान् मन्यसे समर्थांस्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ॥ १८ ॥

ऋतुपर्ण बोले—बाहुक ! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ और कुशल हो, अतः तुम जिन्हें इस कार्यमें समर्थ समझो, उन्हींको शीघ्र जोतो ॥ १८ ॥

ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान् ।
योजयामास कुशलो जवयुक्तान् रथे नलः ॥ १९ ॥

तब चतुर एवं कुशल राजा नलने अच्छी जाति और उत्तम स्वभावके चार वेगशाली घोड़ोंको रथमें जोता ॥ १९ ॥

ततो युक्तं रथं राजा समारोहत् त्वरान्वितः ।
अथ पर्यपतन् भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ॥ २० ॥

जुते हुए रथपर राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ सवार हुए। इसलिये उनके चढ़ते ही वे उत्तम घोड़े घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २० ॥

ततो नरवरः श्रीमान् नलो राजा विशाम्पते ।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! तब नरश्रेष्ठ श्रीमान् राजा नलने तेज और बलसे सम्पन्न उन घोड़ोंको पुचकारा ॥ २१ ॥

रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः ।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ॥ २२ ॥
ते चोद्यमाना विधिवद् बाहुकेन हयोत्तमाः ।
समुत्पेतुरथाकाशं रथिनं मोहयन्निव ॥ २३ ॥

फिर अपने हाथमें बागडोर ले उन्हें काबूमें करके रथको आगे बढ़ानेकी इच्छा की। वार्ष्णेय सारथिको रथपर बैठाकर अत्यन्त वेगका आश्रय ले उन्होंने रथ हाँक दिया। बाहुकके द्वारा विधिपूर्वक हाँके जाते हुए वे उत्तम अश्व

रथीको मोहित-से करते हुए इतने तीव्र वेगसे चले, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ॥ २२-२३ ॥

तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान् वहतो वातरंहसः।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान् विस्मयं परमं ययौ ॥२४॥

उस प्रकार वायुके समान वेगसे रथका वहन करनेवाले उन अश्वोंको देखकर श्रीमान् अयोध्यानरेशको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २४ ॥

रथघोषं तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणं च तत्।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ॥२५॥
किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः।
तथा तल्लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ॥२६॥

रथकी आवाज सुनकर और घोड़ोंको काबूमें करनेकी वह कला देखकर वार्ष्णेयने बाहुकके अश्व-विज्ञानपर सोचना आरम्भ किया। 'क्या यह देवराज इन्द्रका सारथि-मातलि है? इस वीर बाहुकमें मातलिका-सा ही महान् लक्षण देखा जाता है ॥ २५-२६ ॥

शालिहोत्रोऽथ किं नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित्।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ॥२७॥

'अथवा घोड़ोंकी जाति और उनके विषयकी तात्त्विक बातें जाननेवाले ये आचार्य शालिहोत्र तो नहीं हैं, जो परम सुन्दर मानव शरीर धारण करके यहाँ आ पहुँचे हैं ॥ २७ ॥

उताहोस्विद् भवेद् राजा नलः परपुरंजयः।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ॥ २८॥

'अथवा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले साक्षात् राजा नल ही तो इस रूपमें नहीं आ गये हैं? अवश्य वे ही हैं' इस प्रकार वार्ष्णेयने चिन्तन करना प्रारम्भ किया ॥ २८ ॥

अथ चेद् नलो विद्यां वेत्ति तामेव बाहुकः।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ॥२९॥

'राजा नल इस जगत्में जिस विद्याको जानते हैं, उसीको बाहुक भी जानता है। बाहुक और नल दोनोंका ज्ञान मुझे एक-सा दिखायी देता है ॥ २९ ॥

अपि चेदं वयस्तुल्यं बाहुकस्य नलस्य च।
नायं नलो महावीर्यस्तद्विद्यश्च भविष्यति ॥३०॥

'इसी प्रकार बाहुक और नलकी अवस्था भी एक है। यह महापराक्रमी राजा नल नहीं हैं तो भी उनके ही समान विद्वान् कोई दूसरा महापुरुष होगा ॥ ३० ॥

प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम्।
दैवेन विधिना युक्ताः शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥३१॥

'बहुत-से महात्मा प्रच्छन्न रूप धारण करके देवोचित विधि तथा शास्त्रोक्त नियमोंसे युक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ३१ ॥

भवेन्न मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति।
प्रमाणात् परिहीनस्तु भवेदिति मतिर्मम ॥३२॥

'इसके शरीरकी रूपहीनताको लक्ष्य करके मेरी बुद्धिमें यह भेद नहीं पैदा होता कि यह नल नहीं है, परंतु राजा नलकी जो मोटाई है, उससे यह कुछ दुबला-पतला है। उससे मेरे मनमें यह विचार होता है कि सम्भव है, यह नल न हो ॥

वयःप्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्ययः।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये बाहुकमन्ततः ॥३३॥

'इसकी अवस्थाका प्रमाण तो उन्हींके समान है, परंतु रूपकी दृष्टिसे तो अन्तर पड़ता है। फिर भी अन्ततः मैं इसी निर्णयपर पहुँचता हूँ कि मेरी रायमें बाहुक सर्वगुणसम्पन्न राजा नल ही हैं' ॥ ३३ ॥

एवं विचार्य बहुशो वार्ष्णेयः पर्यचिन्तयत्।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ॥३४॥

महाराज युधिष्ठिर! इस प्रकार पुण्यश्लोक नलके सारथि वार्ष्णेयने बार-बार उपर्युक्त रूपसे विचार करते हुए मन-ही-मन उक्त धारणा बना ली ॥ ३४ ॥

ऋतुपर्णश्च राजेन्द्रो बाहुकस्य हयज्ञताम्।
चिन्तयन् मुमुदे राजा सहवार्ष्णेयसारथिः ॥३५॥

महाराज ऋतुपर्ण भी बाहुकके अश्वसंचालनविषयक ज्ञानपर विचार करके वार्ष्णेय सारथिके साथ बहुत प्रसन्न हुए॥

ऐकाग्र्यं च तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत्।

यत्नं च सम्प्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ॥ ३६ ॥

उसकी वह एकाग्रता, वह उत्साह, घोड़ोंको काबूमें रखनेकी वह कला और वह उत्तम प्रयत्न देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णविदर्भगमने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका विदर्भदेशमें गमनविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णके उत्तरीय वस्त्र गिरने और बहेड़ेके वृक्षके फलोंको गिननेके विषयमें नलके साथ ऋतुपर्णकी बातचीत, ऋतुपर्णसे नलको द्यूतविद्याके रहस्यकी प्राप्ति और उनके शरीरसे कलियुगका निकलना

बृहदश्व उवाच

स नदीः पर्वतांश्चैव वनानि च सरांसि च ।
अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जैसे पक्षी आकाशमें उड़ता है, उसी प्रकार बाहुक (बड़े वेगसे) शीघ्रतापूर्वक कितनी ही नदियों, पर्वतों, वनों और सरोवरोंको लाँघता हुआ आगे बढ़ने लगा ॥ १ ॥

तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
उत्तरीयमधोऽपश्यद् भ्रष्टं परपुरंजयः ॥ २ ॥

जब रथ इस प्रकार तीव्र गतिसे दौड़ रहा था, उसी समय शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले राजा ऋतुपर्णने देखा, उनका उत्तरीय वस्त्र नीचे गिर गया है ॥ २ ॥

ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा ।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ॥ ३ ॥
निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान् महाजवान् ।
वार्ष्णेयो यावदेनं मे पटमानयतामिह ॥ ४ ॥

उस समय वस्त्र गिर जानेपर उन महामना नरेशने बड़ी उतावलीके साथ नलसे कहा—'महामते ! इन वेगशाली घोड़ोंको (थोड़ी देरके लिये) रोक लो । मैं अपनी गिरी हुई चादर लूँगा । जबतक यह वार्ष्णेय उतरकर मेरे उत्तरीय वस्त्रको ला दे, तबतक रथको रोके रहो' ॥ ३-४ ॥

नलस्तं प्रत्युवाचाथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो नाहर्तुं शक्यते पुनः ॥ ५ ॥

यह सुनकर नलने उसे उत्तर दिया—'महाराज ! आपका वस्त्र बहुत दूर गिरा है । मैं उस स्थानसे चार कोस आगे आ गया हूँ । अब फिर वह नहीं लाया जा सकता' ॥ ५ ॥

एवमुक्तो नलेनाथ तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन् फलवन्तं बिभीतकम् ॥ ६ ॥

राजन् ! नलके ऐसा कहनेपर राजा ऋतुपर्ण चुप हो गये । अब वे एक वनमें एक बहेड़ेके वृक्षके पास आ पहुँचे, जिसमें बहुत-से फल लगे थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।
ममापि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ॥ ७ ॥

उस वृक्षको देखकर राजा ऋतुपर्णने तुरंत ही बाहुकसे कहा—'सूत ! तुम देखो, मुझमें भी गणना करने (हिसाब लगाने) की कितनी अद्भुत शक्ति है ॥ ७ ॥

सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥ ८ ॥

'सब लोग सभी बातें नहीं जानते । संसारमें कोई भी सर्वज्ञ नहीं है तथा एक ही पुरुषमें सम्पूर्ण ज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं है ॥ ८ ॥

वृक्षेऽस्मिन् यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।
पतितान्यपि यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ॥ ९ ॥
एकपत्राधिकं चात्र फलमेकं च बाहुक ।
पञ्चकोट्योऽथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ॥ १० ॥
प्रचिनुह्यस्य शाखे द्वे याश्चाप्यन्याः प्रशाखिकाः ।
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ॥ ११ ॥

'बाहुक ! इस वृक्षपर जितने पत्ते और फल हैं, उन सबको मैं बताता हूँ । पेड़के नीचे जो पत्ते और फल गिरे हुए हैं, उनकी संख्या एक सौ अधिक है, इसके सिवा एक पत्र तथा एक फल और भी अधिक है; अर्थात् नीचे गिरे हुए पत्तों और फलोंकी संख्या वृक्षमे लगे हुए पत्तों और फलोंसे एक सौ दो अधिक है । इस वृक्षकी दोनों शाखाओंमें पाँच करोड़ पत्ते हैं । तुम्हारी इच्छा हो तो इन दोनों शाखाओं तथा इसकी अन्य प्रशाखाओं (को काटकर उन) के पत्ते गिन लो । इसी प्रकार इन शाखाओंमें दो हजार पञ्चानवे फल लगे हुए हैं ॥ ९-११ ॥

ततो रथमवस्थाप्य राजानं बाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन् कत्थसे शत्रुकर्शन ॥ १२ ॥
प्रत्यक्षमेतत् कर्तास्मि शातयित्वा बिभीतकम् ।
अथात्र गणिते राजन् विद्यते न परोक्षता ॥ १३ ॥
प्रत्यक्षं ते महाराज शातयिष्ये विभीतकम् ।
अहं हि नाभिजानामि भवेदेवं न वेति वा ॥ १४ ॥

यह सुनकर बाहुकने रथ खड़ा करके राजासे कहा—'शत्रुसूदन नरेश ! आप जो कह रहे हैं, वह संख्या परोक्ष है। मैं इस बहेड़ेके वृक्षको काटकर उसके फलोंकी संख्याको प्रत्यक्ष करूँगा। महाराज ! आपकी आँखोंके सामने इस बहेड़ेको काटूँगा। इस प्रकार गणना कर लेनेपर वह संख्या परोक्ष नहीं रह जायगी। बिना ऐसा किये मैं तो नहीं समझ सकता कि (फलोंकी) संख्या इतनी है या नहीं ॥ १२-१४ ॥

संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप।
मुहूर्तमपि वार्ष्णेयो रश्मीन् यच्छतु वाजिनाम् ॥ १५ ॥

'जनेश्वर ! यदि वार्ष्णेय दो घड़ीतक भी इन घोड़ोंकी लगाम सँभाले तो मैं आपके देखते-देखते इसके फलोंको गिन लूँगा' ॥ १५ ॥

तमब्रवीन्नृपः सूतं नायं कालो विलम्बितुम्।
बाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ॥ १६ ॥
प्रतीक्षस्व मुहूर्तं त्वमथवा त्वरते भवान् ।
एष याति शिवः पन्था याहि वार्ष्णेयसारथिः ॥ १७ ॥

तब राजाने सारथिसे कहा—'यह विलम्ब करनेका समय नहीं है।' बाहुक बोला—'मैं प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही गणना समाप्त कर दूँगा। आप दो ही घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये। अथवा यदि आपको बड़ी जल्दी हो तो यह विदर्भदेशका मङ्गलमय मार्ग है, वार्ष्णेयको सारथि बनाकर चले जाइये' ॥

अब्रवीदृतुपर्णस्तु सान्त्वयन् कुरुनन्दन ।
त्वमेव यन्ता नान्योऽस्ति पृथिव्यामपि बाहुक ॥ १८ ॥

कुरुनन्दन ! तब ऋतुपर्णने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'बाहुक ! तुम्हीं इन घोड़ोंको हाँक सकते हो। इस कलामें पृथ्वीपर तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान् हयकोविद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'घोड़ोंके रहस्यको जाननेवाले बाहुक ! तुम्हारे ही प्रयत्नसे मैं विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ। देखो, तुम्हारी शरणमें आया हूँ। इस कार्यमें विघ्न न डालो ॥ १९ ॥

कामं च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक।
विदर्भान् यदि यात्वाद्य सूर्यं दर्शयितासि मे ॥ २० ॥

'बाहुक ! यदि आज विदर्भदेशमें पहुँचकर तुम मुझे सूर्यका दर्शन करा सको तो तुम जो कहोगे, तुम्हारी वही इच्छा पूर्ण करूँगा' ॥ २० ॥

अथाब्रवीद् बाहुकस्तं संख्याय च बिभीतकम्।
ततो विदर्भान् यास्यामि कुरुष्वैवं वचो मम ॥ २१ ॥

यह सुनकर बाहुकने कहा—'मैं बहेड़ेके फलोंको गिनकर विदर्भदेशको चलूँगा। आप मेरी यह बात मान लीजिये' ।२१।

अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह ।
एकदेशं च शाखायाः समादिष्टं मयानघ ॥ २२ ॥
गणयस्वाश्वतत्त्वज्ञ ततस्त्वं प्रीतिमावह ।
सोऽवतीर्य रथात् तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ॥ २३ ॥

राजाने मानो अनिच्छासे कहा—'अच्छा, गिन लो। अश्वविद्याके तत्त्वको जाननेवाले निष्पाप बाहुक ! मेरे बताये अनुसार तुम शाखाके एक ही भागको गिनो। इससे तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी'। बाहुकने रथसे उतरकर तुरंत ही उस वृक्षको काट डाला ॥ २२-२३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत् ।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि तु ॥ २४ ॥

गिननेसे उसे उतने ही फल मिले। तब उसने विस्मित होकर राजा ऋतुपर्णसे कहा— ॥ २४ ॥

अत्यद्भुतमिदं राजन् दृष्टवानस्मि ते बलम्।
श्रोतुमिच्छामि तां विद्यां यथैतज्ज्ञायते नृप ॥ २५ ॥
तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने नृप ।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां संख्याने च विशारदम् ॥ २६ ॥

'राजन् ! आपमें गणितकी यह अद्भुत शक्ति मैंने देखी है। नराधिप ! जिस विद्यासे यह गिनती जान ली जाती है, मैं उसे सुनना चाहता हूँ।' राजा तुरंत जानेके लिये उत्सुक थे, अतः उन्होंने बाहुकसे कहा—'तुम मुझे द्यूत-विद्याका मर्मज्ञ और गणितमें अत्यन्त निपुण समझो' ॥ २५-२६ ॥

बाहुकस्तमुवाचाथ देहि विद्यामिमां मम ।
मत्तोऽपि चाश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

बाहुकने कहा—'पुरुषश्रेष्ठ ! तुम यह विद्या मुझे बतला दो और बदलेमें मुझसे भी अश्व-विद्याका रहस्य ग्रहण कर लो' ॥ २७ ॥

ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्यगौरवात् ।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तं तथेत्यब्रवीद् वचः ॥ २८ ॥

तब राजा ऋतुपर्णने कार्यकी गुरुता और अश्वविज्ञानके लोभसे बाहुकको आश्वासन देते हुए कहा—'तथास्तु' ॥ २८ ॥

यथोक्तं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।

निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठतु बाहुक ।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ॥ २९ ॥

'बाहुक ! तुम मुझसे द्यूत-विद्याका गूढ़ रहस्य ग्रहण करो और अश्वविज्ञानको मेरे लिये अपने ही पास धरोहरके रूपमें रहने दो।' ऐसा कहकर ऋतुपर्णने नलको अपनी विद्या दे दी ॥

तस्याक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः ।
कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात् सततमुद्वमन् ॥ ३० ॥
कलेस्तस्य तदार्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः ।
स तेन कर्शितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ॥ ३१ ॥

द्यूत-विद्याका रहस्य जाननेके अनन्तर नलके शरीरसे कलियुग निकला। वह कर्कोटक नागके तीखे विषको अपने मुखसे बार-बार उगल रहा था। उस समय कष्टमें पड़े हुए कलियुगकी वह शापाग्नि भी दूर हो गयी। राजा नलको उसने दीर्घकालतक कष्ट दिया था और उसीके कारण वे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

ततो विषविमुक्तात्मा स्वं रूपमकरोत् कलिः ।
तं शप्तुमैच्छत् कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर विषके प्रभावसे मुक्त होकर कलियुगने अपने स्वरूपको प्रकट किया। उस समय निषधनरेश नलने कुपित हो कलियुगको शाप देनेकी इच्छा की ॥ ३२ ॥

तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः ।
कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ॥ ३३ ॥

तब कलियुग भयभीत हो काँपता हुआ हाथ जोड़ उनसे बोला—'महाराज ! अपने क्रोधको रोकिये। मैं आपको उत्तम कीर्ति प्रदान करूँगा ॥ ३३ ॥

इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माशपत् पुरा ।
यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीडितः ॥ ३४ ॥

'इन्द्रसेनकी माता दमयन्तीने, पहले जब उसे आपने वनमें त्याग दिया था, कुपित होकर मुझे शाप दे दिया। उससे मैं बड़ा कष्ट पाता रहा हूँ ॥ ३४ ॥

अवसं त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित ।
विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३५ ॥

'किसीसे पराजित न होनेवाले महाराज! मैं आपके शरीरमें अत्यन्त दुःखित होकर रहता था। नागराज कर्कोटकके विषसे मैं दिन-रात झुलसता जा रहा था (इस प्रकार मुझे अपने कियेका कठोर दण्ड मिल गया है) ॥ ३५ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि शृणु चेदं वचो मम ।
ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद् भविष्यति ॥ ३६ ॥
भयार्तं शरणं यातं यदि मां त्वं न शप्स्यसे ।
एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत् कोपमात्मनः ॥ ३७ ॥

'अब मैं आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी यह बात सुनिये। यदि भयसे पीड़ित और शरणमें आये हुए मुझको आप शाप नहीं देंगे तो संसारमें जो मनुष्य आलस्यरहित हो आपकी कीर्ति-कथाका कीर्तन करेंगे, उन्हें मुझसे कभी भय नहीं होगा।' कलियुगके ऐसा कहनेपर राजा नलने अपने क्रोधको रोक लिया ॥ ३६-३७ ॥

ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश बिभीतकम् ।
कलिस्त्वन्यैस्तदादृश्यः कथयन् नैषधेन वै ॥ ३८ ॥

तदनन्तर कलियुग भयभीत हो तुरंत ही बहेड़ेके वृक्षमें समा गया। वह जिस समय निषधराज नलके साथ बात कर रहा था, उस समय दूसरे लोग उसे नहीं देख पाते थे ॥ ३८ ॥

ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा ।
सम्प्रणष्टे कलौ राजा संख्यायास्य फलान्युत ॥ ३९ ॥
मुदा परमया युक्तस्तेजसाथ परेण वै ।
रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ॥ ४० ॥

तदनन्तर कलियुगके अदृश्य हो जानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले निषधनरेश राजा नल सारी चिन्ताओंसे मुक्त हो गये। बहेड़ेके फलोंको गिनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उत्तम तेजसे युक्त तेजस्वी रूप धारण करके रथपर चढ़े और वेगशाली घोड़ोंको हाँकते हुए विदर्भदेशको चल दिये ॥

बिभीतकश्चाप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात् ।
हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
नलः संचोदयामास प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महायशाः ॥ ४२ ॥

कलियुगके आश्रय लेनेसे बहेड़ेका वृक्ष निन्दित हो गया। तदनन्तर राजा नलने प्रसन्नचित्तसे पुनः घोड़ोंको हाँकना आरम्भ किया। वे उत्तम अश्व पक्षियोंकी तरह बार-बार उड़ते हुए-से प्रतीत हो रहे थे। अब महायशस्वी राजा नल विदर्भदेशकी ओर (बड़े वेगसे बढ़े) जा रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद् गृहम् ।
ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत् पृथिवीपतिः ।
विमुक्तः कलिना राजन् रूपमात्रवियोजितः ॥ ४३ ॥

नलके चले जानेपर कलि अपने घर चले गये। राजन् !

कलिसे मुक्त हो भूमिपाल राजा नल सारी चिन्ताओंसे छुटकारा पा गये; किंतु अभीतक उन्हें अपना पहला रूप नहीं प्राप्त हुआ था। उनमें केवल इतनी ही कमी रह गयी थी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिनिर्गमे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलियुगनिर्गमनविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णका कुण्डिनपुरमें प्रवेश, दमयन्तीका विचार तथा भीमके द्वारा ऋतुपर्णका स्वागत

बृहदश्व उवाच

ततो विदर्भान् सम्प्राप्तं सायाह्ने सत्यविक्रमम्।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर शाम होते-होते सत्यपराक्रमी राजा ऋतुपर्ण विदर्भराज्यमें जा पहुँचे। लोगोंने राजा भीमको इस बातकी सूचना दी ॥ १ ॥

स भीमवचनाद् राजा कुण्डिनं प्राविशत् पुरम्।
नादयन् रथघोषेण सर्वाः स विदिशो दिशः ॥ २ ॥

भीमके अनुरोधसे राजा ऋतुपर्णने अपने रथकी घर्घराहटद्वारा सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए कुण्डिनपुरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः ।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसंनिधौ ॥ ३ ॥

नलके घोड़े वहीं रहते थे, उन्होंने रथका वह घोष सुना। सुनकर वे उतने ही प्रसन्न और उत्साहित हुए, जितने कि पहले नलके समीप रहा करते थे ॥ ३ ॥

दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम् ।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ॥ ४ ॥

दमयन्तीने भी नलके रथकी वह घर्घराहट सुनी, मानो वर्षाकालमें गरजते हुए मेघोंका गम्भीर घोष सुनायी देता हो॥

परं विस्मयमापन्ना श्रुत्वा नादं महास्वनम् ।
नलेन संगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु ।
सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ॥ ५ ॥

वह महाभयंकर रथनाद सुनकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। पूर्वकालमें राजा नल जब घोड़ोंकी बाग सँभालते थे, उन दिनों उनके रथसे जैसी गम्भीर ध्वनि प्रकट होती थी, वैसी ही उस समयके रथकी घर्घराहट भी दमयन्ती और उसके घोड़ोंको जान पड़ी ॥ ५ ॥

प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालास्थाश्चैव वारणाः।
हयाश्च शुश्रुवुस्तस्य रथघोषं महीपतेः ॥ ६ ॥

महलपर बैठे हुए मयूरों, गजशालामें बँधे हुए गजराजों तथा अश्वशालाके अश्वोंने राजाके रथका वह अद्भुत घोष सुना ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा ।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन् मेघनाद इवोत्सुकाः ॥ ७ ॥

राजन् ! रथकी उस आवाजको सुनकर हाथी और मयूर अपना मुँह ऊपर उठाकर उसी प्रकार उत्कण्ठापूर्वक अपनी बोली बोलने लगे, जैसे वे मेघोंकी गर्जना होनेपर बोला करते हैं ॥ ७ ॥

दमयन्त्युवाच

यथासौ रथनिर्घोषः पूरयन्निव मेदिनीम् ।
ममाह्लादयते चेतो नल एष महीपतिः ॥ ८ ॥

(उस समय) दमयन्तीने (मन-ही-मन) कहा—अहो ! रथकी वह घर्घराहट इस पृथ्वीको गुँजाती हुई जिस प्रकार मेरे मनको आह्लाद प्रदान कर रही है, उससे जान पड़ता है, ये महाराज नल ही पधारे हैं ॥ ८ ॥

अद्य चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि ।
असंख्येयगुणं वीरं विनङ्क्ष्यामि न संशयः ॥ ९ ॥

आज यदि असंख्य गुणोंसे विभूषित तथा चन्द्रमाके समान मुखवाले वीरवर नलको न देखूँगी तो अपने इस जीवनका अन्त कर दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

यदि वै तस्य वीरस्य बाह्वोर्नाद्याहमन्तरम् ।
प्रविशामि सुखस्पर्शं न भविष्याम्यसंशयम् ॥ १० ॥

आज यदि मैं इन वीरशिरोमणि नलकी दोनों भुजाओंके मध्यभागमें, जिसका स्पर्श अत्यन्त सुखद है, प्रवेश न कर सकी तो अवश्य जीवित न रह सकूँगी ॥ १० ॥

यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः ।
अद्य चामीकरप्रख्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ ११ ॥

यदि रथद्वारा मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले निषधदेशके स्वामी महाराज नल आज मेरे पास नहीं पधारेंगे तो मैं सुवर्णके समान देदीप्यमान दहकती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगी ॥ ११ ॥

यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणविक्रमः ।
नाभिगच्छति राजेन्द्रो विनङ्क्ष्यामि न संशयः॥ १२ ॥

यदि सिंहके समान पराक्रमी और मतवाले हाथीके समान

मस्तानी चालसे चलनेवाले राजराजेश्वर नल मेरे पास नहीं आयेंगे तो आज अपने जीवनको नष्ट कर दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १२ ॥

न स्मराम्यनृतं किंचिन्न स्मराम्यपकारताम् ।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि कदाचन ॥ १३ ॥

मुझे याद नहीं कि स्वेच्छापूर्वक अर्थात् हँसी-मजाकमें भी मैं कभी झूठ बोली हूँ, स्मरण नहीं कि कभी किसीका मेरेद्वारा अपकार हुआ हो तथा यह भी स्मरण नहीं कि मैंने प्रतिज्ञा की हुई बातका उल्लङ्घन किया हो ॥ १३ ॥

प्रभुः क्षमावान् वीरश्च दाता चाप्यधिको नृपैः ।
रहोऽनीचानुवर्ती च क्लीबवन्मम नैषधः ॥ १४ ॥

मेरे निषधराज नल शक्तिशाली, क्षमाशील, वीर, दाता, सब राजाओंसे श्रेष्ठ, एकान्तमें भी नीच कर्मसे दूर रहनेवाले तथा परायी स्त्रियोंके लिये नपुंसकतुल्य हैं ॥ १४ ॥

गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम् ।
हृदयं दीर्यत इदं शोकात् प्रियविनाकृतम् ॥ १५ ॥

मैं (सदा) उन्हींके गुणोंका स्मरण करती और दिन-रात उन्हींके परायण रहती हूँ। प्रियतम नलके बिना मेरा यह हृदय उनके विरहशोकसे विदीर्ण-सा होता रहता है ॥ १५ ॥

एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत ।
आरुरोह महद् वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया ॥ १६ ॥

भारत ! इस प्रकार विलाप करती हुई दमयन्ती अचेत-सी हो गयी। वह पुण्यश्लोक नलके दर्शनकी इच्छासे ऊँचे महलकी छतपर जा चढ़ी ॥ १६ ॥

ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम् ।
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम् ॥ १७ ॥

वहाँसे उसने देखा, वार्ष्णेय और बाहुकके साथ रथपर बैठे हुए महाराज ऋतुपर्ण मध्यम कक्षा (परकोटे)में पहुँच गये हैं ॥ १७ ॥

ततोऽवतीर्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात् ।
हयांस्तानवमुच्याथ स्थापयामास वै रथम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर वार्ष्णेय और बाहुकने उस उत्तम रथसे उतरकर घोड़े खोल दिये और रथको एक जगह खड़ा कर दिया ॥

सोऽवतीर्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः ।
उपतस्थे महाराजं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १९ ॥

इसके बाद राजा ऋतुपर्ण रथके पिछले भागसे उतरकर भयानक पराक्रमी महाराज भीमसे मिले ॥ १९ ॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परया ततः ।
स तेन पूजितो राज्ञा ऋतुपर्णो नराधिपः ॥ २० ॥

तदनन्तर भीमने बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया और राजा ऋतुपर्णका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

स तत्र कुण्डिने रम्ये वसमानो महीपतिः ।
न च किंचित् तदापश्यत् प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ।
स तु राज्ञा समागम्य विदर्भपतिना तदा ॥ २१ ॥
अकस्मात् सहसा प्राप्तं स्त्रीमन्त्रं न स्म विन्दति ।

भूपाल ऋतुपर्ण रमणीय कुण्डिनपुरमें ठहर गये । उन्हें बार-बार देखनेपर भी वहाँ (स्वयंवर-जैसी) कोई चीज नहीं दिखायी दी। वे विदर्भनरेशसे मिलकर सहसा इस बातको न जान सके कि यह स्त्रियोंकी अकस्मात् गुप्त मन्त्रणा-मात्र थी ॥ २१½ ॥

किं कार्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टः स भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! विदर्भराजने स्वागतपूर्वक ऋतुपर्णसे पूछा—'आपके यहाँ पधारनेका क्या कारण है ?'॥

नाभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम् ।
ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान् सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

राजा भीम यह नहीं जानते थे कि दमयन्तीके लिये ही इनका शुभागमन हुआ है। राजा ऋतुपर्ण भी बड़े बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी थे ॥ २३ ॥

राजानं राजपुत्रं वा न स्म पश्यति कंचन ।
नैव स्वयंवरकथां न च विप्रसमागमम् ॥ २४ ॥
ततो व्यगणयद् राजा मनसा कोसलाधिपः ।
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ॥ २५ ॥

उन्होंने वहाँ किसी भी राजा या राजकुमारको नहीं देखा। ब्राह्मणोंका भी वहाँ समागम नहीं हो रहा था। स्वयंवरकी तो कोई चर्चातक नहीं थी। तब कोशलनरेशने मन-ही-मन कुछ विचार किया और विदर्भराजसे कहा—'राजन् ! मैं आपका अभिवादन करनेके लिये आया हूँ' ॥

राजापि च स्मयन् भीमो मनसा समचिन्तयत् ।
अधिकं योजनशतं तस्यागमनकारणम् ॥ २६ ॥
ग्रामान् बहूनतिक्रम्य नाध्यगच्छद् यथातथम् ।
अल्पकार्यं विनिर्दिष्टं तस्यागमनकारणम् ॥ २७ ॥

यह सुनकर राजा भीम भी मुसकरा दिये और मन-ही-मन सोचने लगे—'ये बहुत-से गाँवोंको लाँघकर सौ योजनसे भी अधिक दूर चले आये हैं, किंतु कार्य इन्होंने बहुत साधारण बतलाया है। फिर इनके आगमनका क्या कारण है, इसे मैं ठीक-ठीक न जान सका ॥ २६-२७ ॥

पश्चादुदर्के ज्ञास्यामि कारणं यद् भविष्यति ।
नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ॥ २८ ॥

'अच्छा, जो भी कारण होगा पीछे मालूम कर लूँगा। ये जो कारण बता रहे हैं, इतना ही इनके आगमनका हेतु नहीं

है।' ऐसा विचारकर राजाने उन्हें सत्कारपूर्वक विश्रामके लिये विदा किया ॥ २८ ॥

विश्राम्यतामित्युवाच क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः।
स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ॥ २९ ॥

और कहा—'आप बहुत थक गये होंगे, अतः विश्राम कीजिये।' विदर्भनरेशके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक आदर-सत्कार पाकर राजा ऋतुपर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २९ ॥

राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत्।
ऋतुपर्णे गते राजन् वार्ष्णेयसहिते नृपे ॥ ३० ॥
बाहुको रथमादाय रथशालामुपागमत्।
स मोचयित्वा तानश्वानुपचर्य च शास्त्रतः ॥ ३१ ॥
स्वयं चैतान् समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत्।

फिर वे राजसेवकोंके साथ गये और बताये हुए भवनमें विश्रामके लिये प्रवेश किया। राजन्! वार्ष्णेयसहित ऋतुपर्णके चले जानेपर बाहुक रथ लेकर रथशालामें गया। उसने उन घोड़ोंको खोल दिया और अश्वशास्त्रकी विधिके अनुसार उनकी परिचर्या करनेके बाद घोड़ोंको पुचकारकर उन्हें धीरज देनेके पश्चात् वह स्वयं भी रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ ३०-३१½ ॥

दमयन्त्यपि शोकार्ता दृष्ट्वा भाङ्गासुरिं नृपम् ॥ ३२ ॥
सूतपुत्रं च वार्ष्णेयं बाहुकं च तथाविधम्।
चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिःस्वनः ॥ ३३ ॥

दमयन्ती भी शोकसे आतुर हो राजा ऋतुपर्ण, सूतपुत्र वार्ष्णेय तथा पूर्वोक्त बाहुकको देखकर सोचने लगी—'यह किसके रथकी घर्घराहट सुनायी पड़ती थी ॥ ३२-३३ ॥

नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम्।
वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ॥ ३४ ॥
तेनाद्य रथनिर्घोषो नलस्येव महानभूत्।
आहोस्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा।
यथायं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ॥ ३५ ॥

'वह गम्भीर घोष तो महाराज नलके रथ-जैसा था; परंतु इन आगन्तुकोंमें मुझे निषधराज नल नहीं दिखायी देते। वार्ष्णेयने भी नलके समान ही अश्वविद्या सीख ली हो, निश्चय ही यह सम्भावना की जा सकती है। तभी आज रथकी आवाज बड़े जोरसे सुनायी दे रही थी, जैसे नलके रथ हाँकते समय हुआ करती है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि राजा ऋतुपर्ण भी वैसे ही अश्वविद्यामें निपुण हों, जैसे राजा नल हैं; क्योंकि नलके ही समान इनके रथका भी गम्भीर घोष लक्षित होता है' ॥ ३४-३५ ॥

एवं सा तर्कयित्वा तु दमयन्ती विशाम्पते।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे शुभा ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार विचार करके शुभलक्षणा दमयन्तीने नलका पता लगानेके लिये अपनी दूतीको भेजा ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्य भीमपुरप्रवेशे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका राजा भीमके नगरमें प्रवेशविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

बाहुक-केशिनी-संवाद

दमयन्त्युवाच

गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ॥ १ ॥

दमयन्ती बोली—केशिनी! जाओ और पता लगाओ कि यह छोटी-छोटी बाँहोंवाला कुरूप रथवाहक, जो रथके पिछले भागमें बैठा है, कौन है? ॥ १ ॥

अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता।
पृच्छेथाः पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ॥ २ ॥

भद्रे! इसके निकट जाकर सावधानीके साथ मधुर वाणीमें कुशल पूछना। अनिन्दिते! साथ ही इस पुरुषके विषयमें ठीक-ठीक बातें जाननेकी चेष्टा करना ॥ २ ॥

अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः।
यथा च मनसस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ॥ ३ ॥

इसके विषयमें मुझे बड़ी भारी शङ्का है। सम्भव है, इस वेषमें राजा नल ही हों। मेरे मनमें जैसा संतोष है और हृदयमें जैसी शान्ति है, इससे मेरी उक्त धारणा पुष्ट हो रही है ॥ ३ ॥

ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा।
प्रतिवाक्यं च सुश्रोणि बुद्ध्येथास्त्वमनिन्दिते ॥ ४ ॥

सुश्रोणि! तुम बातचीतके सिलसिलेमें इसके सामने पर्णाद ब्राह्मणवाली बात कहना और अनिन्दिते! यह जो उत्तर दे, उसे अच्छी तरह समझना ॥ ४ ॥

ततः समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत्।
दमयन्त्यपि कल्याणी प्रासादस्था ह्युपैक्षत ॥ ५ ॥

तब वह दूती बड़ी सावधानीसे वहाँ जाकर बाहुकसे वार्तालाप करने लगी और कल्याणी दमयन्ती भी महलमें

उसके लौटनेकी प्रतीक्षामें बैठी रही ॥ ५ ॥

केशिन्युवाच

स्वागतं ते मनुष्येन्द्र कुशलं ते ब्रवीम्यहम्।
दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ॥ ६ ॥

केशिनीने कहा—नरेन्द्र! आपका स्वागत है! मैं आपका कुशल-समाचार पूछती हूँ। पुरुषश्रेष्ठ! दमयन्तीकी कही हुई ये उत्तम बातें सुनिये ॥ ६ ॥

कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चागताः।
तत् त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ ७ ॥

विदर्भराजकुमारी यह सुनना चाहती हैं कि आपलोग अयोध्यासे कब चले हैं और किस लिये यहाँ आये हैं? आप न्यायके अनुसार ठीक-ठीक बतायें ॥ ७ ॥

बाहुक उवाच

श्रुतः स्वयंवरो राज्ञा कोसलेन महात्मना।
द्वितीयो दमयन्त्या वै भविता श्व इति द्विजात् ॥ ८ ॥

बाहुक बोला—महात्मा कोसलराजने एक ब्राह्मणके मुखसे सुना था कि कल दमयन्तीका द्वितीय स्वयंवर होनेवाला है ॥ ८ ॥

श्रुत्वैतत् प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ॥ ९ ॥

यह सुनकर राजा हवाके समान वेगवाले और सौ योजनतक दौड़नेवाले अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथपर सवार हो विदर्भदेशके लिये प्रस्थित हो गये। इस यात्रामें मैं ही इनका सारथि था ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

अथ योऽसौ तृतीयो वः स कुतः कस्य वा पुनः।
त्वं च कस्य कथं चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ॥ १० ॥

केशिनीने पूछा—आपलोगोंमेंसे जो तीसरा व्यक्ति है, वह कहाँसे आया है अथवा किसका सेवक है? ऐसे ही आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और आपपर इस कार्यका भार कैसे आया है? ॥ १० ॥

बाहुक उवाच

पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ ११ ॥

बाहुक बोला—भद्रे! उस तीसरे व्यक्तिका नाम वार्ष्णेय है। वह पुण्यश्लोक राजा नलका सारथि है। नलके वनमें निकल जानेपर वह ऋतुपर्णकी सेवामें चला गया है ॥

अहमप्यश्वकुशलः सूतत्वे च प्रतिष्ठितः।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ॥ १२ ॥

मैं भी अश्वविद्यामें कुशल हूँ और सारथिके कार्यमें भी निपुण हूँ, इसलिये राजा ऋतुपर्णने स्वयं ही मुझे वेतन देकर सारथिके पदपर नियुक्त कर लिया ॥ १२ ॥

केशिन्युवाच

अथ जानाति वार्ष्णेयः क्व नु राजा नलो गतः।
कथं च त्वयि वा तेन कथितं स्यात् तु बाहुक ॥ १३ ॥

केशिनीने पूछा—बाहुक! क्या वार्ष्णेय यह जानता है कि राजा नल कहाँ चले गये, उसने आपसे महाराजके सम्बन्धमें कैसी बात बतायी है? ॥ १३ ॥
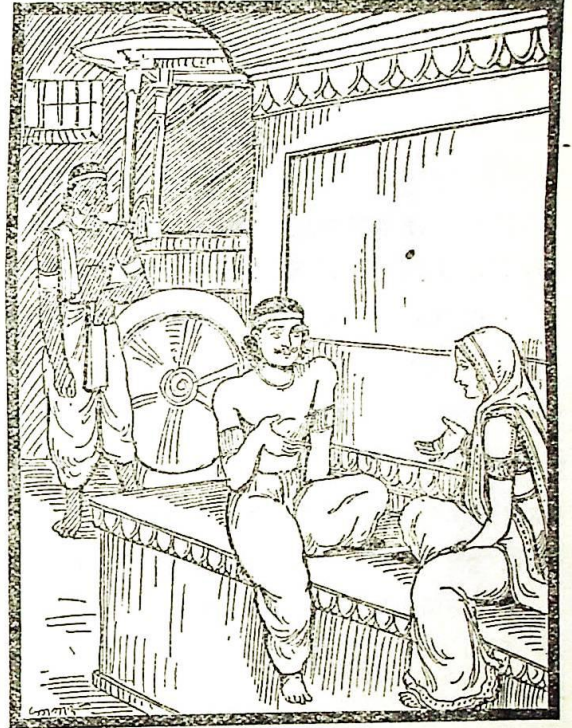
बाहुक उवाच

इहैव पुत्रौ निक्षिप्य नलस्य शुभकर्मणः।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ॥ १४ ॥

बाहुक बोला—भद्रे! पुण्यकर्मा नलके दोनों बालकोंको यहीं रखकर वार्ष्णेय अपनी रुचिके अनुसार अयोध्या चला गया था। यह नलके विषयमें कुछ नहीं जानता है ॥

न चान्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन् नष्टरूपो महीपतिः ॥ १५ ॥

यशस्विनि! दूसरा कोई पुरुष भी नलको नहीं जानता। राजा नलका पहला रूप अदृश्य हो गया है। वे इस जगत्में गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १५ ॥

आत्मैव तु नलं वेद या चास्य तदनन्तरा।
न हि वै स्वानि लिङ्गानि नलः शंसति कर्हिचित् ॥ १६ ॥

परमात्मा ही नलको जानते हैं तथा उसकी जो अन्तरात्मा है, वह उन्हें जानती है, दूसरा कोई नहीं; क्योंकि राजा नल

अपने लक्षणों या चिह्नोंको कभी दूसरोंके सामने नहीं प्रकट करते हैं ॥ १६ ॥

केशिन्युवाच

योऽसावयोध्यां प्रथमं गतोऽसौ ब्राह्मणस्तदा।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ॥ १७ ॥

केशिनीने कहा—पहली बार अयोध्यामें जब वे ब्राह्मण-देवता गये थे, तब उन्होंने स्त्रियोंकी सिखायी हुई निम्नाङ्कित बातें बार-बार कही थीं—॥ १७ ॥

क नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ १८ ॥

'ओ जुआरी प्रियतम ! तुम अपने प्रति अनुराग रखने-वाली वनमें सोयी हुई मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये ? ॥ १८ ॥

सा वै यथा समादिष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी।
दह्यमाना दिवा रात्रौ वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ॥ १९ ॥

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढककर वह युवती दिन-रात तुम्हारी विरहाग्निमें जल रही है ॥ १९ ॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन दुःखेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु मे वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥ २० ॥

'वीर भूमिपाल ! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उसी प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मेरी बातका उत्तर दो' ॥ २० ॥

तस्यास्तत् प्रियमाख्यानं प्रवदस्व महामते।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ॥ २१ ॥

'महामते ! इसके उत्तरमें आप दमयन्तीको प्रिय लगने-वाली कोई बात कहिये। साध्वी विदर्भकुमारी आपकी उसी बातको पुनः सुनना चाहती हैं ॥ २१ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल ।
यत् पुरा तत् पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति॥ २२ ॥

बाहुक ! ब्राह्मणके मुखसे यह वचन सुनकर पहले आपने जो उत्तर दिया था, उसीको वैदर्भी आपके मुँहसे पुनः सुनना चाहती हैं ॥ २२ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन ।
हृदयं व्यथितं चासीदश्रुपूर्णे च लोचने ॥ २३ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! केशिनीके ऐसा कहनेपर राजा नलके हृदयमें बड़ी वेदना हुई। उनकी दोनों आँखें आँसुओंसे भर गयीं ॥ २३ ॥

स निगृह्यात्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः ।
बाष्पसंदिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

निषधनरेश शोकाग्निसे दग्ध हो रहे थे, तो भी उन्होंने अपने दुःखके वेगको रोककर अश्रुगद्गद वाणीमें पुनः यों कहना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

बाहुक उवाच

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥ २५ ॥

बाहुक बोला—उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी संकटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे स्वर्ग और सत्य दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

रहिता भर्तृभिश्चापि न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदा सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ॥ २६ ॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ २७ ॥

वह पुरुष बड़े संकटमें था तथा सुखके साधनोंसे वञ्चित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है,तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ २८ ॥

जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथाविधम् ।
राज्यभ्रष्टं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ २९ ॥

पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार; उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वञ्चित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था ॥ २९ ॥

एवं ब्रुवाणस्तद् वाक्यं नलः परमदुर्मनाः ।
न बाष्पमशकत् सोढुं प्ररुरोद च भारत ॥ ३० ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त बातें कहते हुए नलका मन अत्यन्त उदास हो गया। भारत ! वे अपने उमड़ते हुए आँसुओंको रोक न सके तथा रोने लगे ॥ ३० ॥

ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।

तत् सर्वं कथितं चैव विकारं तस्य चैव तम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर केशिनीने भीतर जाकर दमयन्तीसे यह सब निवेदन किया । उसने बाहुककी कही हुई सारी बातों और उसके मनोविकारोंको भी यथावत् कह सुनाया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकेशिनीसंवादे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नल-केशिनीसंवादविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीके आदेशसे केशिनीद्वारा बाहुककी परीक्षा तथा बाहुकका अपने लड़के-लड़कियोंको देखकर उनसे प्रेम करना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा ।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह सब सुनकर दमयन्ती अत्यन्त शोकमग्न हो गयी। उसके हृदयमें निश्चित-रूपसे बाहुकके नल होनेका संदेह हो गया और वह केशिनी-से इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके ।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ॥ २ ॥

'केशिनि ! फिर जाओ और बाहुककी परीक्षा करो । अबकी बार तुम कुछ बोलना मत । निकट रहकर उसके चरित्रोंपर दृष्टि रखना ॥ २ ॥

यदा च किंचित् कुर्यात् स कारणं तत्र भामिनि ।
तत्र संचेष्टमानस्य लक्षयन्ती विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

'भामिनि ! जब वह कोई काम करे तो उस कार्यको करते समय उसकी प्रत्येक चेष्टा और उसके कारणपर लक्ष्य रखना ॥ ३ ॥

न चास्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि ।
याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ॥ ४ ॥

'केशिनि ! वह आग्रह करे तो भी उसे आग न देना और माँगनेपर भी किसी प्रकार जल्दीमें आकर पानी भी न देना ॥ ४ ॥

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय ।
निमित्तं यत् त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ५ ॥
यच्चान्यदपि पश्येथास्तच्चाख्येयं त्वया मम ।

'बाहुकके इन सब चरित्रोंकी समीक्षा करके फिर मुझे सब बात बताना । बाहुकमें यदि तुम्हें कोई दिव्य अथवा मानवोचित विशेषता दिखायी दे तथा और भी जो कोई विशेषता दृष्टिगोचर हो तो उसपर भी दृष्टि रखना और मुझे आकर बताना' ॥ ५½ ॥

दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाथ च केशिनी ॥ ६ ॥
निशम्याथ हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागमत् ।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर केशिनी पुनः वहाँ गयी और अश्वविद्याविशारद बाहुकके लक्षणोंका अवलोकन करके वह फिर लौट आयी ॥ ६½ ॥

सा तत् सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
निमित्तं यत् तया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ७ ॥

उसने बाहुकमें जो दिव्य अथवा मानवोचित विशेषताएँ देखीं, उनका यथावत् समाचार पूर्णरूपसे दमयन्तीको बताया ॥७॥

केशिन्युवाच

दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित् ।
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ॥ ८ ॥

केशिनीने कहा—दमयन्ती ! उसका प्रत्येक व्यवहार अत्यन्त पवित्र है । ऐसा मनुष्य तो मैंने कहीं भी पहले न तो देखा है और न सुना ही है ॥ ८ ॥

ह्रस्वमासाद्य संचारं नासौ विनमते क्वचित् ।
तं तु दृष्ट्वा यथासङ्गमुत्सर्पति यथासुखम् ॥ ९ ॥

किसी छोटे से-छोटे दरवाजेपर जाकर भी वह झुकता नहीं है । उसे देखकर बड़ी आसानीके साथ दरवाजा ही इस प्रकार ऊँचा हो जाता है कि जिससे मस्तकका उससे स्पर्श न हो ॥ ९ ॥

संकटेऽप्यस्य सुमहान् विवरो जायतेऽधिकः ।
ऋतुपर्णस्य चार्थाय भोजनीयमनेकशः ॥ १० ॥
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं चैव प्रभूतवत् ।
तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥

संकुचित स्थानमें भी उसके लिये बहुत बड़ा अवकाश बन जाता है । राजा भीमने ऋतुपर्णके लिये अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ भेजे थे । उसमें प्रचुर मात्रामें केला आदि फलोंका गूदा भी था,* उसको धोनेके लिये वहाँ खाली घड़े रख दिये थे ॥ १०-११ ॥

* 'मांस' शब्दका अर्थ 'संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ' में फलका गूदा किया गया है ।

ते तेनावेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवंस्ततः।
ततः प्रक्षालनं कृत्वा समधिश्रित्य बाहुकः ॥ १२ ॥
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत्।
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

परंतु बाहुकके देखते ही वे सारे घड़े पानीसे भर गये। उससे खाद्य पदार्थोंको धोकर बाहुकने चूल्हेपर चढ़ा दिया। फिर एक मुट्ठी तिनका लेकर सूर्यकी किरणोंसे ही उसे उद्दीप्त किया। फिर तो देखते-ही-देखते सहसा उसमें आग प्रज्वलित हो गयी ॥ १२-१३ ॥

तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता।
अन्यच्च तस्मिन् सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया ॥ १४ ॥

यह अद्भुत बात देखकर मैं आश्चर्यचकित होकर यहाँ आयी हूँ। बाहुकमें एक और भी बड़े आश्चर्यकी बात देखी है ॥ १४ ॥

यदग्निमपि संस्पृश्य नैवासौ दह्यते शुभे।
छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम् ॥ १५ ॥

शुभे! वह अग्निका स्पर्श करके भी जलता नहीं है। पात्रमें रक्खा हुआ थोड़ा-सा जल भी उसकी इच्छाके अनुसार तुरंत ही प्रवाहित हो जाता है ॥ १५ ॥

अतीव चान्यत् सुमहदाश्चर्यं दृष्टवत्यहम्।
यत् स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः ॥ १६ ॥
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि नान्यथा।
भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति हि।
एतान्यद्भुतलिङ्गानि दृष्ट्वाहं द्रुतमागता ॥ १७ ॥

एक और भी अत्यन्त आश्चर्यजनक बात मुझे उसमें दिखायी दी है। वह फूल लेकर उन्हें हाथोंसे धीरे-धीरे मसलता था। हाथोंसे मसलनेपर भी वे फूल विकृत नहीं होते थे अपितु और भी सुगन्धित और विकसित हो जाते थे। ये अद्भुत लक्षण देखकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आयी हूँ ॥ १६-१७ ॥

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम्।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ॥ १८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! दमयन्तीने पुण्यश्लोक महाराज नलकी-सी बाहुककी सारी चेष्टाओंको सुनकर मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया कि महाराज नल ही आये हैं। अपने कार्यों और चेष्टाओंद्वारा वे पहचान लिये गये हैं ॥ १८ ॥

सा शङ्कमाना भर्तारं बाहुकं पुनरिङ्गितैः।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ॥ १९ ॥
पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम्।
महानसाद् द्रुतं मांसमानयस्वेह भाविनि ॥ २० ॥
सा गत्वा बाहुकस्याग्रे तन्मांसमपकृष्य च।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणात् प्रियकारिणी ॥ २१ ॥

चेष्टाओंद्वारा उसके मनमें यह प्रबल आशङ्का जम गयी कि बाहुक मेरे पति ही हैं। फिर तो वह रोने लगी और मधुर वाणीमें केशिनीसे बोली—'सखि! एक बार फिर जाओ और जब बाहुक असावधान हो तो उसके द्वारा विशेषविधिसे उबालकर तैयार किया हुआ फलोंका गूदा रसोईघरमेंसे शीघ्र उठा लाओ।' केशिनी दमयन्तीकी प्रियकारिणी सखी थी। वह तुरंत गयी और जब बाहुकका ध्यान दूसरी ओर गया तब उसके उबाले हुए गरम-गरम फलोंके गूदेमेंसे थोड़ा-सा निकालकर तत्काल ले आयी ॥ १९—२१ ॥

दमयन्त्यै ततः प्रादात् केशिनी कुरुनन्दन।
सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! केशिनीने वह फलोंका गूदा दमयन्तीको दे दिया। उसे पहले अनेक बार नलके द्वारा उबाले हुए फलोंके गूदेके स्वादका अनुभव था ॥ २२ ॥

प्राश्य मत्वा नलं सूतं प्राक्रोशद् भृशदुःखिता।
वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ॥ २३ ॥
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत।
इन्द्रसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः ॥ २४ ॥
अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याङ्कमानयत्।
बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ ॥ २५ ॥
भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह।
नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत् तदा।
उत्सृज्य सहसा पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उसे खाकर वह पूर्णरूपसे इस निश्चयपर पहुँच गयी कि बाहुक सारथि वास्तवमें राजा नल हैं। फिर तो वह अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगी। उस समय उसकी व्याकुलता बहुत बढ़ गयी। भारत! फिर उसने मुँह धोकर केशिनीके साथ अपने बच्चोंको बाहुकके पास भेजा। बाहुकरूपी राजा नलने इन्द्रसेना और उसके भाई इन्द्रसेनको पहचान लिया और दौड़कर दोनों बच्चोंको छातीसे लगाकर गोदमें ले लिया। देवकुमारोंके समान उन दोनों सुन्दर बालकोंको
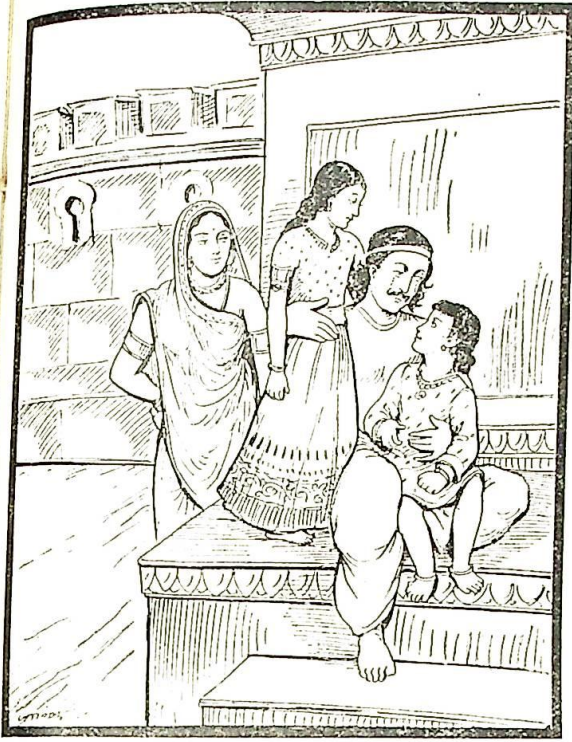
पाकर निषधराज नल अत्यन्त दुःखमग्न हो जोर-जोरसे रोने लगे। उन्होंने बार-बार अपने मनोविकार दिखाये और सहसा दोनों बच्चोंको छोड़कर केशिनीसे इस प्रकार कहा—॥ २३-२६ ॥

इदं च सदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः।
अतो दृष्ट्वैव सहसा बाष्पमुत्सृष्टवानहम्॥ २७॥

'भद्रे! ये दोनों बालक मेरे पुत्र और पुत्रीके समान हैं, इसीलिये इन्हें देखकर सहसा मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे॥ २७॥

बहुशः सम्पतन्तीं त्वां जनः संकेतदोषतः।
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे यथासुखम्॥ २८॥

'भद्रे! तुम बार-बार आती-जाती हो, लोग किसी दोषकी आशङ्का कर लेंगे और हमलोग इस देशके अतिथि हैं; अतः तुम सुखपूर्वक महलमें चली जाओ'॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कन्यापुत्रदर्शने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलका अपनी पुत्री और पुत्रके देखनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्ती और बाहुककी बातचीत, नलका प्राकट्य और नल-दमयन्ती-मिलन

बृहदश्व उवाच

सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः।
आगत्य केशिनी सर्वं दमयन्त्यै न्यवेदयत्॥ १॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! परम बुद्धिमान् पुण्यश्लोक राजा नलके सम्पूर्ण विकारोंको देखकर केशिनीने दमयन्तीको आकर बताया॥ १॥

दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम्।
मातुः सकाशं दुःखार्ता नलदर्शनकाङ्क्षया॥ २॥

अब दमयन्ती नलके दर्शनकी अभिलाषासे दुःखातुर हो गयी। उसने केशिनीको पुनः अपनी माँके पास भेजा॥ २॥

परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम्॥ ३॥

(और यह कहलाया—) 'माँ! मेरे मनमें बाहुकके ही नलके होनेका संदेह था, जिसकी मैंने बार-बार परीक्षा करा ली है। और सब लक्षण तो मिल गये हैं। केवल नलके रूपमें संदेह रह गया है। इस संदेहका निवारण करनेके लिये मैं स्वयं पता लगाना चाहती हूँ॥ ३॥

स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वानुज्ञातुमर्हसि।
विदितं वाथवा ज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम्॥ ४॥

'माताजी! या तो बाहुकको महलमें बुलाओ या मुझे ही बाहुकके निकट जानेकी आज्ञा दो। तुम अपनी रुचिके अनुसार पिताजीसे सूचित करके अथवा उन्हें इसकी सूचना दिये बिना इसकी व्यवस्था कर सकती हो'॥ ४॥

एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सा देवी भीममब्रवीत्।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानात् स पार्थिवः॥ ५॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीने विदर्भनरेश भीमसे अपनी पुत्रीका यह अभिप्राय बताया। सब बातें सुनकर महाराजने आज्ञा दे दी॥ ५॥

सा वै पित्राभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रतिश्रयः॥ ६॥
तां स्म दृष्ट्वैव सहसा दमयन्तीं नलो नृपः।
आविष्टः शोकदुःखाभ्यां बभूवाश्रुपरिप्लुतः॥ ७॥

भरतकुलभूषण! पिता और माताकी आज्ञा ले दमयन्तीने नलको राजभवनके भीतर जहाँ वह स्वयं रहती

थी, बुलवाया। दमयन्तीको सहसा सामने उपस्थित देख राजा नल शोक और दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ ६-७ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा।
तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ॥ ८ ॥

उस समय नलको उस अवस्थामें देखकर सुन्दरी दमयन्ती भी तीव्र शोकसे व्याकुल हो गयी ॥ ८ ॥

ततः काषायवसना जटिला मलपङ्किनी।
दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

महाराज! तदनन्तर मलिन वस्त्र पहने, जटा धारण किये, मैल और पङ्कसे मलिन दमयन्तीने बाहुकसे पूछा—॥ ९ ॥

पूर्वं दृष्टस्त्वया कश्चिद् धर्मज्ञो नाम बाहुक।
सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ॥१०॥

'बाहुक! तुमने पहले किसी ऐसे धर्मज्ञ पुरुषको देखा है, जो अपनी सोयी हुई पत्नीको वनमें अकेली छोड़कर चले गये थे ॥ १० ॥

अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम्।
अपहाय तु को गच्छेत् पुण्यश्लोकमृते नलम् ॥११॥

'पुण्यश्लोक महाराज नलके सिवा दूसरा कौन होगा, जो एकान्तमें थकावटके कारण अचेत सोयी हुई अपनी निर्दोष प्रियतमा पत्नीको छोड़कर जा सकता हो ॥ ११ ॥

किमु तस्य मया बाल्यादपराद्धं महीपतेः।
यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान् निद्रयार्दिताम् ॥१२॥

'न जाने उन महाराजका मैंने बचपनसे ही क्या अपराध किया था, जो नींदकी मारी हुई मुझ असहाय अबलाको जंगलमें छोड़कर चल दिये ॥ १२ ॥

साक्षाद् देवानपाहाय वृतो यः स पुरा मया।
अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान् कथम् ॥१३॥

'पहले स्वयंवरके समय साक्षात् देवताओंको छोड़कर मैंने उनका वरण किया था। मैं उनकी अनुगत भक्त, निरन्तर उन्हें चाहनेवाली और पुत्रवती हूँ, तो भी उन्होंने कैसे मुझे त्याग दिया? ॥ १३ ॥

अग्नौ पाणिं गृहीत्वा तु देवानामग्रतस्तथा।
भविष्यामीति सत्यं तु प्रतिश्रुत्य क्व तद् गतम् ॥१४॥

'अग्निके समीप और देवताओंके समक्ष मेरा हाथ पकड़कर और 'मैं तेरा ही अनुगत होकर रहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके जिन्होंने मुझे अपनाया था, उनका वह सत्य कहाँ चला गया?' १४

दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिंदम।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद् बहु ॥१५॥

शत्रुदमन युधिष्ठिर! दमयन्ती जब ये सब बातें कह रही थी, उस समय नलके नेत्रोंसे शोकजनित दुःखपूर्ण आँसुओंकी अजस्र धारा बहती जा रही थी ॥ १५ ॥

अतीव कृष्णसाराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलं तु तत्।
परिस्रवन् नलो दृष्ट्वा शोकार्तामिदमब्रवीत् ॥१६॥

उनकी आँखोंकी पुतलियाँ काली थीं और नेत्रके किनारे कुछ-कुछ लाल थे। उनसे निरन्तर अश्रुधारा बहाते हुए नलने दमयन्तीको शोकसे आतुर देख इस प्रकार कहा—॥१६॥

मम राज्यं प्रणष्टं यन्नाहं तत् कृतवान् स्वयम्।
कलिना तत् कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ॥१७॥

'भीरु! मेरा जो राज्य नष्ट हो गया और मैंने जो तुम्हें त्याग दिया, वह सब कलियुगकी करतूत थी। मैंने स्वयं कुछ नहीं किया था ॥ १७ ॥

यत् त्वया धर्मकृच्छ्रे तु शापेनाभिहतः पुरा।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां दिवानिशम् ॥१८॥
स मच्छरीरे त्वच्छापाद् दह्यमानोऽवसत् कलिः।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नावग्निरिवाहितः ॥१९॥

'पहले जब तुम वनमें दुखी होकर दिन-रात मेरे लिये शोक करती थी और उस समय धर्मसंकटमें पड़नेपर तुमने जिसे शाप दे दिया था, वही कलियुग मेरे शरीरमें तुम्हारी शापाग्निसे दग्ध होता हुआ निवास करता था, जैसे आगमें रक्खी हुई आग हो; उसी प्रकार वह कलि तुम्हारे शापसे दग्ध हो सदा मेरे भीतर रहता था ॥ १८-१९ ॥

मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः।
दुःखस्यान्तेन चानेन भवितव्यं हि नौ शुभे ॥२०॥

'शुभे! मेरे व्यवसाय (उद्योग) तथा तपस्यासे कलियुग परास्त हो चुका है। अतः अब हमारे दुःखोंका अन्त हो जाना चाहिये ॥ २० ॥

विमुच्य मां गतः पापस्ततोऽहमिह चागतः।
त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत् प्रयोजनम् ॥२१॥

'विशाल नितम्बवाली सुन्दरी! पापी कलियुग मुझे छोड़कर चला गया, इसीसे मैं तुम्हारी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर यहाँ आया हूँ। इसके सिवा, मेरे आगमनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २१ ॥

कथं तु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम्।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ॥२२॥

'भीरु! कोई भी स्त्री कभी अपने अनुरक्त एवं भक्त पतिको त्यागकर दूसरे पुरुषका वरण कैसे कर सकती है? जैसा कि तुम करने जा रही हो ॥ २२ ॥

दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात्।
भैमी किल स्म भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥२३॥

'विदर्भनरेशकी आज्ञासे सारी पृथ्वीपर दूत विचरते हैं और यह घोषणा कर रहे हैं कि दमयन्ती द्वितीय पतिका वरण करेगी ॥ २३ ॥

स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवात्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गासुरिरुपस्थितः ॥२४॥

'दमयन्ती स्वेच्छाचारिणी है और अपनी रुचिके अनुसार किसी अनुरूप पतिका वरण कर सकती है', यह सुनकर ही राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ यहाँ उपस्थित हुए हैं' ॥ २४ ॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ॥२५॥

दमयन्ती नलका यह विलाप सुनकर काँप उठी और भयभीत हो हाथ जोड़कर यह वचन बोली ॥ २५ ॥

दमयन्त्युवाच

न मामर्हसि कल्याण दोषेण परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ॥२६॥

दमयन्तीने कहा—कल्याणमय निषधनरेश ! आपको मुझपर दोषारोपण करते हुए मेरे चरित्रपर संदेह नहीं करना चाहिये । (आपके प्रति अनन्य प्रेमके कारण ही) मैंने देवताओंको छोड़कर आपका वरण किया है ॥ २६ ॥

तवाभिगमनार्थं तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः ।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ॥२७॥

आपका पता लगानेके लिये ही चारों ओर ब्राह्मणलोग भेजे गये और वे मेरी कही हुई बातोंको सब दिशाओंमें गाथाके रूपमें गाते फिरे ॥ २७ ॥

ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान् पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत् कोसलायामृतुपर्णनिवेशने ॥२८॥

राजन् ! इसी योजनाके अनुसार पर्णाद नामक विद्वान् ब्राह्मण अयोध्यापुरीमें ऋतुपर्णके राजभवनमें गये थे ॥ २८ ॥

तेन वाक्ये कृते सम्यक् प्रतिवाक्ये तथाऽऽहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधानयने तव ॥२९॥

उन्होंने वहाँ मेरी बात उपस्थित की और वहाँसे आपके द्वारा प्राप्त हुआ ठीक-ठीक उत्तर वे ले आये । निषधराज ! इसके बाद आपको यहाँ बुलानेके लिये मुझे यह उपाय सूझा (कि एक ही दिनके बाद होनेवाले स्वयंवरका समाचार देकर ऋतुपर्णको बुलाया जाय) ॥ २९ ॥

त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ॥३०॥

नरेश्वर ! पृथ्वीनाथ ! मैं यह अच्छी तरह जानती हूँ कि इस जगत्‌में आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो एक ही दिनमें घोड़े जुते हुए रथकी सवारीसे सौ योजन दूरतक जानेमें समर्थ हो ॥ ३० ॥

स्पृशेयं तेन सत्येन पादावेतौ महीपते ।
यथा नासत्कृतं किंचिन्मनसापि चराम्यहम् ॥ ३१ ॥

महीपते ! मैं मनसे भी कभी कोई असदाचरण नहीं करती हूँ और इसी सत्यकी शपथ खाकर आपके इन दोनों चरणोंका स्पर्श करती हूँ ॥ ३१ ॥

अयं चरति लोकेऽस्मिन् भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मे मुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३२ ॥

ये सदा गतिशील वायुदेवता इस जगत्‌में निरन्तर विचरते रहते हैं; अतः ये सम्पूर्ण भूतोंके साक्षी हैं । यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३२ ॥

यथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३३ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेव समस्त भुवनोंके ऊपर विचरते हैं (अतः वे भी सबके शुभाशुभ कर्म देखते रहते हैं) । यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३३ ॥

चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३४ ॥

चित्तके अभिमानी देवता चन्द्रमा समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विचरते हैं । यदि मैंने पाप किया है तो वे मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३४ ॥

एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै।
विब्रुवन्तु यथा सत्यमेतद् देवास्त्यजन्तु माम् ॥ ३५ ॥

ये पूर्वोक्त तीन देवता सम्पूर्ण त्रिलोकीको धारण करते हैं। मेरे कथनमें कितनी सचाई है, इसे देवतालोग स्वयं स्पष्ट करें। यदि मैं झूठ बोलती हूँ तो देवता मेरा त्याग कर दें ॥ ३५ ॥

एवमुक्तस्तथा वायुरन्तरिक्षादभाषत ।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अन्तरिक्षलोकसे वायुदेवताने कहा—'नल ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, इस दमयन्तीने कभी कोई पाप नहीं किया है ॥ ३६ ॥

राजञ्छीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः।
साक्षिणो रक्षिणश्चास्या वयं त्रीन् परिवत्सरान्॥ ३७ ॥

'राजन् ! दमयन्तीने अपने शीलकी उज्ज्वल निधिको सदा सुरक्षित रक्खा है । हमलोग तीन वर्षोंतक निरन्तर इसके रक्षक और साक्षी रहे हैं ॥ ३७ ॥

उपायो विहितश्चायं त्वदर्थमतुलोऽनया ।
न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वामृतेऽन्यः पुमानिह ॥ ३८ ॥

'तुम्हारी प्राप्तिके लिये दमयन्तीने यह अनुपम उपाय ढूँढ़ निकाला था; क्योंकि इस जगत्‌में तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है, जो एक दिनमें सौ योजन (रथद्वारा) जा सके ॥

उपपन्ना त्वया भैमी त्वं च भैम्या महीपते ।
नात्र शङ्का त्वया कार्या संगच्छ सह भार्यया ॥ ३९ ॥

राजन् ! भीमकुमारी दमयन्ती तुम्हारे योग्य है और तुम दमयन्तीके योग्य हो । तुम्हें इसके चरित्रके विषयमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिये। तुम अपनी पत्नीसे निःशङ्क होकर मिलो' ॥ ३९ ॥

तथा ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ॥ ४० ॥

वायुदेवके ऐसा कहते समय आकाशसे फूलोंकी वर्षा हो रही थी, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज रही थीं और मङ्गलमय पवन चलने लगा ॥ ४० ॥

तदद्भुतमयं दृष्ट्वा नलो राजाथ भारत ।
दमयन्त्यां विशङ्कां तामुपाकर्षदरिंदमः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर ! यह अद्भुत दृश्य देखकर शत्रुसूदन राजा नलने दमयन्तीके विरुद्ध होनेवाली शङ्काको त्याग दिया ॥४१॥

ततस्तद् वस्त्रमजरं प्रावृणोद् वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजं तं ततो लेभे स्वकं वपुः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर उन भूपालने नागराज कर्कोटकका स्मरण करके उसके दिये हुए अजीर्ण वस्त्रको ओढ़ लिया । उससे उन्हें अपने पूर्वस्वरूपकी प्राप्ति हो गयी ॥ ४२ ॥

स्वरूपिणं तु भर्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ॥ ४३ ॥

अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हुए अपने पतिदेव पुण्यश्लोक महाराज नलको देखकर सती साध्वी दमयन्ती उनके हृदयसे लगकर उच्च स्वरसे रोने लगी ॥ ४३ ॥

भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चापि यथावत् प्रत्यनन्दत ॥ ४४ ॥

राजा नलका रूप पहलेकी ही भाँति ही प्रकाशित हो रहा था । उन्होंने भी दमयन्तीको छातीसे लगा लिया और अपने दोनों बालकोंको भी प्यार-दुलार करके प्रसन्न किया ॥ ४४ ॥

ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना ।
परीता तेन दुःखेन निशश्वासायतेक्षणा ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् सुन्दर मुख और विशाल नेत्रोंवाली दमयन्ती नलके मुखको अपने वक्षःस्थलपर रखकर दुःखसे व्याकुल हो लंबी साँसें खींचने लगी ॥ ४५ ॥

तथैव मलदिग्धाङ्गीं परिष्वज्य शुचिस्मिताम् ।
सुचिरं पुरुषव्याघ्रस्तस्थौ शोकपरिप्लुतः ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार पवित्र मुसकान तथा मैलसे भरे हुए अङ्गोंवाली दमयन्तीको हृदयसे लगाकर पुरुषसिंह नल बहुत देरतक शोकमग्न खड़े रहे ॥ ४६ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाकथयत् प्रीत्या वैदर्भ्या जननी नृप ॥ ४७ ॥

'राजन् ! तदनन्तर (दमयन्तीके द्वारा मालूम होनेपर) दमयन्तीकी माताने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजा भीमसे नल-दमयन्तीका सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया ॥ ४७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं कल्ये द्रष्टा सुखोषितम् ॥ ४८ ॥

तब महाराज भीमने कहा—'आज नलको सुखपूर्वक यहीं रहने दो । कल सबेरे स्नान आदिसे शुद्ध हुए दमयन्ती-सहित नलसे मैं मिलूँगा' ॥ ४८ ॥

ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम् ।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ॥ ४९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वे दोनों दम्पति रातभर वनमें रहनेकी पुरानी घटनाओंको एक-दूसरेसे कहते हुए प्रसन्नतापूर्वक एक साथ रहे ॥ ४९ ॥

गृहे भीमस्य नृपतेः परस्परसुखैषिणौ ।
वसेतां हृष्टसंकल्पौ वैदर्भी च नलश्च ह ॥ ५० ॥

एक दूसरेको सुख देनेकी इच्छा रखनेवाले दमयन्ती और नल राजा भीमके महलमें प्रसन्नचित्त होकर रहे ॥ ५० ॥

नलका अपने पूर्वरूपमें प्रकट होकर दमयन्तीसे मिलना

स चतुर्थे ततो वर्षे संगम्य सह भार्यया ।
सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम् ॥ ५१ ॥

चौथे वर्षमें अपनी प्यारी पत्नीसे मिलकर सम्पूर्ण कामनाओंसे सफलमनोरथ हो नल अत्यन्त आनन्दमें निमग्न हो गये ॥ ५१ ॥

दमयन्त्यपि भर्तारमासाद्याप्यायिता भृशम् ।
अर्धसंजातसस्येव तोयं प्राप्य वसुंधरा ॥ ५२ ॥

जैसे आधी जमी हुई खेतीसे भरी वसुधा वर्षाका जल पाकर उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार दमयन्ती भी अपने पतिको पाकर बहुत संतुष्ट हुई ॥ ५२ ॥

सैवं समेत्य व्यपनीय तन्द्रां
शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।
रराज भैमी समवाप्तकामा
शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥ ५३ ॥

जैसे चन्द्रोदयसे रात्रिकी शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार भीमकुमारी दमयन्ती पतिसे मिलकर आलस्यका त्याग करके निश्चिन्त और हर्षोल्लसित हृदयसे पूर्णकाम होकर अत्यन्त शोभा पाने लगी ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदमयन्तीसमागमे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलदमयन्तीसमागमविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

नलके प्रकट होनेपर विदर्भनगरमें महान् उत्सवका आयोजन, ऋतुपर्णके साथ नलका वार्तालाप और ऋतुपर्णका नलसे अश्वविद्या सीखकर अयोध्या जाना

बृहदश्व उवाच

अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः ।
वैदर्भ्या सहितः काले ददर्श वसुधाधिपम् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर वह रात बीतनेपर राजा नल वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो दमयन्तीके साथ यथासमय राजा भीमसे मिले ॥ १ ॥

ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः ।
ततोऽनु दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा ॥ २ ॥

स्नानादिसे पवित्र हुए नलने विनीतभावसे श्वशुरको प्रणाम किया । तत्पश्चात् शुभलक्षणा दमयन्तीने भी पिताकी वन्दना की ॥ २ ॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत् परया मुदा ।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः ॥ ३ ॥
नलेन सहितां तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम् ।

राजा भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नलको पुत्रकी भाँति अपनाया और नलसहित पतिव्रता दमयन्तीका यथायोग्य आदर-सत्कार करके उन्हें आश्वासन दिया ॥ ३½ ॥

तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य यथाविधि ॥ ४ ॥
परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत् प्रत्यवेदयत् ।
ततो बभूव नगरे सुमहान् हर्षजः स्वनः ॥ ५ ॥
जनस्य सम्प्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथाऽऽगतम् ।

राजा नलने उस पूजाको विधिपूर्वक स्वीकार करके अपनी ओरसे भी श्वशुरका सेवा-सत्कार किया । तदनन्तर विदर्भनगरमें राजा नलको इस प्रकार आया देख हर्षोल्लासमें भरी हुई जनताका महान् आनन्दजनित कोलाहल होने लगा ॥

अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम् ॥ ६ ॥
सिक्ताः सुमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः स्वलंकृताः ।
द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गः प्रकल्पितः ॥ ७ ॥

विदर्भनरेशने ध्वजा, पताकाओंकी पङ्क्तियोंसे कुण्डिनपुरको अद्भुत शोभासे सम्पन्न किया । सड़कोंको खूब झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था । फूलोंसे उन्हें अच्छी तरह सजाया गया था । पुरवासियोंके द्वार-द्वारपर सुगंध फैलानेके लिये राशि-राशि फूल बिखेरे गये थे ॥ ६-७ ॥

अर्चितानि च सर्वाणि देवतायतनानि च ।
ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मिनं नलम् ॥ ८ ॥
दमयन्त्या समायुक्तं जहृषे च नराधिपः ।

सम्पूर्ण देवमन्दिरोंकी सजावट और देवमूर्तियोंकी पूजा की गयी थी । राजा ऋतुपर्णने भी जब यह सुना कि बाहुकके वेषमें राजा नल ही थे और अब वे दमयन्तीसे मिले हैं, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥ ८½ ॥

तमानाय्य नलं राजा क्षमयामास पार्थिवम् ॥ ९ ॥

उन्होंने राजा नलको बुलवाकर उनसे क्षमा माँगी ॥ ९ ॥

स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसम्मितः ।
स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मिताननः ॥ १० ॥
उवाच वाक्यं तत्त्वज्ञो नैषधं वदतां वरः ।

बुद्धिमान् नलने भी अनेक युक्तियोंद्वारा उनसे क्षमा-याचना की । नलसे आदर-सत्कार पाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ एवं तत्त्वज्ञ राजा ऋतुपर्ण मुसकराते हुए मुखसे बोले— ॥ १०½ ॥

दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभ्यनन्दत ॥ ११ ॥

'निषधनरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप अपनी बिछुड़ी हुई पत्नीसे मिले ।' ऐसा कहकर उन्होंने नलका अभिनन्दन किया ॥ ११ ॥

किंचित् तु नापराधं ते कृतवानस्मि नैषध ।
अज्ञातवासे वसतो मद्गृहे वसुधाधिप ॥ १२ ॥

(और पुनः कहा–) 'नैषध ! भूपालशिरोमणे ! आप मेरे घरपर जब अज्ञातवासकी अवस्थामें रहते थे, उस समय मैंने आपका कोई अपराध तो नहीं किया है ? ॥ १२ ॥

यदिवाबुद्धिपूर्वाणि यदि बुद्ध्यापि कानिचित्।
मया कृतान्यकार्याणि तानि त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'उन दिनों यदि मैंने बिना जाने या जान-बूझकर आपके साथ अनुचित वर्ताव किये हों तो उन्हें आप क्षमा कर दें' ॥ १३ ॥

नल उवाच

न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव ।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ॥ १४ ॥

नलने कहा—राजन् ! आपने मेरा कभी थोड़ा-सा भी अपराध नहीं किया है और यदि किया भी हो तो उसके लिये मेरे हृदयमें क्रोध नहीं है । मुझे आपके प्रत्येक वर्तावको क्षमा ही करना चाहिये ॥ १४ ॥

पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि सम्बन्धी च जनाधिप ।
अत ऊर्ध्वं तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

जनेश्वर ! आप पहले भी मेरे सखा और सम्बन्धी थे और इसके बाद भी आपको मुझपर अधिक-से-अधिक प्रेम रखना चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वकामैः सुविहितैः सुखमस्म्युषितस्त्वयि ।
न तथा स्वगृहे राजन् यथा तव गृहे सदा ॥ १६ ॥

राजन् ! मेरी समस्त कामनाएँ वहाँ अच्छी तरह पूर्ण की गयीं और इसके कारण मैं सदा आपके यहाँ सुखी रहा । महाराज ! आपके भवनमें मुझे जैसा आराम मिला, वैसा अपने घरमें भी नहीं मिला ॥ १६ ॥

इदं चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति ।
तदुपाकर्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव ।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ॥ १७ ॥

आपका अश्वविज्ञान मेरे पास धरोहरके रूपमें पड़ा है । राजन् ! यदि आप ठीक समझें तो मैं उसे आपको देनेकी इच्छा रखता हूँ । ऐसा कहकर निषधराज नलने ऋतुपर्णको अश्वविद्या प्रदान की ॥ १७ ॥

स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
गृहीत्वा चाश्वहृदयं राजन् भाङ्गासुरिर्नृपः ॥ १८ ॥
निषधाधिपतेश्चापि दत्त्वाक्षहृदयं नृपः ।
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव ह ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! ऋतुपर्णने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उनसे अश्वविद्या ग्रहण की । अश्वोंका रहस्य ग्रहण करके और निषधनरेश नलको पुनः द्यूतविद्याका रहस्य समझाकर दूसरा सारथि साथ ले राजा ऋतुपर्ण अपने नगरको चले गये ॥ १८-१९ ॥

ऋतुपर्णे गते राजन् नलो राजा विशाम्पते ।
नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवावसत् ॥ २० ॥

राजन् ! ऋतुपर्णके चले जानेपर राजा नल कुण्डिनपुरमें कुछ समयतक रहे । वह काल उन्हें थोड़े समयके समान ही प्रतीत हुआ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्वदेशगमने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका स्वदेशगमनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

राजा नलका पुष्करको जूएमें हराना और उसको राजधानीमें भेजकर अपने नगरमें प्रवेश करना

बृहदश्व उवाच

स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान् प्रति ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! निषधनरेश एक मासतक कुण्डिनपुरमें रहकर राजा भीमकी आज्ञा ले थोड़े-से सेवकोंसहित वहाँसे निषधदेशकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ॥ २ ॥

उनके साथ चारों ओरसे सोलह हाथियोंद्वारा घिरा हुआ एक सुन्दर रथ, पचास घोड़े और छः सौ पैदल सैनिक थे ॥

स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः।
प्रविवेशाथ संरब्धस्तरसैव महामनाः ॥ ३ ॥

महामना राजा नलने इन सबके द्वारा पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए बड़ी उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे वेगपूर्वक निषधदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः।
उवाच दीव्याव पुनर्बहुवित्तं मयार्जितम् ॥ ४ ॥
दमयन्ती च यच्चान्यन्मम किंचन विद्यते।
एष वै मम संन्यासस्तव राज्यं तु पुष्कर ॥ ५ ॥
पुनः प्रवर्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः।
एकपाणेन भद्रं ते प्राणयोश्च पणावहे ॥ ६ ॥

तदनन्तर वीरसेनपुत्र नलने पुष्करके पास जाकर कहा—'अब हम दोनों फिरसे जूआ खेलें। मैंने बहुत धन प्राप्त किया है। दमयन्ती तथा अन्य जो कुछ भी मेरे पास है, यह सब मेरी ओरसे दाँवपर लगाया जायगा और पुष्कर ! तुम्हारी ओरसे सारा राज्य ही दाँवपर रखा जायगा। इस एक पणके साथ हम दोनोंमें फिर जूएका खेल प्रारम्भ हो यह मेरा निश्चित विचार है। तुम्हारा भला हो, यदि ऐसा न कर सको तो हम दोनों अपने प्राणोंकी बाजी लगावें ॥

जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परमो धर्म उच्यते ॥ ७ ॥

'जूएके दाँवमें दूसरेका राज्य या धन जीतकर रख लिया जाय तो उसे यदि वह पुनः खेलना चाहे तो प्रतिपण (बदलेका दाव) देना चाहिये, यह परम धर्म कहा गया है ॥ ७ ॥

न चेद् वाञ्छसि त्वं द्यूतं युद्धद्यूतं प्रवर्तताम्।
द्वैरथेनास्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ॥ ८ ॥

'यदि तुम पासोंसे जूआ खेलना न चाहो तो बाणोंद्वारा युद्धका जूआ प्रारम्भ होना चाहिये। राजन् ! द्वैरथयुद्धके द्वारा तुम्हारी अथवा मेरी शान्ति हो जाय ॥ ८ ॥

वंशभोज्यमिदं राज्यमर्थितव्यं यथा तथा।
येन केनाप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ॥ ९ ॥

'यह राज्य हमारी वंशपरम्पराके उपभोगमें आनेवाला है। जिस-किसी उपायसे भी जैसे-तैसे इसका उद्धार करना चाहिये; ऐसा वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है ॥ ९ ॥

द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर।
कैतवेनाक्षवत्यां तु युद्धे वा नाम्यतां धनुः ॥ १० ॥

'पुष्कर ! आज तुम दोमेंसे एकमें मन लगाओ। छलपूर्वक जूआ खेलो अथवा युद्धके लिये धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ' ॥ १० ॥

नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव।
ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ॥ ११ ॥

निषधराज नलके ऐसा कहनेपर पुष्करने अपनी विजयको अवश्यम्भावी मानकर हँसते हुए उनसे कहा— ॥ ११ ॥

दिष्ट्या त्वयार्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध।
दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ॥ १२ ॥

'नैषध ! सौभाग्यकी बात है कि तुमने दाँवपर लगानेके लिये धनका उपार्जन कर लिया है। यह भी आनन्दकी बात है कि दमयन्तीके दुष्कर्मोंका क्षय हो गया ॥ १२ ॥

दिष्ट्या च ध्रियसे राजन् सदारोऽद्य महाभुज।
धनेनानेन वै भैमी जितेन समलंकृता ॥ १३ ॥
मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाप्सराः।
नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षेऽपि च नैषध ॥ १४ ॥

'महाबाहु नरेश ! सौभाग्यसे तुम पत्नीसहित अभी जीवित हो। इसी धनको जीत लेनेपर दमयन्ती शृङ्गार करके निश्चय ही मेरी सेवामें उपस्थित होगी, ठीक उसी तरह, जैसे स्वर्गलोककी अप्सरा देवराज इन्द्रकी सेवामें जाती है। नैषध ! मैं प्रतिदिन तुम्हारी याद करता हूँ और तुम्हारी राह भी देखा करता हूँ ॥ १३-१४ ॥

देवनेन मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः।
जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि।

शत्रुओंके साथ जूआ खेलनेसे मुझे कभी तृप्ति ही नहीं होती। आज श्रेष्ठ अङ्गोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी दमयन्तीको

जीतकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा; क्योंकि वह सदा मेरे हृदय-मन्दिरमें निवास करती है' ॥ १५½ ॥

श्रुत्वा तु तस्य ता वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ॥१६॥
इयेष स शिरश्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः।
स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच नलो नृपः ॥१७॥

इस प्रकार बहुत-से असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले पुष्करकी वे बातें सुनकर राजा नलको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने तलवारसे उसका सिर काट लेनेकी इच्छा की। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयीं तो भी राजा नलने हँसते हुए उससे कहा—॥

पणावः किं व्याहरसे जितो न व्याहरिष्यसि।
ततः प्रावर्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ॥१८॥
एकपाणेन वीरेण नलेन स पराजितः।
स रत्नकोशनिचयैः प्राणेन पणितोऽपि च ॥१९॥

'अब हम दोनों जूआ प्रारम्भ करें, तुम अभी व्यर्थ बकवाद क्यों करते हो ? हार जानेपर ऐसी बातें न कर सकोगे।' तदनन्तर पुष्कर तथा राजा नलमें एक ही दाँव लगानेकी शर्त रखकर जूएका खेल प्रारम्भ हुआ। तब वीर नलने पुष्करको हरा दिया। पुष्करने रत्न, खजाना तथा प्राणोंतककी बाजी लगा दी थी ॥ १८-१९ ॥

जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत्।
मम सर्वमिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ॥२०॥
वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम्।
तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ॥२१॥

पुष्करको परास्त करके राजा नलने हँसते हुए उससे कहा—'नृपाधम ! अब यह शान्त और अकण्टक सारा राज्य मेरे अधिकारमें आ गया। विदर्भकुमारी दमयन्तीकी ओर तू आँख उठाकर देख भी नहीं सकता। मूर्ख ! आजसे तू परिवारसहित दमयन्तीका दास हो गया ॥ २०-२१ ॥

न त्वया तत् कृतं कर्म येनाहं विजितः पुरा।
कलिना तत् कृतं कर्म त्वं च मूढ न बुध्यसे ॥२२॥

'पहले तेरे द्वारा जो मैं पराजित हो गया था, उसमें तेरा कोई पुरुषार्थ नहीं था। मूढ़ ! वह सब कलियुगकी करतूत थी, जिसे तू नहीं जानता है ॥ २२ ॥

नाहं परकृतं दोषं त्वय्याधास्ये कथंचन।
यथासुखं वै जीव त्वं प्राणानवसृजामि ते ॥२३॥

'दूसरे (कलियुग) के किये हुए अपराधको मैं किसी तरह तेरे मत्थे नहीं मढ़ूँगा। तू सुखपूर्वक जीवित रह। मैं तेरे प्राण तुझे वापस देता हूँ ॥ २३ ॥

तथैव सर्वसम्भारं स्वमंशं वितरामि ते।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ॥२४॥

'तेरा सारा सामान और तेरे हिस्सेका धन भी तुझे लौटाये देता हूँ। वीर ! तेरे ऊपर मेरा पूर्ववत् प्रेम बना रहेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

सौहार्दं चापि मे त्वत्तो न कदाचित् प्रहास्यति।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीव शरदः शतम् ॥२५॥

'तेरे प्रति जो मेरा सौहार्द रहा है, वह कभी मेरे हृदयसे दूर नहीं होगा। पुष्कर ! तू मेरा भाई है, जा, सौ वर्षोंतक जीवित रह' ॥ २५ ॥

एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ॥२६॥

इस प्रकार सत्यपराक्रमी राजा नलने अपने भाई पुष्करको सान्त्वना दे बार-बार हृदयसे लगाकर उसकी राजधानीको भेज दिया ॥ २६ ॥

सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम्।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥२७॥
कीर्तिरस्तु तवाक्षय्या जीव वर्षशतं सुखी।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानं च पार्थिव ॥२८॥

राजन् ! निषधराजके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर

पुष्करने पुण्यश्लोक नलको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'पृथ्वीनाथ ! आप जो मुझे प्राण और निवासस्थान भी वापस दे रहे हैं, इससे आपकी अक्षय कीर्ति बनी रहे। आप सौ वर्षोंतक जीयें और सुखी रहें' ।२७-२८।

स तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृप।
प्रययौ पुष्करो हृष्टः स्वपुरं स्वजनावृतः ॥२९॥

महत्या सेनया सार्धं विनीतैः परिचारकैः।
भ्राजमान इवादित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ॥३०॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! राजा नलके द्वारा इस प्रकार सत्कार पाकर पुष्कर एक मासतक वहाँ टिका रहा और फिर आत्मीय जनोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानीको चला गया। उसके साथ विशाल सेना और विनयशील सेवक भी थे। वह शरीरसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥२९-३०॥

प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तवन्तमनामयम्।
प्रविवेश पुरं श्रीमानत्यर्थमुपशोभिताम् ॥३१॥

पुष्करको धन—वित्तके साथ सकुशल घर भेजकर श्रीमान् राजा नलने अपने अत्यन्त शोभासम्पन्न नगरमें प्रवेश किया ॥

प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः।
पौरा जानपदाश्चापि सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ॥३२॥

प्रवेश करके निषधनरेशने पुरवासियोंको सान्त्वना दी। नगर और जनपदके लोग बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ३२ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सामात्यप्रमुखा जनाः।
अद्य स्म निर्वृता राजन् पुरे जनपदेऽपि च।
उपासितुं पुनः प्राप्ता देवा इव शतक्रतुम् ॥३३॥

मन्त्री आदि सब लोगोंने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आज हम नगर और जनपदके निवासी संतोषसे साँस ले सके हैं। जैसे देवता-देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार अब हमें पुनः आपकी उपासना करने—आपके पास बैठनेका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि पुष्करपराभवपूर्वकं राज्यप्रत्यानयने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें पुष्करको हराकर राजा नलके अपने नगरमें आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

राजा नलके आख्यानके कीर्तनका महत्त्व, बृहदश्व मुनिका युधिष्ठिरको आश्वासन देना तथा द्यूतविद्या और अश्वविद्याका रहस्य बताकर जाना

बृहदश्व उवाच

प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे सम्प्रवृत्ते महोत्सवे।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब नगरमें शान्ति छा गयी और सब लोग प्रसन्न हो गये, सर्वत्र महान् उत्सव होने लगा, उस समय राजा नल विशाल सेनाके साथ जाकर दमयन्तीको विदर्भदेशसे बुला लाये ॥ १ ॥

दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा।
प्रास्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ॥ २ ॥

दमयन्तीके पिता भयंकर पराक्रमी भीम अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न थे, शत्रुपक्षके वीरोंका हनन करनेमें समर्थ थे। उन्होंने अपनी पुत्री दमयन्तीको बड़े सत्कारके साथ विदा किया ॥ २ ॥

आगतायां तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः।
वर्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ॥ ३ ॥
तथा प्रकाशतां यातो जम्बुद्वीपे स राजसु।
पुनः शशास तद् राज्यं प्रत्याहृत्य महायशाः ॥ ४ ॥

पुत्र और पुत्रीसहित दमयन्तीके आ जानेपर राजा नल सब बर्ताव-व्यवहार बड़े आनन्दसे सम्पन्न करने लगे। जैसे नन्दनवनमें देवराज इन्द्र शोभा पाते हैं, उसी प्रकार वे जम्बूद्वीपके समस्त राजाओंमें प्रकाशमान हो रहे थे। वे महायशस्वी नरेश अपने राज्यको पुनः वापस लेकर उसका न्यायपूर्वक शासन करने लगे ॥ ३-४ ॥

ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवच्चाप्तदक्षिणैः।
तथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद् यक्ष्यसेऽचिरात् ॥ ५ ॥

उन्होंने पर्याप्त दक्षिणासे युक्त विविध प्रकारके यज्ञोंद्वारा विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन किया। राजेन्द्र ! इसी प्रकार तुम भी पुनः अपना राज्य पाकर सुहृदोंसहित शीघ्र ही यज्ञका अनुष्ठान करोगे ॥ ५ ॥

दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरंजयः।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पुरुषोत्तम ! शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज नल जूआ खेलनेके कारण अपनी पत्नीसहित इस प्रकारके महान् संकटमें पड़ गये थे ॥ ६ ॥

एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते।
दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाभ्युदयः पुनः ॥ ७ ॥

पृथ्वीपते ! राजा नलने अकेले ही यह भयंकर और महान् दुःख प्राप्त किया था; उन्हें पुनः अभ्युदयकी प्राप्ति हुई ॥

त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव।
रमसेऽस्मिन् महारण्ये धर्ममेवानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम तो अपने सभी भाइयों और महारानी द्रौपदीके साथ इस महान् वनमें भ्रमण करते हो और निरन्तर धर्मके ही चिन्तनमें लगे रहते हो ॥ ८ ॥

ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

राजन् ! महान् भाग्यशाली वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण सदा तुम्हारे साथ रहते हैं; फिर तुम्हारे लिये इस परिस्थितिमें शोककी क्या बात है ? ॥ ९ ॥

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥ १० ॥

कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल तथा राजर्षि ऋतुपर्णकी चर्चा कलियुगके दोषका नाश करनेवाली है ॥ १० ॥

इतिहासमिमं चापि कलिनाशनमच्युत ।
शक्यमाश्वसितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशाम्पते ॥ ११ ॥

महाराज ! तुम्हारे-जैसे लोगोंको यह कलिनाशक इतिहास सुनकर आश्वासन प्राप्त हो सकता है ॥ ११ ॥

अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

पुरुषको प्राप्त होनेवाले सभी विषय सदा अस्थिर एवं विनाशशील हैं। यह सोचकर उनके मिलने या नष्ट होनेपर तुम्हें तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

श्रुत्वेतिहासं नृपते समाश्वसिहि मा शुचः ।
व्यसने त्वं महाराज न विषीदितुमर्हसि ॥ १३ ॥

नरेश ! इस इतिहासको सुनकर तुम धैर्य धारण करो, शोक न करो; महाराज ! तुम्हें संकटमें पड़नेपर विषादग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ १३ ॥

विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ॥ १४ ॥

जब दैव (प्रारब्ध) प्रतिकूल हो और पुरुषार्थ निष्फल हो जाय, उस समय भी सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने मनमें विषाद नहीं लाते ॥ १४ ॥

ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नालक्ष्मीस्तान् भजिष्यति १५
अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ।

जो राजा नलके इस महान् चरित्रका वर्णन करेंगे अथवा निरन्तर सुनेंगे, उन्हें दरिद्रता नहीं प्राप्त होगी। उनके सभी मनोरथ सिद्ध होंगे और वे संसारमें धन्य हो जायँगे ॥ १५½ ॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ॥ १६ ॥
पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चापि लभते नृषु चाग्र्यताम् ।
आरोग्यप्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

इस प्राचीन एवं उत्तम इतिहासका सदा ही श्रवण करके मनुष्य पुत्र, पौत्र, पशु तथा मानवोंमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेता है। साथ ही, वह नीरोग और प्रसन्न होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १६-१७ ॥

भयात् त्रस्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यति मां पुनः ।
अक्षज्ञ इति तत् तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ॥ १८ ॥

राजन् ! तुम जो इस भयसे डर रहे हो, कि कोई द्यूतविद्याका ज्ञाता मनुष्य पुनः मुझे जूएके लिये बुलायेगा (उस दशामें पुनः पराजयका कष्ट देखना पड़ेगा)। तुम्हारे उस भयको मैं दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

वेदाक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।
उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥

सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन ! मैं द्यूतविद्याके सम्पूर्ण हृदय (रहस्य) को जानता हूँ, तुम उसे ग्रहण कर लो। मैं प्रसन्न होकर तुम्हें बतलाता हूँ ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।
भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने प्रसन्नचित्त हो बृहदश्वसे कहा—'भगवन् ! मैं द्यूतविद्याके रहस्यको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥

ततोऽक्षहृदयं प्रादात् पाण्डवाय महात्मने ।
दत्त्वा चाश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ॥ २१ ॥

तब महातपस्वी मुनिने महात्मा पाण्डुनन्दनको द्यूतविद्याका रहस्य बताया और उन्हें अश्वविद्याका भी उपदेश देकर वे स्नान आदि करनेके लिये चले गये ॥ २१ ॥

बृहदश्वे गते पार्थमश्रौषीत् सव्यसाचिनम् ।
वर्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ॥ २२ ॥
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः सम्पतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ॥ २३ ॥
इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ॥ २४ ॥

बृहदश्व मुनिके चले जानेपर दृढव्रती राजा युधिष्ठिरने इधर-उधरके तीर्थों, पर्वतों और वनोंसे आये हुए तपस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे सव्यसाची अर्जुनका यह समाचार सुना कि 'मनीषी अर्जुन वायुका आहार करके कठोर तपस्यामें लगे हैं। महाबाहु कुन्तीकुमार बड़ी दुष्कर तपस्यामें स्थित हैं। ऐसा कठोर तपस्वी आजसे पहले दूसरा कोई नहीं देखा गया है ॥ २२-२४ ॥

यथा धनंजयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः।
मुनिरेकचरः श्रीमान् धर्मो विग्रहवानिव ॥२५॥

'कुन्तीकुमार धनंजय जिस प्रकार नियम और व्रतका पालन करते हुए तपस्यामें संलग्न हैं, वह अद्भुत है। वे मौनभावसे रहते और अकेले ही विचरते हैं। श्रीमान् अर्जुन धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं' ॥ २५ ॥

तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने।
अन्वशोचत कौन्तेयः प्रियं वै भ्रातरं जयम् ॥२६॥

राजन्! उस महान् वनमें अपने प्रिय भाई अर्जुनको तपस्या करते सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर उनके लिये बार-बार शोक करने लगे ॥ २६ ॥

दह्यमानेन तु हृदा शरणार्थी महावने।
ब्राह्मणान् विविधज्ञानान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥२७॥

अर्जुनके वियोगमें संतप्त हृदयवाले वे युधिष्ठिर निर्भय आश्रयकी इच्छा रखते हुए उस महान् वनमें रहते थे और अनेक प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न ब्राह्मणोंसे अपना मनोगत अभिप्राय पूछा करते थे ॥ २७ ॥

(प्रतिगृह्याक्षहृदयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
आसीद्धृष्टमना राजन् भीमसेनादिभिर्युतः ॥

राजन्! द्यूतविद्याका रहस्य जानकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर भीमसेन आदिके साथ मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥

स्वभ्रातॄन् सहितान् पश्यन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अपश्यन्नर्जुनं तत्र बभूवाश्रुपरिप्लुतः।
संतप्यमानः कौन्तेयो भीमसेनमुवाच ह ॥

उन्होंने एक साथ बैठे हुए सब भाइयोंकी ओर देखा, उस समय वहाँ अर्जुनको न देखकर उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे अत्यन्त संतप्त हो भीमसेनसे बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

कदा द्रक्ष्यामि वै भीम पार्थमत्र तवानुजम्।
मत्कृते हि कुरुश्रेष्ठस्तप्यते दुश्चरं तपः ॥

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन! मैं तुम्हारे छोटे भाई अर्जुनको कब देखूँगा? कुरुश्रेष्ठ अर्जुन मेरे ही लिये अत्यन्त कठोर तपस्या करते हैं ॥

तस्याक्षहृदयज्ञानमाख्यास्यामि कदा न्वहम्।
स हि श्रुत्वाक्षहृदयं समुपात्तं मया विभो ॥
प्रहृष्टः पुरुषव्याघ्रो भविष्यति न संशयः।)

मैं उन्हें अक्षहृदय (द्यूतविद्याके रहस्य) का ज्ञान कब कराऊँगा। भीम! मेरे द्वारा ग्रहण किये हुए अक्ष-हृदयको सुनकर पुरुषसिंह अर्जुन बहुत प्रसन्न होंगे, इसमें संशय नहीं है ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वगमने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वगमनविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

(तीर्थयात्रापर्व)

अशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके लिये द्रौपदीसहित पाण्डवोंकी चिन्ता

जनमेजय उवाच

भगवन् काम्यकात् पार्थे गते मे प्रपितामहे।
पाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! मेरे प्रपितामह अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर उनसे अलग रहते हुए शेष पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया? ॥ १ ॥

स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित्।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ॥ २ ॥

वे सैन्यविजयी, महान् धनुर्धर अर्जुन ही उन सबके आश्रय थे। जैसे आदित्योंमें विष्णु हैं, वैसे ही पाण्डवोंमें मुझे धनंजय जान पड़ते हैं ॥ २ ॥

तेनेन्द्रसमवीर्येण संग्रामेष्वनिवर्तिना।
विनाभूता वने वीराः कथमासन् पितामहाः ॥ ३ ॥

वे संग्राममें कभी पीछे न हटनेवाले और इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उनके बिना मेरे अन्य वीर पितामह वनमें कैसे रहते थे? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

गते तु पाण्डवे तात काम्यकात् सत्यविक्रमे।
बभूवुः पाण्डवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तात! सत्यपराक्रमी पाण्डुकुमार अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर सभी पाण्डव उनके लिये दुःख और शोकमें मग्न रहने लगे ॥ ४ ॥

आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ॥ ५ ॥

जैसे मणियोंकी मालाका सूत टूट जाय अथवा पक्षियोंके पंख कट जायँ, वैसी दशामें उन मणियों और पक्षियोंकी जो

अवस्था होती है, वैसी ही अर्जुनके बिना पाण्डवोंकी थी। उन सबके मनमें तनिक भी प्रसन्नता नहीं थी ॥ ५ ॥

वनं तु तदभूत् तेन हीनमक्लिष्टकर्मणा।
कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ॥ ६ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनके बिना वह वन उसी प्रकार शोभा-शून्य-सा हो गया, जैसे कुबेरके बिना चैत्ररथ वन ॥ ६ ॥

तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥ ७ ॥

जनमेजय ! अर्जुनके बिना वे नरश्रेष्ठ पाण्डव आनन्द-शून्य हो काम्यकवनमें रह रहे थे ॥ ७ ॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान् बहुविधान् मृगान् ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे महारथी वीर शुद्ध बाणोंद्वारा ब्राह्मणोंके (बाघम्बर आदि) लिये पराक्रम करके नाना प्रकारके पवित्र* मृगोंको मारा करते थे ॥ ८ ॥

नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिंदमाः।
उपाकृत्य उपाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ९ ॥

वे नरश्रेष्ठ और शत्रुदमन पाण्डव प्रतिदिन ब्राह्मणोंके लिये जंगली फल-मूलका आहार संगृहीत करके उन्हें अर्पित करते थे ॥ ९ ॥

सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन् धनंजये ॥ १० ॥

राजन् ! धनंजयके चले जानेपर वे सभी नरश्रेष्ठ वहाँ खिन्न-चित्त हो उन्हींके लिये उत्कण्ठित होकर रहते थे ।१०।

विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम्।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

विशेषतः पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी अपने मझले पति अर्जुनका स्मरण करती हुई सदा उद्विग्न रहनेवाले पाण्डव-शिरोमणि युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोली—॥ ११ ॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ॥ १२ ॥

'पाण्डवश्रेष्ठ ! जो दो भुजावाले अर्जुन सहस्रबाहु अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, उनके बिना यह वन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ १२ ॥

शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम्।
बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ॥ १३ ॥
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम्।
नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ॥ १४ ॥
तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नातिभाति मे।
यस्य वा धनुषो घोषः श्रूयते चाशनिस्वनः।
न लभे शर्म वै राजन् स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ॥ १५ ॥

'मैं यत्र-तत्र यहाँकी जिस-जिस भूमिपर दृष्टि डालती हूँ, सबको सूनी-सी ही पाती हूँ। यह अनेक आश्चर्यसे भरा हुआ और विकसित कुसुमोंसे अलंकृत वृक्षोंवाला काम्यकवन भी सव्यसाची अर्जुनके बिना पहले-जैसा रमणीय नहीं जान पड़ता है। नीलमेघके समान कान्ति और मतवाले गजराजकी-सी गतिवाले उन कमलनयन अर्जुनके बिना यह काम्यकवन मुझे तनिक भी नहीं भाता है। राजन् ! जिनके धनुषकी टङ्कार बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी देती है, उन सव्यसाचीकी याद करके मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता' ॥ १३–१५ ॥

तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

महाराज ! इस प्रकार विलाप करती हुई द्रौपदीकी बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भीमसेनने उससे इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

भीम उवाच

मनःप्रीतिकरं भद्रे यद् ब्रवीषि सुमध्यमे।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ॥ १७ ॥

भीमसेन बोले—भद्रे ! सुमध्यमे ! तुम जो कुछ कहती हो, वह मेरे मनको प्रसन्न करनेवाला है। तुम्हारी बात मेरे हृदयको अमृतपानके तुल्य तृप्ति प्रदान करती है ॥१७॥

यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ।
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्धरौ ॥ १८ ॥
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाम्बरम् ॥ १९ ॥

जिनकी दोनों भुजाएँ लम्बी, मोटी, बराबर-बराबर तथा परिघके समान सुशोभित होनेवाली हैं, जिनपर प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न बन गया है, जो गोलाकार हैं और जिनमें खड्ग एवं धनुष सुशोभित होते हैं, सोनेके भुजबन्दोंसे विभूषित होकर जो पाँच-पाँच फनवाले दो सर्पोंके समान प्रतीत होती हैं उन पाँचों अंगुलियोंसे युक्त दोनों भुजाओंसे विभूषित नरश्रेष्ठ अर्जुनके बिना आज यह वन सूर्यहीन आकाशके समान श्रीहीन दिखलायी देता है ॥ १८-१९ ॥

यमाश्रित्य महाबाहुं पाञ्चालाः कुरवस्तथा।
सुराणामपि मत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ॥ २० ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ २१ ॥
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम्।

* जिनके मारनेपर मारनेवाला पवित्र हो जाय, ऐसे हिंसक सिंह-व्याघ्रादि पशुओंको पवित्र मृग कहा जाता है।

पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणावृता इव ।

जिन महाबाहु अर्जुनका आश्रय लेकर पाञ्चाल और कुरुवंशके वीर युद्धके लिये उद्यत देवताओंकी सेनाका सामना करनेसे भी भयभीत नहीं होते हैं, जिन महात्माके बाहुबलके भरोसे हम सब लोग युद्धमें अपने शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीका राज्य अपने अधिकारमें आया हुआ मानते हैं, उन वीरवर अर्जुनके बिना हमें काम्यकवनमें धैर्य नहीं प्राप्त हो रहा है। मुझे सारी दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न-सी दिखायी देती हैं ॥ २०-२१½ ॥

ततोऽब्रवीत् साश्रुकण्ठो नकुलः पाण्डुनन्दनः ॥ २२ ॥

भीमसेनकी यह बात सुनकर पाण्डुनन्दन नकुल अश्रु-गद्‌गद कण्ठसे बोले ॥ २२ ॥

नकुल उवाच

यस्मिन् दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति रणाजिरे ।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ॥ २३ ॥

नकुलने कहा—जिन महावीर अर्जुनके विषयमें रण-प्राङ्गणके भीतर देवताओंके द्वारा भी दिव्य कर्मोंका वर्णन किया जाता है, उन योद्धाओंमें श्रेष्ठ धनंजयके बिना अब इस वनमें हमें क्या प्रसन्नता है ? ॥ २३ ॥

उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयाँल्लेभे महाद्युतिः ॥ २४ ॥

जिन महातेजस्वीने उत्तर दिशामें जाकर महाबली मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंको युद्धमें परास्त करके उनसे सैकड़ों घोड़े प्राप्त किये ॥ २४ ॥

राज्ञे तित्तिरिकल्माषाञ्छ्रीमतोऽनिलरंहसः ।
प्रादाद् भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २५ ॥

जिन्होंने महायज्ञ राजसूयमें अपने प्यारे भाई धर्मराज युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक वायुके समान वेगशाली तित्तिरिकल्माष नामक सुन्दर घोड़े भेंट किये थे ॥ २५ ॥

तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २६ ॥

भीमके छोटे भाई उन भयंकर धनुर्धर देवोपम अर्जुनके बिना इस समय मुझे इस काम्यकवनमें रहनेकी इच्छा नहीं होती ॥ २६ ॥

सहदेव उवाच

यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः ।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ॥ २७ ॥
यः समेतान् मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः ।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य सम्मते ॥ २८ ॥

सहदेवने कहा—जिन महारथी वीरने पहले राजसूय महायज्ञके अवसरपर युद्धमें जीतकर बहुत धन और कन्याएँ महाराज युधिष्ठिरको भेंट की थीं, जिन अनन्त तेजस्वी धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिसे युद्धके लिये एकत्र हुए समस्त यादवोंको अकेले ही जीतकर सुभद्राका हरण कर लिया था ॥

तस्य जिष्णोर्बृसीं दृष्ट्वा शून्यामिव निवेशने ।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ २९ ॥
वनादस्माद् विवासं तु रोचयेऽहमरिंदम ।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ ३० ॥

महाराज ! उन्हीं विजयी भ्राता धनंजयके आसनको अब अपनी कुटियामें सूना देखकर मेरे हृदयको कभी शान्ति नहीं मिलती । अतः शत्रुदमन ! मैं इस वनसे अन्यत्र चलना पसंद करता हूँ । वीरवर अर्जुनके बिना अब यह वन रमणीय नहीं लगता ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अर्जुनानुशोचने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें अर्जुनके लिये पाण्डवोंका अनुतापविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८०॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास देवर्षि नारदका आगमन और तीर्थयात्राके फलके सम्बन्धमें पूछनेपर नारदजीद्वारा भीष्म-पुलस्त्य-संवादकी प्रस्तावना

वैशम्पायन उवाच

धनंजयोत्सुकानां तु भ्रातॄणां कृष्णया सह ।
श्रुत्वा वाक्यानि विमना धर्मराजोऽप्यजायत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धनंजयके लिये उत्सुक द्रौपदीसहित सब भाइयोंके पूर्वोक्त वचन सुनकर धर्म-राज युधिष्ठिरका भी मन बहुत उदास हो गया ॥ १ ॥

अथापश्यन्महात्मानं देवर्षिं तत्र नारदम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या हुतार्चिषमिवानलम् ॥ २ ॥

इतनेमें ही उन्होंने देखा, महात्मा देवर्षि नारद वहाँ उपस्थित हैं, जो अपने ब्राह्म तेजसे देदीप्यमान हो घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ।
प्रत्युत्थाय यथान्यायं पूजां चक्रे महात्मने ॥ ३ ॥

उन्हें आया देख भाइयोंसहित धर्मराजने उठकर उन महात्माका यथायोग्य सत्कार किया ॥ ३ ॥

स तैः परिवृतः श्रीमान् भ्रातृभिः कुरुसत्तमः।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ॥ ४ ॥

अपने भाइयोंसे घिरे हुए अत्यन्त तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ श्रीमान् युधिष्ठिर देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

यथा च वेदान् सावित्री याज्ञसेनी तथा पतीन्।
न जहौ धर्मतः पार्थान् मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

जैसे गायत्री चारों वेदोंका और सूर्यकी प्रभा मेरु पर्वतका त्याग नहीं करती, उसी प्रकार याज्ञसेनी द्रौपदीने भी धर्मतः अपने पति कुन्तीकुमारोंका परित्याग नहीं किया ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां नारदो भगवानृषिः।
आश्वासयद् धर्मसुतं युक्तरूपमिवानघ ॥ ६ ॥

निष्पाप जनमेजय ! उनकी वह पूजा ग्रहण करके देवर्षि भगवान् नारदने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको उचित सान्त्वना दी ॥

उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनार्थः किं ददानि ते ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् वे महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! बोलो, तुम्हें किस वस्तुकी आवश्यकता है ? मैं तुम्हें क्या दूँ ?' ॥ ७ ॥

अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा नारदं देवसम्मितम् ॥ ८ ॥

तब भाइयोंसहित धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरने देवतुल्य नारदजीको प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—॥ ८ ॥

त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात् तव सुव्रत ॥ ९ ॥

'महाभाग ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! सम्पूर्ण विश्वके द्वारा पूजित आप महात्माके संतुष्ट होनेपर मैं ऐसा समझता हूँ कि आपकी कृपासे मेरा सब कार्य पूरा हो गया ॥ ९ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
संदेहं मे मुनिश्रेष्ठ तत्त्वतश्छेत्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'निष्पाप मुनिश्रेष्ठ ! यदि भाइयोंसहित मैं आपकी कृपाका पात्र होऊँ तो आप मेरे संदेहको सम्यक् प्रकारसे नष्ट कर दीजिये ॥ १० ॥

प्रदक्षिणां यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः।
किं फलं तस्य कार्त्स्न्येन तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ ११ ॥

'जो मनुष्य तीर्थयात्रामें तत्पर होकर इस पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है ? यह आप पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें' ॥ ११ ॥

नारद उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण धीमता।
पुलस्त्यस्य सकाशाद् वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ॥ १२ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! सावधान होकर सुनो,

बुद्धिमान् भीष्मजीने महर्षि पुलस्त्यके मुखसे ये सब बातें जिस प्रकार सुनी थीं, वह सब मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १२ ॥

पुरा भागीरथीतीरे भीष्मो धर्मभृतां वरः।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन्मुनिभिः सह ॥ १३ ॥
शुभे देशे तथा राजन् पुण्ये देवर्षिसेविते।
गङ्गाद्वारे महाभाग देवगन्धर्वसेविते ॥ १४ ॥

महाभाग ! पहलेकी बात है, देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित गङ्गाद्वार (हरिद्वार) तीर्थमें भागीरथीके पवित्र, शुभ एवं देवर्षिसेवित तट-प्रदेशमें श्रेष्ठ धर्मात्मा भीष्मजी पितृसम्बन्धी (श्राद्ध, तर्पण आदि) व्रतका आश्रय ले महर्षियोंके साथ रहते थे ॥ १३-१४ ॥

स पितॄंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः।
ऋषींश्च तर्पयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥

परम तेजस्वी भीष्मजीने वहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया ॥ १५ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य जपन्नेव महायशाः।
ददर्शाद्भुतसंकाशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥

कुछ समयके बाद जब महायशस्वी भीष्मजी जपमें लगे हुए थे, अपने पास ही उन्होंने अद्भुत तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको देखा ॥ १६ ॥

स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परमं ययौ ॥ १७ ॥

वे उग्र तपस्वी महर्षि तेजसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्हें देखकर भीष्मजीको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई तथा वे बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १७ ॥

उपस्थितं महाभागं पूजयामास भारत।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

भारत! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मने वहाँ उपस्थित हुए महाभाग महर्षिका शास्त्रोक्त विधिसे पूजन किया ॥ १८ ॥

शिरसा चार्घ्यमादाय शुचिः प्रयतमानसः।
नाम संकीर्तयामास तस्मिन् ब्रह्मर्षिसत्तमे ॥ १९ ॥

उन्होंने पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर (पुलस्त्यजीके दिये हुए) अर्घ्यको सिरपर धारण करके उन ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको अपने नामका इस प्रकार परिचय दिया—॥ १९ ॥

भीष्मोऽहमस्मि भद्रं ते दासोऽस्मि तव सुव्रत।
तव संदर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्बिषैः ॥ २० ॥

'सुव्रत! आपका भला हो, मैं आपका दास भीष्म हूँ। आपके दर्शनमात्रसे मैं सब पापोंसे मुक्त हो गया' ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृतां वरः।
वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद् युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

महाराज युधिष्ठिर! धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ एवं वाणीको संयममें रखनेवाले भीष्म ऐसा कहकर हाथ जोड़े चुप हो गये ॥ २१ ॥

तं दृष्ट्वा नियमेनाथ स्वाध्यायाम्नायकर्शितम्।
भीष्मं कुरुकुलश्रेष्ठं मुनिः प्रीतमनाभवत् ॥ २२ ॥

कुरुकुलशिरोमणि भीष्मको नियम, स्वाध्याय तथा वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे दुर्बल हुआ देख पुलस्त्य मुनि मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पार्थनारदसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरनारदसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

भीष्मजीके पूछनेपर पुलस्त्यजीका उन्हें विभिन्न तीर्थोंकी यात्राका माहात्म्य बताना

पुलस्त्य उवाच

अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत ॥ १ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—धर्मज्ञ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महाभाग! तुम्हारे इस विनय, इन्द्रियसंयम और सत्यपालनसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥ १ ॥

यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याश्रितोऽनघ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २ ॥

निष्पाप वत्स! तुम्हारेद्वारा पितृभक्तिके आश्रित जो ऐसे उत्तम धर्मका पालन हो रहा है, इसीके प्रभावसे तुम मेरा दर्शन कर रहे हो और तुमपर मेरा बहुत प्रेम हो गया है २

अमोघदर्शी भीष्माहं ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दातास्मि तेऽनघ ॥ ३ ॥

निष्पाप कुरुश्रेष्ठ भीष्म! मेरा दर्शन अमोघ है। बोलो, मैं तुम्हारे किस मनोरथकी पूर्ति करूँ? तुम जो माँगोगे, वही दूँगा ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान् प्रभुम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—महाभाग! आप सम्पूर्ण लोकोंद्वारा पूजित हैं। आपके प्रसन्न हो जानेपर मुझे क्या नहीं मिला? आप-जैसे शक्तिशाली महर्षिका मुझे दर्शन हुआ, इतनेहीसे मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूँ ॥ ४ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर।
संदेहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं छेत्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षे! यदि मैं आपकी कृपाका पात्र हूँ तो मैं आपके सामने अपना संशय रखता हूँ। आप उसका निवारण करें ॥ ५ ॥

अस्ति मे हृदये कश्चित् तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

मेरे मनमें तीर्थोंसे होनेवाले धर्मके विषयमें कुछ संशय हो गया है, मैं उसीका समाधान सुनना चाहता हूँ; आप बतानेकी कृपा करें ॥ ६ ॥

प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसंनिभ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ७ ॥

देवतुल्य ब्रह्मर्षे! जो (तीर्थोंके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है? यह निश्चित करके मुझे बताइये ॥ ७ ॥

पुलस्त्य उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम्।
तदेकाग्रमनाः पुत्र शृणु तीर्थेषु यत् फलम् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—वत्स ! तीर्थयात्रा ऋषियोंके लिये बहुत बड़ा आश्रय है। मैं इसके विषयमें तुम्हें बताऊँगा। तीर्थोंके सेवनसे जो फल होता है, उसे एकाग्र होकर सुनो ॥ ८ ॥

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ९ ॥

जिसके हाथ, पैर और मन अपने काबूमें हों तथा जो विद्या, तप और कीर्तिसे सम्पन्न हो, वही तीर्थसेवनका फल पाता है ॥ ९ ॥

प्रतिग्रहादपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित्।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १० ॥

जो प्रतिग्रहसे दूर रहे तथा जो कुछ अपने पास हो, उसीसे संतुष्ट रहे और जिसमें अहंकारका अभाव हो, वही तीर्थका फल पाता है ॥ १० ॥

अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ११ ॥

जो दम्भ आदि दोषोंसे दूर, कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, वह सब पापोंसे विमुक्त हो तीर्थके वास्तविक फलका भागी होता है ॥ ११ ॥

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥ १२ ॥

राजन् ! जिसमें क्रोध न हो, जो सत्यवादी और दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला हो तथा जो सब प्राणियोंके प्रति आत्मभाव रखता हो, वही तीर्थके फलका भागी होता है ॥ १२ ॥

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम्।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १३ ॥

ऋषियोंने देवताओंके उद्देश्यसे यथायोग्य यज्ञ बताये हैं और उन यज्ञोंका यथावत् फल भी बताया है, जो इहलोक और परलोकमें भी सर्वथा प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥ १४ ॥

परंतु भूपाल ! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं कर सकते; क्योंकि उनमें बहुत-सी सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है। नाना प्रकारके साधनोंका संग्रह होनेसे उनमें विस्तार बहुत बढ़ जाता है ॥ १४ ॥

प्राप्यन्ते पार्थिवैरेते समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥ १५ ॥

अतः राजालोग अथवा कहीं-कहीं कुछ समृद्धिशाली मनुष्य ही यज्ञोंका अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनके पास धनकी कमी और सहायकोंका अभाव है, जो अकेले और साधनशून्य हैं, उनके द्वारा यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ॥ १६ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! जो सत्कर्म दरिद्रलोग भी कर सकें और जो अपने पुण्योंद्वारा यज्ञोंके समान फलप्रद हो सके, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १६ ॥

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह ऋषियोंका परम गोपनीय रहस्य है। तीर्थयात्रा बड़ा पवित्र सत्कर्म है। वह यज्ञोंसे भी बढ़कर है ॥ १७ ॥

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥ १८ ॥

मनुष्य इसीलिये दरिद्र होता है कि वह (तीर्थोंमें) तीन राततक उपवास नहीं करता, तीर्थोंकी यात्रा नहीं करता और सुवर्ण-दान और गोदान नहीं करता ॥ १८ ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥ १९ ॥

मनुष्य तीर्थयात्रासे जिस फलको पाता है, उसे प्रचुर दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा यजन करके भी नहीं पा सकता ॥ १९ ॥

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥ २० ॥

मनुष्यलोकमें देवाधिदेव ब्रह्माजीका त्रिलोकविख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नामसे प्रसिद्ध है। उसमें कोई बड़भागी मनुष्य ही प्रवेश कर पाता है ॥ २० ॥

दश कोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते।
सांनिध्यं पुष्करे येषां त्रिसंध्यं कुरुनन्दन ॥ २१ ॥

महामते कुरुनन्दन ! पुष्करमें तीनों समय दस सहस्र कोटि (दस खरब) तीर्थोंका निवास रहता है ॥ २१ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं संनिहिता विभो ॥ २२ ॥

विभो ! वहाँ आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, गन्धर्व और अप्सराओंकी भी नित्य संनिधि रहती है ॥ २२ ॥

यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महतान्विताः ॥ २३ ॥

महाराज ! वहाँ तप करके देवता, दैत्य और ब्रह्मर्षि महान् पुण्यसे सम्पन्न हो दिव्य योगसे युक्त होते हैं ॥ २३ ॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ २४ ॥

जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्कर तीर्थमें जानेकी इच्छा करता है, उसके स्वर्गके प्रतिबन्धक सारे पाप मिट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ २४ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः ॥२५॥

महाराज ! उस तीर्थमें कमलासन भगवान् ब्रह्माजी नित्य ही बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं ॥२५॥
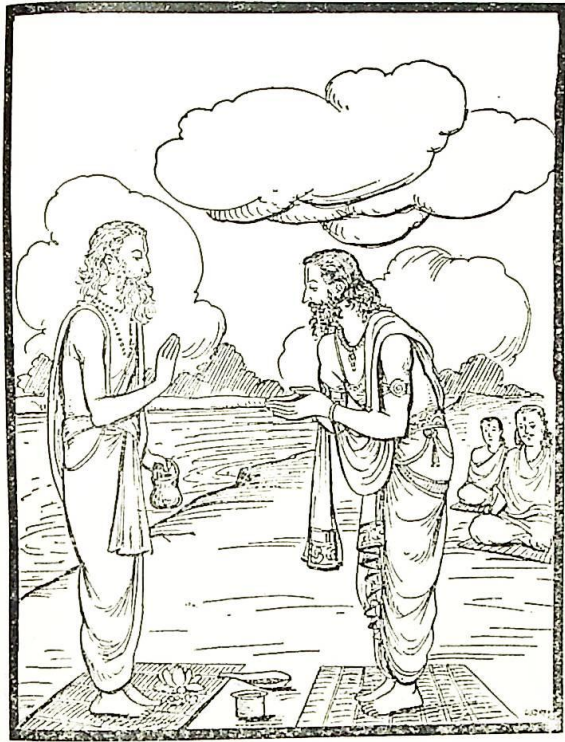
पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ॥२६॥

महाभाग ! पुष्करमें पहले देवता तथा ऋषि महान् पुण्यसे सम्पन्न हो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं ॥ २६ ॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद् दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥२७॥

जो वहाँ स्नान करता तथा देवताओं और पितरोंकी पूजामें संलग्न रहता है, उस पुरुषको अश्वमेधसे दस गुना फल प्राप्त होता है; ऐसा मनीषीगण कहते हैं ॥ २७ ॥

अप्येकं भोजयेद् विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनासौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥२८॥

भीष्म ! पुष्करमें जाकर कमसे कम एक ब्राह्मणको अवश्य भोजन कराये । उस पुण्यकर्मसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ २८ ॥

शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम् ।
तद् वै दद्याद् ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ॥२९॥

मनुष्य साग, फल तथा मूल जिसके द्वारा स्वयं प्राणयात्राका निर्वाह करता है, वही श्रद्धाभावसे दूसरोंके दोष न देखते हुए ब्राह्मणको दान करे ॥ २९ ॥

तेनैव प्राप्नुयात् प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम ॥३०॥
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ।

उसीसे विद्वान् पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता है । नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र जो कोई भी महात्मा ब्रह्माजीके तीर्थमें स्नान कर लेते हैं, वे फिर किसी योनिमें जन्म नहीं लेते हैं ॥ ३०½ ॥

कार्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम् ॥३१॥
प्राप्नुयात् स नरो लोकान् ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ।

विशेषतः कार्तिकमासकी पूर्णिमाको जो पुष्करतीर्थमें स्नानके लिये जाता है, वह मनुष्य ब्रह्मधाममें अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ३१½ ॥

सायं प्रातः स्मरेद् यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ॥३२॥
उपस्पृष्टं भवेत् तेन सर्वतीर्थेषु भारत ।

भारत ! जो सायंकाल और प्रातःकाल हाथ जोड़कर तीनों पुष्करोंका स्मरण करता है, उसने मानो सब तीर्थोंमें स्नान एवं आचमन कर लिया ॥ ३२½ ॥

जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥३३॥
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ।

स्त्री अथवा पुरुषने जन्मसे लेकर वर्तमान अवस्थातक जितने भी पाप किये हैं, पुष्करतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३½ ॥

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ॥३४॥
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ।

राजन् ! जैसे भगवान् मधुसूदन (विष्णु) सब देवताओंके आदि हैं, वैसे ही पुष्कर सब तीर्थोंका आदि कहा जाता है ॥

उष्ट्वा द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ॥३५॥
क्रतून् सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ।

पुष्करमें पवित्रतापूर्वक संयम-नियमके साथ बारह वर्षोंतक निवास करके मानव सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाता और ब्रह्मलोकको जाता है ॥ ३५½ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ॥३६॥
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ॥३७॥

जो पूरे सौ वर्षोंतक अग्निहोत्र करता है और जो कार्तिककी एक ही पूर्णिमाको पुष्करमें वास करता है, दोनोंका फल बराबर है ॥ ३६-३७ ॥

त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ॥३८॥

तीन शुभ्र पर्वतशिखर, तीन सोते और तीन पुष्कर—ये आदिसिद्ध तीर्थ हैं। ये कब किस कारणसे तीर्थ माने गये ? इसका हमें पता नहीं है ॥ ३८ ॥

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ॥३९॥

पुष्करमें जाना अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें तप अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें दान देनेका सुयोग तो और भी दुर्लभ है और उसमें निवासका सौभाग्य तो अत्यन्त ही दुष्कर है ॥ ३९॥

उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत् ॥४०॥

वहाँ इन्द्रियसंयम और नियमित आहार करते हुए बारह रात रहकर तीर्थकी परिक्रमा करनेके पश्चात् जम्बूमार्गको जाय ॥ ४० ॥

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ॥४१॥

जम्बूमार्ग देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे सेवित तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न हो अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ४१ ॥

तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ॥४२॥

वहाँ पाँच रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उसे कभी दुर्गति नहीं प्राप्त होती, वह उत्तम सिद्धि पा लेता है ॥ ४२ ॥

जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत् तन्दुलिकाश्रमम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥४३॥

जम्बूमार्गसे लौटकर मनुष्य तन्दुलिकाश्रमको जाय। इससे वह दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अन्तमें ब्रह्मलोकको चला जाता है ॥ ४३ ॥

आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥४४॥

राजन् ! जो अगस्त्यसरोवर जाकर देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर हो तीन रात उपवास करता है, वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ४४ ॥

शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम्।
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम् ॥४५॥

जो शाकाहार या फलाहार करके वहाँ रहता है, वह परम उत्तम कुमारलोक (कार्तिकेयके लोक) में जाता है। वहाँसे लोकपूजित कण्वके आश्रममें जाय, जो भगवती लक्ष्मीके द्वारा सेवित है ॥ ४५ ॥

धर्मारण्यं हि तत् पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४६॥

भरतश्रेष्ठ ! वह धर्मारण्य कहलाता है, उसे परम पवित्र एवं आदितीर्थ माना गया है। उसमें प्रवेश करनेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ४६ ॥

अर्चयित्वा पितॄन् देवान् नियतो नियताशनः।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥४७॥

जो वहाँ नियमपूर्वक मिताहारी होकर देवता और पितरोंकी पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न यज्ञका फल पाता है ॥ ४७ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत्।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ॥४८॥

तदनन्तर उस तीर्थकी परिक्रमा करके वहाँसे ययातिपतन नामक तीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे यात्रीको अवश्य ही अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ४८ ॥

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥४९॥

वहाँसे महाकालतीर्थको जाय। वहाँ नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। वहाँ कोटितीर्थमें आचमन (एवं स्नान) करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥५०॥

वहाँसे धर्मज्ञ पुरुष उमावल्लभ भगवान् स्थाणु (शिव) के उस तीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें 'भद्रवट'के नामसे प्रसिद्ध है ॥ ५० ॥

तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत्।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति ॥५१॥
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः।

वहाँ भगवान् शिवका निकटसे दर्शन करके नरश्रेष्ठ यात्री एक हजार गोदानका फल पाता है और महादेवजीके प्रसादसे वह गणोंका आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, जो आधिपत्य भारी समृद्धि और लक्ष्मीसे सम्पन्न तथा शत्रुजनित बाधासे रहित होता है ॥ ५१½ ॥

नर्मदां तु समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ॥५२॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत्।

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात नर्मदा नदीके तटपर जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५२½ ॥

दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥५३॥
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति।

इन्द्रियोंको काबूमें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए दक्षिण समुद्रकी यात्रा करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल और विमानपर बैठनेका सौभाग्य पाता है ॥ ५३½ ॥

चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥५४॥

इन्द्रियसंयम या शौच-संतोष आदिके पालनपूर्वक नियमित आहारका सेवन करते हुए चर्मण्वती (चंबल) नदीमें स्नान आदि करनेसे राजा रन्तिदेवद्वारा अनुमोदित अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद् युधिष्ठिर ॥५५॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! वहाँसे आगे हिमालयपुत्र अर्बुद (आबू) की यात्रा करे, जहाँ पहले पृथ्वीमें विवर था ॥५५॥

तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥५६॥

वहाँ महर्षि वसिष्ठका त्रिलोकविख्यात आश्रम है, जिसमें एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥

पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ॥५७॥

नरश्रेष्ठ ! पिङ्गतीर्थमें स्नान एवं आचमन करके ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय मनुष्य सौ कपिलाओंके दानका फल प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ॥५८॥
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर उत्तम प्रभासतीर्थमें जाय । वीर ! उस तीर्थमें देवताओंके मुखस्वरूप भगवान् अग्निदेव, जिनके सारथि वायु हैं, सदा निवास करते हैं ॥ ५८½ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥५९॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ।

उस तीर्थमें स्नान करके शुद्ध एवं संयत चित्त हो मानव अतिरात्र और अग्निष्टोम यज्ञोंका फल पाता है ॥ ५९½ ॥

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ॥६०॥
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति ।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद् भरतर्षभ ॥६१॥

तदनन्तर सरस्वती और समुद्रके संगममें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल और स्वर्गलोक पाता है । भरतश्रेष्ठ ! वह पुण्यात्मा पुरुष अपने तेजसे सदा अग्निकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ ६०-६१ ॥

तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत् पितृदेवताः ॥६२॥

मनुष्य शुद्धचित्त हो जलोंके स्वामी वरुणके तीर्थ (समुद्र) में स्नान करके वहाँ तीन रात रहे और प्रतिदिन नहाकर देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ॥ ६२ ॥

प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति ।
वरदानं ततो गच्छेत् तीर्थं भरतसत्तम ॥६३॥

ऐसा करनेवाला यात्री चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है । साथ ही उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है । भरतश्रेष्ठ ! वहाँसे वरदानतीर्थमें जाय ॥ ६३ ॥

विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥६४॥

युधिष्ठिर ! यह वह स्थान है, जहाँ मुनिवर दुर्वासाने श्रीकृष्णको वरदान दिया था । वरदानतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ६४ ॥

ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम् ॥ ६५ ॥

वहाँसे तीर्थयात्रीको द्वारका जाना चाहिये । वह नियमसे रहे और नियमित भोजन करे । पिण्डारकतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अधिकाधिक सुवर्णकी प्राप्ति होती है ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिंदम ॥ ६६ ॥

महाभाग ! उस तीर्थमें आज भी कमलके चिह्नोंसे चिह्नित सुवर्णमुद्राएँ देखी जाती हैं । शत्रुदमन ! यह एक अद्भुत बात है ॥ ६६ ॥

त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सांनिध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ॥ ६७ ॥

पुरुषरत्न कुरुनन्दन ! जहाँ त्रिशूलसे अङ्कित कमल दृष्टिगोचर होते हैं । वहीं महादेवजीका निवास है ॥ ६७ ॥

सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥ ६८ ॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ६९ ॥

भारत ! सागर और सिंधु नदीके संगममें जाकर वरुण-तीर्थमें स्नान करके शुद्धचित्त हो देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण करे । भरतकुलतिलक ! ऐसा करनेसे मनुष्य दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान वरुणलोकको प्राप्त होता है ॥

शङ्कुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर ।
अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर ! वहाँ शङ्कुकर्णेश्वर शिवकी पूजा करनेसे मनीषी पुरुष अश्वमेधसे दस गुने पुण्यफलकी प्राप्ति बताते हैं ॥

---

१. यद्यपि यहाँ पुलस्त्यजी भीष्मजीको यह प्रसंग सुना रहे हैं, तथापि इस संवादको नारदजीने युधिष्ठिरके समक्ष उपस्थित किया है; अतः नारदजी युधिष्ठिरको सम्बोधित करें, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

तीन शुभ्र पर्वतशिखर, तीन सोते और तीन पुष्कर—ये आदिसिद्ध तीर्थ हैं। ये कब किस कारणसे तीर्थ माने गये? इसका हमें पता नहीं है ॥ ३८ ॥

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ॥३९॥

पुष्करमें जाना अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें तप अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें दान देनेका सुयोग तो और भी दुर्लभ है और उसमें निवासका सौभाग्य तो अत्यन्त ही दुष्कर है ॥ ३९॥

उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत् ॥४०॥

वहाँ इन्द्रियसंयम और नियमित आहार करते हुए बारह रात रहकर तीर्थकी परिक्रमा करनेके पश्चात् जम्बूमार्गको जाय ॥ ४० ॥

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ॥४१॥

जम्बूमार्ग देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे सेवित तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न हो अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ४१ ॥

तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ॥४२॥

वहाँ पाँच रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उसे कभी दुर्गति नहीं प्राप्त होती, वह उत्तम सिद्धि पा लेता है ॥ ४२ ॥

जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत् तन्दुलिकाश्रमम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥४३॥

जम्बूमार्गसे लौटकर मनुष्य तन्दुलिकाश्रमको जाय। इससे वह दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अन्तमें ब्रह्मलोकको चला जाता है ॥ ४३ ॥

आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥४४॥

राजन्! जो अगस्त्यसरोवर जाकर देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर हो तीन रात उपवास करता है, वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ४४ ॥

शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम्।
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम् ॥४५॥

जो शाकाहार या फलाहार करके वहाँ रहता है, वह परम उत्तम कुमारलोक (कार्तिकेयके लोक) में जाता है। वहाँसे लोकपूजित कण्वके आश्रममें जाय, जो भगवती लक्ष्मीके द्वारा सेवित है ॥ ४५ ॥

धर्मारण्यं हि तत् पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४६॥

भरतश्रेष्ठ! वह धर्मारण्य कहलाता है, उसे परम पवित्र एवं आदितीर्थ माना गया है। उसमें प्रवेश करनेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ४६ ॥

अर्चयित्वा पितॄन् देवान् नियतो नियताशनः।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥४७॥

जो वहाँ नियमपूर्वक मिताहारी होकर देवता और पितरोंकी पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न यज्ञका फल पाता है ॥ ४७ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत्।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ॥४८॥

तदनन्तर उस तीर्थकी परिक्रमा करके वहाँसे ययातिपतन नामक तीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे यात्रीको अवश्य ही अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ४८ ॥

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥४९॥

वहाँसे महाकालतीर्थको जाय। वहाँ नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। वहाँ कोटितीर्थमें आचमन (एवं स्नान) करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥५०॥

वहाँसे धर्मज्ञ पुरुष उमावल्लभ भगवान् स्थाणु (शिव) के उस तीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें 'भद्रवट'के नामसे प्रसिद्ध है ॥ ५० ॥

तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत्।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति ॥५१॥
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः।

वहाँ भगवान् शिवका निकटसे दर्शन करके नरश्रेष्ठ यात्री एक हजार गोदानका फल पाता है और महादेवजीके प्रसादसे वह गणोंका आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, जो आधिपत्य भारी समृद्धि और लक्ष्मीसे सम्पन्न तथा शत्रुजनित बाधासे रहित होता है ॥ ५१½ ॥

नर्मदां तु समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ॥५२॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत्।

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात नर्मदा नदीके तटपर जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५२½ ॥

दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥५३॥
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति।

इन्द्रियोंको काबूमें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए दक्षिण समुद्रकी यात्रा करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल और विमानपर बैठनेका सौभाग्य पाता है ॥ ५३½ ॥

चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥५४॥

इन्द्रियसंयम या शौच-संतोष आदिके पालनपूर्वक नियमित आहारका सेवन करते हुए चर्मण्वती (चंबल) नदीमें स्नान आदि करनेसे राजा रन्तिदेवद्वारा अनुमोदित अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद् युधिष्ठिर ॥५५॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! वहाँसे आगे हिमालयपुत्र अर्बुद (आबू) की यात्रा करे, जहाँ पहले पृथ्वीमें विवर था ॥५५॥

तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥५६॥

वहाँ महर्षि वसिष्ठका त्रिलोकविख्यात आश्रम है, जिसमें एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥

पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ॥५७॥

नरश्रेष्ठ ! पिङ्गतीर्थमें स्नान एवं आचमन करके ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय मनुष्य सौ कपिलाओंके दानका फल प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ॥५८॥
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर उत्तम प्रभासतीर्थमें जाय । वीर ! उस तीर्थमें देवताओंके मुखस्वरूप भगवान् अग्निदेव, जिनके सारथि वायु हैं, सदा निवास करते हैं ॥ ५८½ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥५९॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ।

उस तीर्थमें स्नान करके शुद्ध एवं संयत चित्त हो मानव अतिरात्र और अग्निष्टोम यज्ञोंका फल पाता है ॥ ५९½ ॥

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ॥६०॥
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति ।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद् भरतर्षभ ॥६१॥

तदनन्तर सरस्वती और समुद्रके संगममें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल और स्वर्गलोक पाता है । भरतश्रेष्ठ ! वह पुण्यात्मा पुरुष अपने तेजसे सदा अग्निकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ ६०-६१ ॥

तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत् पितृदेवताः ॥६२॥

मनुष्य शुद्धचित्त हो जलोंके स्वामी वरुणके तीर्थ (समुद्र) में स्नान करके वहाँ तीन रात रहे और प्रतिदिन नहाकर देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ॥ ६२ ॥

प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति ।
वरदानं ततो गच्छेत् तीर्थं भरतसत्तम ॥६३॥

ऐसा करनेवाला यात्री चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है । साथ ही उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है । भरतश्रेष्ठ ! वहाँसे वरदानतीर्थमें जाय ॥ ६३ ॥

विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥६४॥

युधिष्ठिर ! यह वह स्थान है, जहाँ मुनिवर दुर्वासाने श्रीकृष्णको वरदान दिया था । वरदानतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ६४ ॥

ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम् ॥ ६५ ॥

वहाँसे तीर्थयात्रीको द्वारका जाना चाहिये । वह नियमसे रहे और नियमित भोजन करे । पिण्डारकतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अधिकाधिक सुवर्णकी प्राप्ति होती है ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिंदम ॥ ६६ ॥

महाभाग ! उस तीर्थमें आज भी कमलके चिह्नोंसे चिह्नित सुवर्णमुद्राएँ देखी जाती हैं । शत्रुदमन ! यह एक अद्भुत बात है ॥ ६६ ॥

त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सांनिध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ॥ ६७ ॥

पुरुषरत्न कुरुनन्दन ! जहाँ त्रिशूलसे अङ्कित कमल दृष्टिगोचर होते हैं । वहीं महादेवजीका निवास है ॥ ६७ ॥

सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥ ६८ ॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ६९ ॥

भारत ! सागर और सिंधु नदीके संगममें जाकर वरुण-तीर्थमें स्नान करके शुद्धचित्त हो देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण करे । भरतकुलतिलक ! ऐसा करनेसे मनुष्य दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान वरुणलोकको प्राप्त होता है ॥

शङ्कुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर ।
अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर ! वहाँ शङ्कुकर्णेश्वर शिवकी पूजा करनेसे मनीषी पुरुष अश्वमेधसे दस गुने पुण्यफलकी प्राप्ति बताते हैं ॥

१. यद्यपि यहाँ पुलस्त्यजी भीष्मजीको यह प्रसंग सुना रहे हैं, तथापि इस संवादको नारदजीने युधिष्ठिरके समक्ष उपस्थित किया है; अतः नारदजी युधिष्ठिरको सम्बोधित करें, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ७१ ॥
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम् ॥ ७२ ॥

भरतवंशावतंस कुरुश्रेष्ठ ! उनकी परिक्रमा करके त्रिभुवन-विख्यात 'दमी' नामक तीर्थमें जाय, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ ब्रह्मा आदि देवता भगवान् महेश्वर-की उपासना करते हैं ॥ ७१-७२ ॥

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम् ।
जन्मप्रभृति यत् पापं तत् स्नातस्य प्रणश्यति ॥ ७३ ॥

वहाँ स्नान, जलपान और देवताओंसे घिरे हुए रुद्रदेवका दर्शन-पूजन करनेसे स्नानकर्ता पुरुषके जन्मसे लेकर वर्तमान समयतकके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

दमी चात्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥

नरश्रेष्ठ ! भगवान् दमीका सभी देवता स्तवन करते हैं। पुरुषसिंह ! वहाँ स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञके फलकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

गत्वा यत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना ।
पुरा शौचं कृतं राजन् हत्वा दैतेयदानवान् ॥ ७५ ॥

महाप्राज्ञ नरेश ! सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने पहले दैत्यों-दानवोंका वध करके दमी तीर्थमें जाकर (लोकसंग्रहके लिये) शुद्धि की थी ॥ ७५ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम् ।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत् ॥ ७६ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे वसुधारातीर्थमें जाय, जो सबके द्वारा प्रशंसित है । वहाँ जानेमात्रसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ७६ ॥

स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः ।
तर्प्य देवान् पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ॥ ७७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करके शुद्ध और समाहितचित्त होकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य विष्णु-लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ७७ ॥

तीर्थं चात्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां सम्मतो भवेत् ॥ ७८ ॥
सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद् बहु सुवर्णकम् ॥ ७९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें वसुओंका पवित्र सरोवर है। उसमें स्नान और जलपान करनेसे मनुष्य वसु देवताओंका प्रिय होता है। नरश्रेष्ठ ! वहीं सिन्धूत्तम नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। उसमें स्नान करनेसे प्रचुर स्वर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ ७८-७९ ॥

भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ८० ॥

भद्रतुङ्गतीर्थमें जाकर पवित्र एवं सुशील पुरुष ब्रह्म-लोकमें जाता और वहाँ उत्तम गति पाता है ॥ ८० ॥

कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ ८१ ॥

शक्रकुमारिका-तीर्थ सिद्ध पुरुषोंद्वारा सेवित है। वहाँ स्नान करके मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥

रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद् विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा ॥ ८२ ॥

वहीं सिद्धसेवित रेणुकातीर्थ है, जिसमें स्नान करके ब्राह्मण चन्द्रमाके समान निर्मल होता है ॥ ८२ ॥

अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः ॥ ८३ ॥

तदनन्तर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन और नियमित भोजन करते हुए पञ्चनद तीर्थमें जाकर मनुष्य पञ्चमहायज्ञोंका फल पाता है जो कि शास्त्रोंमें क्रमशः बतलाये गये हैं ॥ ८३ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ॥ ८४ ॥
देव्याः पुत्रो भवेद् राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८५ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे भीमाके उत्तम स्थानकी यात्रा करे ! भरतश्रेष्ठ ! वहाँ योनितीर्थमें स्नान करके मनुष्य देवीका पुत्र होता है । उसकी अङ्गकान्ति तपाये हुए सुवर्णकुण्डलके समान होती है। राजन् ! उस तीर्थके सेवनसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ८४-८५ ॥

श्रीकुण्डं तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ८६ ॥

त्रिभुवनविख्यात श्रीकुण्डमें जाकर ब्रह्माजीको नमस्कार करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम् ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ॥ ८७ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे परम उत्तम विमलतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ आज भी सोने और चाँदीके रंगकी मछलियाँ दिखायी देती हैं ॥ ८७ ॥

तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

उसमें स्नान करनेसे मनुष्य शीघ्र ही इन्द्रलोकको प्राप्त होता है और सब पापोंसे शुद्ध हो परमगति प्राप्त कर लेता है ॥ ८८ ॥

वितस्तां च समासाद्य संतर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ॥ ८९ ॥

भारत ! वितस्तातीर्थ (झेलम) में जाकर वहाँ देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यको वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च ।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ९० ॥

काश्मीरमें ही नागराज तक्षकका वितस्ता नामसे प्रसिद्ध भवन है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ९० ॥

तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ॥ ९१ ॥

वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य निश्चय ही वाजपेययज्ञका फल प्राप्त करता है और सब पापोंसे शुद्ध हो उत्तम गतिका भागी होता है ॥ ९१ ॥

ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायां तु संध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि ॥ ९२ ॥
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितॄणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ९३ ॥

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात वडवातीर्थको जाय । वहाँ पश्चिम संध्याके समय विधिपूर्वक स्नान और आचमन करके अग्निदेवको यथाशक्ति चरु निवेदन करे । वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ९२-९३ ॥

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः ॥ ९४ ॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप ।
नियतः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम् ॥ ९५ ॥
विष्णोः प्रसादनं कुर्वंश्चरुं च श्रपयंस्तथा ।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम् ॥ ९६ ॥

राजन् ! वहाँ देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, गुह्यक, किन्नर, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य, राक्षस, दैत्य, रुद्र और ब्रह्मा—इन सबने नियमपूर्वक सहस्र वर्षोंके लिये उत्तम दीक्षा ग्रहण करके भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये चरु अर्पण किया । ऋग्वेदके सात-सात मन्त्रोंद्वारा सबने चरुकी सात-सात आहुतियाँ दीं और भगवान् केशवको प्रसन्न किया ॥ ९४–९६ ॥

ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः ।
यथाभिलषितानन्यान् कामान् दत्त्वा महीपते ॥ ९७ ॥
तत्रैवान्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा ।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ॥ ९८ ॥
गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान् सप्तार्चिषे चरुः ॥ ९९ ॥
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रुद्रं पदमथाविशेत् ।
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १०० ॥

उनपर प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अष्टगुण-ऐश्वर्य अर्थात् अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान कीं । महाराज ! तत्पश्चात् उनकी इच्छाके अनुसार अन्यान्य वर देकर भगवान् केशव वहाँसे उसी प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे मेघोंकी घटामें बिजली तिरोहित हो जाती है । भारत ! इसीलिये वह तीर्थ तीनों लोकोंमें सप्तचरुके नामसे विख्यात है । वहाँ अग्निके लिये दिया हुआ चरु एक लाख गोदान, सौ राजसूय यज्ञ और सहस्र अश्वमेधयज्ञसे भी अधिक कल्याणकारी है । राजेन्द्र ! वहाँसे लौटकर रुद्रपद नामक तीर्थमें जाय । वहाँ महादेवजीकी पूजा करके तीर्थयात्री पुरुष अश्वमेधका फल पाता है ॥ ९७–१०० ॥

मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १०१ ॥

राजन् ! एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक मणिमान् तीर्थमें जाय और वहाँ एक रात निवास करे । इससे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १०१ ॥

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥ १०२ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! राजेन्द्र ! वहाँसे लोकविख्यात देविकातीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है ॥ १०२ ॥

त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ॥ १०३ ॥
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १०४ ॥

वहाँ त्रिशूलपाणि भगवान् शिवका स्थान है, जिसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है । देविकामें स्नान करके भगवान् महेश्वरका पूजन और उन्हें यथाशक्ति चरु निवेदन करके सम्पूर्ण कामनाओंसे समृद्ध यज्ञके फलकी प्राप्ति होती है । १०३–१०४ ।

कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति भारत ॥ १०५ ॥

वहाँ भगवान् शङ्करका देवसेवित कामतीर्थ है । भारत ! उसमें स्नान करके मनुष्य शीघ्र मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १०५ ॥

यजनं याजनं चैव तथैव ब्रह्म वालुकाम् ।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ॥ १०६ ॥

वहाँ यजन, याजन तथा वेदोंका स्वाध्याय करके अथवा वहाँकी बालू, पुष्प एवं जलका स्पर्श करके मृत्युको प्राप्त हुआ पुरुष शोकसे पार हो जाता है ॥ १०६ ॥

अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती वेदिका तु पुण्या देवर्षिसेविता ॥१०७॥

वहाँ पाँच योजन लंबी और आधा योजन चौड़ी पवित्र वेदिका है, जिसका देवता तथा ऋषि-मुनि भी सेवन करते हैं ॥ १०७ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥१०८॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे क्रमशः 'दीर्घसत्र' नामक तीर्थमें जाय । वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और महर्षि रहते हैं ॥ १०८ ॥

दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः ॥१०९॥

वे नियमपूर्वक व्रतका पालन करते हुए दीक्षा लेकर दीर्घसत्रकी उपासना करते हैं ॥ १०९ ॥

गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिंदम ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥११०॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले भरतवंशी राजेन्द्र ! वहाँकी यात्रा करने मात्रसे मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंके समान फल पाता है ॥ ११० ॥

ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ॥१११॥

तदनन्तर शौच-संतोषादि नियमोंका पालन और नियमित आहार ग्रहण करते हुए विनशनतीर्थमें जाय, जहाँ मेरु-पृष्ठपर रहनेवाली सरस्वती अदृश्य भावसे बहती है ॥ १११ ॥

चमसेऽथ शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ।
स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥११२॥

वहाँ चमसोद्भेद, शिवोद्भेद और नागोद्भेद तीर्थमें सरस्वतीका दर्शन होता है । चमसोद्भेदमें स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥

शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ॥११३॥

शिवोद्भेदमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । नागोद्भेदतीर्थमें स्नान करनेसे उसे नागलोककी प्राप्ति होती है ॥ ११३ ॥

शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।
शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत ॥११४॥
सरस्वत्यां महाराज अनुसंवत्सरं च ते ।
दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्तिकीं सदा ॥११५॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत् सदा ।
गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद् भरतर्षभ ॥११६॥

राजेन्द्र ! शशयान नामक तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है । उसमें जाकर स्नान करे । महाराज भारत ! वहाँ सरस्वती नदीमें प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमाको शश (खरगोश) के रूपमें छिपे हुए पुष्कर तीर्थ देखे जाते हैं । भरतश्रेष्ठ ! नरव्याघ्र ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सदा चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है । भरतकुलतिलक ! उसे सहस्र गोदानका फल भी मिलता है ॥ ११४–११६ ॥

कुमारकोटिमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥११७॥

कुरुनन्दन ! वहाँसे कुमारकोटि तीर्थमें जाकर वहाँ नियमपूर्वक स्नान करे और देवता तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहे ॥ ११७ ॥

गवामयुतमाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ॥११८॥
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता ।
हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकाङ्क्षया ॥११९॥
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ।
एवं सम्प्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ॥१२०॥

ऐसा करनेसे मनुष्य दस हजार गोदानका फल पाता है और अपने कुलका उद्धार कर देता है । धर्मज्ञ ! वहाँसे एकाग्रचित्त हो रुद्रकोटितीर्थमें जाय । महाराज ! रुद्रकोटि वह स्थान है, जहाँ पूर्वकालमें एक करोड़ मुनि बड़े हर्षमें भरकर भगवान् रुद्रके दर्शनकी अभिलाषासे आये थे । भारत ! 'भगवान् वृषभध्वजका दर्शन पहले मैं करूँगा, मैं करूँगा' ऐसा संकल्प करके वे महर्षि वहाँके लिये प्रस्थित हुए थे ॥ ११८–१२० ॥

ततो योगेश्वरेणापि योगमास्थाय भूपते ।
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ॥१२१॥
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता ।
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ॥१२२॥
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम् ।
भक्त्या परमया राजन् वरं तेषां प्रदिष्टवान् ॥१२३॥

राजन् ! तब योगेश्वर भगवान् शिवने भी योगका आश्रय ले, उन शुद्धात्मा महर्षियोंके शोककी शान्तिके लिये करोड़ों शिवलिङ्गोंकी सृष्टि कर दी, जो उन सभी ऋषियोंके आगे उपस्थित थे; इससे उन सबने अलग-अलग भगवान्‌का दर्शन किया है । राजन् ! उन शुद्धचेता मुनियोंकी उत्तम भक्तिसे संतुष्ट हो महादेवजीने उन्हें वर दिया ॥ १२१-१२३ ॥

अद्यप्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः ॥१२४॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

महर्षियो ! आजसे तुम्हारे धर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी। नरश्रेष्ठ ! उस रुद्रकोटिमें स्नान करके शुद्ध हुआ मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १२४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र संगमं लोकविश्रुतम् ॥१२५॥
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१२६॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम पुण्यमय लोकविख्यात सरस्वती-संगम तीर्थमें जाय, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता और तपस्याके धनी महर्षि भगवान् केशवकी उपासना करते हैं ॥ १२५-१२६ ॥

अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१२७॥

राजेन्द्र ! वहाँ लोग चैत्र शुक्ला चतुर्दशीको विशेषरूपसे जाते हैं। पुरुषसिंह ! वहाँ स्नान करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है और सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर मनुष्य ब्रह्मलोकको जाता है ॥ १२७ ॥

ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप ।
तत्रावसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१२८॥

नरेश्वर ! जहाँ ऋषियोंके सत्र समाप्त हुए हैं, वहाँ अवसान तीर्थमें जाकर मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥१२८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकथिततीर्थयात्राविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रकी सीमामें स्थित अनेक तीर्थोंकी महत्ताका वर्णन

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर ऋषियोंद्वारा प्रशंसित कुरुक्षेत्रकी यात्रा करे, जिसके दर्शनमात्रसे सब जीव पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा।' इस प्रकार जो सदा कहा करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ३ ॥

वायुद्वारा उड़ाकर लायी हुई कुरुक्षेत्रकी धूल भी शरीरपर पड़ जाय, तो वह पापी मनुष्यको भी परमगतिकी प्राप्ति करा देती है ॥ ३ ॥

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ ४ ॥

जो सरस्वतीके दक्षिण और दृषद्वतीके उत्तर कुरुक्षेत्रमें वास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें ही रहते हैं ॥ ४ ॥

तत्र मासं वसेद् धीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥ ५ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ॥ ६ ॥

(नारदजी कहते हैं—) युधिष्ठिर ! वहाँ सरस्वतीके तटपर धीर पुरुष एक मासतक निवास करे; क्योंकि महाराज ! ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और नाग भी उस परम पुण्यमय ब्रह्मक्षेत्रको जाते हैं ॥

मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! जो मनसे भी कुरुक्षेत्रमें जानेकी इच्छा करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोकको जाता है ॥ ७ ॥

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।
फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! श्रद्धासे युक्त होकर कुरुक्षेत्रकी यात्रा करनेपर मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है ॥ ८ ॥

ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर, वहाँ मचक्रुक नामवाले द्वारपाल महाबली यक्षको नमस्कार करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल मिल जाता है ॥ ९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र संनिहितो हरिः ॥१०॥

धर्मज्ञ राजेन्द्र ! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुके परम उत्तम

सतत नामक तीर्थ-स्थानमें जाय, जहाँ श्रीहरि सदा निवास करते हैं ॥ १० ॥

तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥११॥
ततः पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥१२॥

वहाँ स्नान और त्रिलोकभावन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है । इसके बाद त्रिभुवन-विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय । भारत ! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल प्राप्त होता है ॥११-१२॥

पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः शाल्लूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥१३॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।
सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ॥१४॥
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ॥१५॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ॥१६॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ॥१७॥

महाराज ! वहाँसे पृथिवीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है । राजन् ! वहाँसे तीर्थसेवी मनुष्य शाल्लूकिनीमें जाकर दशाश्वमेधतीर्थमें स्नान करनेसे उसी फलका भागी होता है । सर्पदेवीमें जाकर उत्तम नागतीर्थका सेवन करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमका फल पाता और नागलोकमें जाता है । धर्मज्ञ ! वहाँसे तरन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय । वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है । वहाँसे नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए पञ्चनदतीर्थमें जाय और वहाँ कोटितीर्थमें स्नान करे । इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है । अश्विनीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य रूपवान् होता है ॥१३-१७॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ॥१८॥
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।

धर्मज्ञ ! वहाँसे परम उत्तम वाराहतीर्थको जाय, जहाँ भगवान् विष्णु पहले वाराहरूपसे स्थित हुए थे । नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १८½ ॥

ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ॥१९॥
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर जयन्तीमें सोमतीर्थके निकट जाय, वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य राजसूययज्ञका फल पाता है ॥ १९½ ॥

एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥२०॥
कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः ॥२१॥

एकहंसतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । नरेश्वर ! कृतशौचतीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य पुण्डरीकयागका फल पाता और शुद्ध हो जाता है ॥ २०-२१ ॥

ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः ।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥२२॥

तदनन्तर महात्मा स्थाणुके मुञ्जवट नामक स्थानमें जाय । वहाँ एक रात रहनेसे मानव गणपतिपद प्राप्त करता है ॥२२॥

तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम् ।
स्नात्वाभिगम्य राजेन्द्र सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।२३।

महाराज ! वहीं लोकविख्यात यक्षिणीतीर्थ है । राजेन्द्र ! उसमें जानेसे और स्नान करनेसे सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति होती है ॥ २३ ॥

कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ॥२४॥
सम्मितं पुष्कराणां च स्नात्वार्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत् सुमहात्मना ॥२५॥
कृतकृत्यो भवेद् राजन्नश्वमेधं च विन्दति ।

भरतश्रेष्ठ ! वह कुरुक्षेत्रका विख्यात द्वार है । उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मनुष्य एकाग्रचित्त हो पुष्करतीर्थके तुल्य उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करे । राजन् ! इससे तीर्थयात्री कृतकृत्य होता और अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त करता है । उत्तम श्रेणीके महात्मा जमदग्नि-नन्दन परशुरामने उस तीर्थका निर्माण किया है ॥२४-२५½॥

ततो रामह्रदान् गच्छेत् तीर्थसेवी समाहितः ॥२६॥

तदनन्तर तीर्थयात्री एकाग्रचित्त हो परशुरामकुण्डों-पर जाय ॥ २६ ॥

तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ॥२७॥

राजेन्द्र ! वहाँ उद्दीप्त तेजस्वी वीरवर परशुरामने सम्पूर्ण क्षत्रियकुलका वेगपूर्वक संहार करके पाँच कुण्ड स्थापित किये थे ॥ २७ ॥

पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम् ।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः ॥२८॥

पुरुषसिंह ! उन कुण्डोंको उन्होंने रक्तसे भर दिया था, ऐसा सुना जाता है । उसी रक्तसे परशुरामजीने अपने पितरों और प्रपितामहोंका तर्पण किया ॥ २८ ॥

ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप ।

राजन्! तब वे पितर अत्यन्त प्रसन्न हो परशुरामजीसे इस प्रकार बोले ॥ २८½ ॥

पितर ऊचुः

राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥२९॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ॥३०॥

पितरोंने कहा—महाभाग राम! परशुराम! भृगुनन्दन! विभो! हम तुम्हारी इस पितृभक्तिसे और तुम्हारे पराक्रमसे भी बहुत प्रसन्न हुए हैं। महाद्युते! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। बोलो, क्या चाहते हो? ॥ २९-३० ॥

एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन् स गगने स्थितान् ।३१।
भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
पितृप्रसादमिच्छेयं तप आप्यायनं पुनः ॥३२॥

राजेन्द्र! उनके ऐसा कहनेपर योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामने हाथ जोड़कर आकाशमें खड़े हुए उन पितरोंसे कहा—'पितृगण! यदि आपलोग मुझपर प्रसन्न हैं और यदि मैं आपका अनुग्रहपात्र होऊँ तो मैं आपका कृपा-प्रसाद चाहता हूँ। पुनः मेरी तपस्या पूरी हो जाय ॥ ३१-३२ ॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाप्यहम् ॥३३॥
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।

'मैंने जो रोषके वशीभूत होकर सारे क्षत्रियकुलका संहार कर दिया है, आपके प्रभावसे मैं उस पापसे मुक्त हो जाऊँ तथा मेरे ये कुण्ड भूमण्डलमें विख्यात तीर्थस्वरूप हो जायँ ॥ ३३½ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ॥३४॥
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ।
तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ॥३५॥

परशुरामजीका यह शुभ वचन सुनकर उनके पितर बड़े प्रसन्न हुए और हर्षमें भरकर बोले—'वत्स! तुम्हारी तपस्या इस विशेष पितृभक्तिसे पुनः बढ़ जाय ॥ ३४-३५ ॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ।
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः ॥३६॥

'तुमने जो रोषमें भरकर क्षत्रियकुलका संहार किया है, उस पापसे तुम मुक्त हो गये। वे क्षत्रिय अपने ही कर्मसे मरे हैं ॥ ३६ ॥

ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ।
ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन् संतर्पयिष्यति ॥३७॥
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितं च मनःकामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम् ॥३८॥

'तुम्हारे बनाये हुए ये कुण्ड तीर्थस्वरूप होंगे, इसमें संशय नहीं है। जो इन कुण्डोंमें नहाकर पितरोंका तर्पण करेंगे, उन्हें तृप्त हुए पितर ऐसा वर देंगे, जो इस भूतलपर दुर्लभ है। वे उसके लिये मनोवाञ्छित कामना और सनातन स्वर्गलोक सुलभ कर देंगे' ॥ ३७-३८ ॥

एवं दत्त्वा वरान् राजन् रामस्य पितरस्तदा ।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवान्तर्हितास्ततः ॥३९॥
एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः ॥४०॥
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद् बहुसुवर्णकम् ।
वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ॥४१॥
स्ववंशमुद्धरेद् राजन् स्नात्वा वै वंशमूलके ।
कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम ॥४२॥
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः ।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान् ॥४३॥

राजन्! इस प्रकार वर देकर परशुरामजीके पितर प्रसन्नतापूर्वक उनसे अनुमति ले वहीं अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार भृगुनन्दन महात्मा परशुरामके वे कुण्ड बड़े पुण्यमय माने गये हैं। राजन्! जो उत्तम व्रत एवं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए परशुरामजीके उन कुण्डोंके जलमें स्नान करके उनकी पूजा करता है, उसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है। कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य वंशमूलकतीर्थमें जाय। राजन्! वंशमूलकमें स्नान करके मनुष्य अपने कुलका उद्धार कर देता है। भरतश्रेष्ठ! कायशोधनतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे शरीरकी शुद्धि होती है, इसमें संशय नहीं। शरीर शुद्ध होनेपर मनुष्य परम उत्तम कल्याणमय लोकोंमें जाता है ॥ ३९-४३ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥४४॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
स्नात्वा तीर्थवरे राजँल्लोकानुद्धरते स्वकान् ॥४५॥

धर्मज्ञ! तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात लोकोद्धारतीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें पूजित है। वहाँ पूर्वकालमें सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने कितने ही लोकोंका उद्धार किया था। राजन्! लोकोद्धारमें जाकर उस उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य आत्मीय जनोंका उद्धार करता है ॥४४-४५॥

श्रीतीर्थं च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।
अर्चयित्वा पितॄन् देवान् विन्दते श्रियमुत्तमाम् ।४६।

मनको वशमें करके श्रीतीर्थमें जाकर स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य उत्तम सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् स्वान् दैवतान्यपि ।४७॥
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ।

कपिला-तीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करके मानव सहस्र कपिला गौओंके दानका फल प्राप्त करता है ॥ ४७½ ॥

सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥४८॥
अर्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥४९॥

मनको वशमें करके सूर्यतीर्थमें जाकर स्नान और देवता-पितरोंका अर्चन करके उपवास करनेवाला मनुष्य अग्निष्टोम-यज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ॥ ४८-४९ ॥

गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥५०॥

तदनन्तर तीर्थसेवी क्रमशः गोभवन तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करे। इनसे उसको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥५०॥

शङ्खिनीतीर्थमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥५१॥

कुरुश्रेष्ठ ! तीर्थयात्री पुरुष शङ्खिनीतीर्थमें जाकर वहाँ देवीतीर्थमें स्नान करनेसे उत्तम रूप प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम् ।
तच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥५२॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर अरन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय । महात्मा यक्षराज कुबेरका वह तीर्थ सरस्वती नदीमें है । राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५२½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्तं नरोत्तमः ॥५३॥
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर श्रेष्ठ मानव ब्रह्मावर्ततीर्थको जाय। ब्रह्मावर्तमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ५३½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥५४॥
तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥५५॥
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र ! वहाँसे परम उत्तम सुतीर्थमें जाय । वहाँ देवतालोग पितरोंके साथ सदा विद्यमान रहते हैं । वहाँ पितरों और देवताओंके पूजनमें तत्पर हो स्नान करे । इससे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और पितृलोकमें जाता है ॥ ५४-५५½ ॥

ततोऽम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥५६॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे अम्बुमतीमें, जो परम उत्तम तीर्थ है, जाय । ५६।

काशीश्वरस्य तीर्थेषु स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥५७॥

भरतश्रेष्ठ ! काशीश्वरके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब रोगोंसे मुक्त हो जाता और ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥५७॥

मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।
प्रजा विवर्धते राजन्नतन्वीं श्रियमश्नुते ॥५८॥

भरतवंशी महाराज ! वहीं मातृतीर्थ है, जिसमें स्नान करनेवाले पुरुषकी संतति बढ़ती है और वह कभी क्षीण न होनेवाली सम्पत्तिका उपभोग करता है ॥ ५८ ॥

ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ॥५९॥

तदनन्तर नियमसे रहकर नियमित भोजन करते हुए सीतवनमें जाय । महाराज ! वहाँ महान् तीर्थ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है ॥ ५९ ॥

पुनाति गमनादेव दृष्टमेकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति भारत ॥६०॥

नरेश्वर ! वह तीर्थ एक बार जाने या दर्शन करनेसे ही पवित्र कर देता है । भारत ! उसमें केशोंको धो लेने मात्रसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥ ६० ॥

तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ॥६१॥
प्रीतिं गच्छन्ति परमां स्नात्वा भरतसत्तम ।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ॥६२॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम् ॥६३॥

महाराज ! वहाँ श्वाविल्लोमापह नामक तीर्थ है । नरव्याघ्र ! उसमें तीर्थपरायण हुए विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके बड़े प्रसन्न होते हैं । भरतसत्तम ! श्वाविल्लोमापनयनतीर्थमें प्राणायाम (योगकी क्रिया) करनेसे श्रेष्ठ द्विज अपने रोएँ झाड़ देते हैं तथा राजेन्द्र ! वे शुद्धचित्त होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ६१–६३ ॥

दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम् ॥६४॥

भूपाल ! वहीं दशाश्वमेधिक तीर्थ भी है । पुरुषसिंह ! उसमें स्नान करके मनुष्य उत्तम गति प्राप्त करता है ॥६४॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन् व्याधेन शरपीडिताः ॥६५॥
विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥६६॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर लोकविख्यात मानुषतीर्थमें जाय

राजन् ! वहाँ व्याधके बाणोंसे पीडित हुए कृष्णमृग उस सरोवरमें गोते लगाकर मनुष्यशरीर पा गये थे, इसीलिये उसका नाम मानुषतीर्थ है। ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो उस तीर्थमें स्नान करनेवाला मानव सब पापोंसे मुक्त हो स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ६५-६६½ ॥

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते ॥६७॥
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता।
श्यामाकं भोजने तत्र यः प्रयच्छति मानवः ॥६८॥
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत्।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता ॥६९॥

राजन् ! मानुषतीर्थसे पूर्व एक कोसकी दूरीपर आपगा नामसे विख्यात एक नदी है, जो सिद्धपुरुषोंसे सेवित है। जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे भोजन कराते समय श्यामाक (साँवा) नामक अन्न देता है, उसे महान् धर्मफलकी प्राप्ति होती है। वहाँ एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर एक करोड़ ब्राह्मणोंको भोजन करानेका फल मिलता है। ६७–६९।

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् वै दैवतानि च।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ॥७०॥

वहाँ स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनपूर्वक एक रात निवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत ॥७१॥

भरतवंशी राजेन्द्र ! तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्तम स्थानमें जाय, जो इस पृथ्वीपर ब्रह्मोदुम्बरतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है ॥ ७१ ॥

तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ॥७२॥
ब्रह्माणमधिगम्याथ शुचिः प्रयतमानसः।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥७३॥
कपिलस्य च केदारं समासाद्य सुदुर्लभम्।
अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः ॥७४॥

वहाँ सप्तर्षिकुण्ड है। नरश्रेष्ठ महाराज ! उन कुण्डोंमें तथा महात्मा कपिलके केदारतीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है। वह मनुष्य ब्रह्माजीके निकट जाकर उनका दर्शन करनेसे शुद्ध, पवित्रचित्त एवं सब पापोंसे रहित होकर ब्रह्मलोकमें जाता है। कपिलका केदार भी अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ जानेसे तपस्याद्वारा सब पाप नष्ट हो जानेके कारण मनुष्यको अन्तर्धानविद्याकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ७२—७४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम्।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामभिगम्य वृषध्वजम् ॥ ७५ ॥
लभेत सर्वकामान् हि स्वर्गलोकं च गच्छति।

राजेन्द्र ! तदनन्तर लोकविख्यात सरकतीर्थमें जाय। वहाँ कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको भगवान् शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्य सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७५½ ॥

तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन ॥ ७६ ॥

कुरुनन्दन ! सरकमें तीन करोड़ तीर्थ हैं ॥ ७६ ॥

रुद्रकोट्यां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥ ७७ ॥
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति ॥ ७८ ॥

राजन् ! ये सब तीर्थ रुद्रकोटिमें, कूपमें और कुण्डोंमें हैं। भरतशिरोमणे ! वहीं इलास्पदतीर्थ है, जिसमें स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ७७-७८ ॥

किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत ॥ ७९ ॥

महीपते ! वहाँ किंदान और किंजप्य नामक तीर्थ भी हैं। भारत ! उनमें स्नान करनेसे मनुष्य दान और जपका असीम फल पाता है ॥ ७९ ॥

कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८० ॥

कलशीतीर्थमें जलका आचमन करके श्रद्धालु और जितेन्द्रिय मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ८० ॥

सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम् ॥ ८१ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ ! सरकतीर्थके पूर्वमें महात्मा नारदका तीर्थ है, जो अम्बाजन्मके नामसे विख्यात है ॥ ८१ ॥

तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत।
नारदेनाभ्यनुज्ञातो लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ८२ ॥

भारत ! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य प्राणत्यागके पश्चात् नारदजीकी आज्ञाके अनुसार परम उत्तम लोकोंमें जाता है ॥ ८२ ॥

शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ८३ ॥

शुक्लपक्षकी दशमी तिथिको पुण्डरीक तीर्थमें प्रवेश करे। राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको पुण्डरीकयागका फल प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी ॥ ८४ ॥

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात त्रिविष्टपतीर्थमें जाय।

वहाँ वैतरणी नामक पुण्यमयी पापनाशिनी नदी है ॥ ८४ ॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८५ ॥

उसमें स्नान करके शूलपाणि भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्धचित्त हो परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन् फलकीवनमाश्रिताः ॥ ८६ ॥
तपश्चरन्ति विपुलं बहु वर्षसहस्रकम् ।
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८७ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम ॥ ८८ ॥
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः ।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८९ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च विन्दति ॥ ९० ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे फलकीवन नामक उत्तम तीर्थकी यात्रा करे । राजन् ! देवतालोग फलकीवनमें सदा निवास करते हैं और अनेक सहस्र वर्षोंतक वहाँ भारी तपस्यामें लगे रहते हैं । भारत ! दृषद्वतीमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है । भरतसत्तम राजेन्द्र ! सर्वदेवतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है । भारत ! पाणिखाततीर्थमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र-यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको प्राप्त कर लेता है; साथ ही वह राजसूययज्ञका फल पाता एवं ऋषिलोकमें जाता है ॥८६–९०॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ॥ ९१ ॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम् ।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥ ९२ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् परम उत्तम मिश्रकतीर्थमें जाय । महाराज ! वहाँ महात्मा व्यासने द्विजोंके लिये सभी तीर्थोंका सम्मिश्रण किया है; यह बात मेरे सुननेमें आयी है । जो मनुष्य मिश्रकतीर्थमें स्नान करता है, उसका वह स्नान सभी तीर्थोंमें स्नान करनेके समान है ॥ ९१-९२ ॥

ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९३ ॥

तत्पश्चात् नियमपूर्वक रहते हुए मिताहारी होकर व्यासवनकी यात्रा करे । वहाँ मनोजवतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ९३ ॥

गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् देवांश्च पूरुषः ॥ ९४ ॥
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ।

मधुवटीमें जाकर देवीतीर्थमें स्नान करके पवित्र हुआ मानव वहाँ देवता-पितरोंकी पूजा करके देवीकी आज्ञाके अनुसार सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ९४½ ॥

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत ॥ ९५ ॥
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

भारत ! कौशिकी और दृषद्वतीके संगममें जो नियमित भोजन करते हुए स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९५½ ॥

ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ॥ ९६ ॥
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः ।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ॥ ९७ ॥
अभिगत्वा स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ।

तत्पश्चात् व्यासस्थलीमें जाय, जहाँ परम बुद्धिमान् व्यासने पुत्रशोकसे संतप्त हो शरीर त्याग देनेका विचार किया था । राजेन्द्र ! उस समय उन्हें देवताओंने पुनः उठाया था । उस स्थलमें जानेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥९६-९७½॥

किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ॥ ९८ ॥
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह ।
वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९९ ॥

किंदत्त नामक कूपके समीप जाकर एक प्रस्थ अर्थात् सोलह मुट्ठी तिल दान करे । कुरुश्रेष्ठ ! ऐसा करनेसे मनुष्य तीनों ऋणोंसे मुक्त हो परम सिद्धिको प्राप्त होता है । वेदीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥९८-९९॥

अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥१००॥

अहन् और सुदिन—ये दो लोकविख्यात तीर्थ हैं। नरश्रेष्ठ! उन दोनोंमें स्नान करके मनुष्य सूर्यलोकमें जाता है ॥१००॥

मृगधूमं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम ॥१०१॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात मृगधूमतीर्थमें जाय और वहाँ गङ्गाजीमें स्नान करे ॥ १०१ ॥

अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०२॥

वहाँ महादेवजीकी पूजा करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है । देवीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १०२ ॥

ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ॥१०३॥

सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
कुलम्पुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः ॥१०४॥

तत्पश्चात् त्रिलोकविख्यात वामनतीर्थमें जाय । वहाँ विष्णुपदमें स्नान और वामनदेवताका पूजन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। कुलम्पुन-तीर्थमें स्नान करके मानव अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥

पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विष्णुलोके महीयते ॥१०५॥

नरव्याघ्र ! तदनन्तर पवनह्रदमें स्नान करे । वह मरुद्गणोंका उत्तम तीर्थ है । वहाँ स्नान करनेसे मानव विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०५ ॥

अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्यामराधिपम् ।
अमराणां प्रभावेण स्वर्गलोके महीयते ॥१०६॥

अमरह्रदमें स्नान करके अमरेश्वर इन्द्रका पूजन करे। ऐसा करके मनुष्य अमरोंके प्रभावसे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥

शालिहोत्रस्य तीर्थे च शालिसूर्ये यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०७॥

नरश्रेष्ठ ! शालिहोत्रके शालिसूर्यनामक तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ १०७ ॥

श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यास्तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१०८॥

भरतसत्तम नरश्रेष्ठ ! श्रीकुञ्जनामक सरस्वती-तीर्थमें स्नान करनेसे मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है ॥ १०८ ॥

ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह ।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः ॥१०९॥
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम ॥११०॥

कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् नैमिषकुञ्जकी यात्रा करे । राजेन्द्र ! कहते हैं, नैमिषारण्यके निवासी तपस्वी ऋषि पहले कभी तीर्थयात्राके प्रसंगसे कुरुक्षेत्रमें गये थे। भरतश्रेष्ठ ! उसी समय उन्होंने सरस्वतीकुञ्जका निर्माण किया था (वही नैमिषकुञ्ज कहलाता है) ॥ १०९-११० ॥

ऋषीणामवकाशः स्याद् यथा तुष्टिकरो महान् ।
तस्मिन् कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१११॥

वह ऋषियोंका स्थान है, जो उनके लिये महान् संतोष-जनक है । उस कुञ्जमें स्नान करके मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ १११ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमनुत्तमम् ।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥११२॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर परम उत्तम कन्यातीर्थकी यात्रा करे । कन्यातीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ११२ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः ॥११३॥
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मतीर्थमें जाय । वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणेतर वर्णका मनुष्य भी ब्राह्मणत्वलाभ करता है । ब्राह्मण होनेपर शुद्धचित्त हो वह परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ११३½ ॥

ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम् ॥११४॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सोमलोकमवाप्नुयात् ।

नरश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् उत्तम सोमतीर्थकी यात्रा करे। राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मानव सोमलोकको जाता है ॥ ११४½ ॥

सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप ॥११५॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
पुरा मङ्कणको राजन् कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ॥११६॥
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ॥११७॥

नरेश्वर ! इसके बाद सप्तसारस्वत नामक तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ लोकविख्यात महर्षि मङ्कणकको सिद्धि प्राप्त हुई थी । राजन् ! हमारे सुननेमें आया है कि पहले कभी महर्षि मङ्कणकके हाथमें कुशका अग्रभाग गड़ गया, जिससे उनके हाथमें घाव हो गया । महाराज ! उस समय उस हाथसे शाकका रस चूने लगा । शाकका रस चूता देख महर्षि हर्षावेशसे मतवाले हो नृत्य करने लगे ॥ ११५–११७ ॥

ततस्तस्मिन् प्रनृत्ते तु स्थावरं जंगमं च यत् ।
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ॥११८॥

वीर ! उनके नृत्य करते समय उनके तेजसे मोहित हो सारा चराचर जगत् नृत्य करने लगा ॥ ११८ ॥

ब्रह्मादिभिः सुरैः राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरथ नराधिप ॥११९॥

राजन् ! नरेश्वर ! उस समय ब्रह्मा आदि देवता तथा तपोधन महर्षिगण—सबने मङ्कणक मुनिके विषयमें महादेवजीसे निवेदन किया—॥ ११९ ॥

नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ॥१२०॥

'देव ! आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे इनका यह नृत्य बंद हो जाय ।' महादेवजी देवताओंके हितकी इच्छासे

हर्षावेशसे नाचते हुए मुनिके पास गये और इस प्रकार बोले—॥ १२० ॥

भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान्।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाद्य मुनिपुङ्गव ॥१२१॥

'धर्मज्ञ महर्षे ! मुनिप्रवर ! आप किसलिये नृत्य कर रहे हैं ? आज आपके इस हर्षातिरेकका क्या कारण है ?' ॥

ऋषिरुवाच

तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम।
किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम् ॥१२२॥
यं दृष्ट्वा सम्प्रनृत्तोऽहं हर्षेण महतान्वितः।

ऋषिने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मन् ! मैं धर्मके मार्गपर स्थिर रहनेवाला तपस्वी हूँ। मेरे हाथसे यह शाकका रस चू रहा है। क्या आप इसे नहीं देखते ? इसीको देखकर मैं महान हर्षसे नाच रहा हूँ॥ १२२½ ॥

तं प्रहस्याब्रवीद् देव ऋषिं रागेण मोहितम्॥१२३॥

महर्षि रागसे मोहित हो रहे थे। महादेवजीने उनकी बात सुनकर हँसते हुए कहा—॥ १२३ ॥

अहं तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम्।
एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता ॥१२४॥
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वाङ्गुष्ठस्ताडितोऽनघ।
ततो भस्म क्षताद् राजन् निर्गतं हिमसंनिभम् ॥१२५॥

'विप्रवर ! मुझे तो यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है। मेरी ओर देखिये।'

नरश्रेष्ठ ! निष्पाप राजेन्द्र ! ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महादेवजीने अंगुलीके अग्रभागसे अपने अँगूठेको ठोंका। राजन् ! उनके चोट करनेपर उस अँगूठेसे बर्फके समान सफेद भस्म गिरने लगा॥ १२४-१२५ ॥

तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः।
नान्यद् देवात् परं मेने रुद्रात् परतरं महत् ॥१२६॥

महाराज ! यह अद्भुत बात देखकर मुनि लज्जित हो महादेवजीके चरणोंमें पड़ गये और उन्होंने दूसरे किसी देवताको महादेवजीसे बढ़कर नहीं माननेका निश्चय किया॥ १२६ ॥

सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक्।
त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥१२७॥

वे बोले—'भगवन् ! देवता और असुरोंसहित सम्पूर्ण जगत्के आश्रय आप ही हैं। त्रिशूलधारी महेश्वर ! आपने ही चराचर जीवोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको उत्पन्न किया है॥१२७॥

त्वमेव सर्वान् ग्रससि पुनरेव युगक्षये।
देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ॥१२८॥

'फिर प्रलयकाल आनेपर आप ही सब जीवोंको अपना ग्रास बना लेते हैं। देवता भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते, फिर मेरी तो बात ही क्या ? ॥ १२८ ॥

त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ।
सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्ता कारयिता च ह ॥१२९॥

'अनघ ! ब्रह्मा आदि सब देवता आपहीमें दिखायी देते हैं। इस जगत्के करने और करानेवाले सब कुछ आप ही हैं॥

त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः।
एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत् ॥१३०॥

'आपके प्रसादसे सब देवता यहाँ निर्भय और प्रसन्न रहते हैं।' इस प्रकार स्तुति करके ऋषिने फिर महादेवजीसे कहा—॥ १३० ॥

त्वत्प्रसादान्महादेव तपो मे न क्षरेत वै।
ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत् ॥१३१॥

'महादेव ! आपकी कृपासे मेरी तपस्या नष्ट न हो।' तब महादेवजीने प्रसन्नचित्त हो महर्षिसे कहा—॥ १३१ ॥

तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा।
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने ॥१३२॥

'ब्रह्मन् ! मेरे प्रसादसे आपकी तपस्या हजारगुनी बढ़े। महामुने ! मैं तुम्हारे साथ इस आश्रममें रहूँगा॥ १३२ ॥

सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम्।
न तेषां दुर्लभं किंचिदिहलोके परत्र च ॥१३३॥

'जो सप्तसारस्वत तीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेंगे, उनके लिये इहलोक और परलोकमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होगी॥ १३३ ॥

सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः।
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१३४॥

'इतना ही नहीं, वे सरस्वतीके लोकमें जायँगे, इसमें संशय नहीं है।' ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये॥ १३४ ॥

ततस्त्वौशनसं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१३५॥

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात औशनस तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा तपस्वी ऋषि रहते हैं॥

कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसंध्यं किल भारत।
सांनिध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया ॥१३६॥

भारत ! शुक्राचार्यजीका प्रिय करनेके लिये भगवान् कार्तिकेय भी वहाँ सदा तीनों संध्याओंके समय उपस्थित रहते हैं॥ १३६ ॥

कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम्।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१३७॥

भगवान् शङ्करका मङ्कणक मुनिको नृत्य करनेसे रोकना

कपालमोचनतीर्थ सब पापोंसे छुड़ानेवाला है ! नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥१३७॥

अग्नितीर्थं ततो गच्छेत् तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥१३८॥

नरश्रेष्ठ ! वहाँसे अग्नितीर्थको जाय । उसमें स्नान करनेसे मनुष्य अग्निलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १३८ ॥

विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति ॥१३९॥

भरतसत्तम ! वहीं विश्वामित्रतीर्थ है । नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है ॥ १३९ ॥

ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१४०॥
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नास्त्यत्र संशयः ।

नरश्रेष्ठ ! ब्रह्मयोनितीर्थमें जाकर पवित्र एवं जितात्मा पुरुष वहाँ स्नान करनेसे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है साथ ही, अपने कुलकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४०½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥१४१॥
पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ १४२॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर कार्तिकेयके त्रिभुवनविख्यात पृथूदक-तीर्थकी यात्रा करे और वहाँ स्नान करके देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें संलग्न रहे ॥ १४१-१४२ ॥

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
यत् किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ॥१४३॥
तत् सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत ।
अश्वमेधफलं चास्य स्वर्गलोकं च गच्छति ॥१४४॥

भारत ! स्त्री हो या पुरुष, उसने मानव-बुद्धिसे अनजानमें या जान-बूझकर जो कुछ भी पापकर्म किया है, वह सब पृथूदकतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है और तीर्थसेवी पुरुषको अश्वमेधयज्ञके फल एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ १४३-१४४ ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वती ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥१४५॥

कुरुक्षेत्र तीर्थको सबसे पवित्र कहते हैं, कुरुक्षेत्रसे भी पवित्र है सरस्वती नदी, सरस्वतीसे भी पवित्र हैं उसके तीर्थ और उन तीर्थोंसे भी पवित्र है पृथूदक ॥ १४५ ॥

उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।
पृथूदके जप्यपरो नैव श्वो मरणं तपेत् ॥१४६॥

वह सब तीर्थोंमें उत्तम है, जो पृथूदकतीर्थमें जपपरायण होकर अपने शरीरका त्याग करता है, उसे पुनर्मृत्युका भय नहीं होता ॥ १४६ ॥

गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना ।
एवं स नियतं राजन्नभिगच्छेत् पृथूदकम् ॥१४७॥

यह बात भगवान् सनत्कुमार तथा महात्मा व्यासने कही है । राजन् ! इस प्रकार तीर्थयात्री नियमपूर्वक पृथूदक तीर्थकी यात्रा करे ॥ १४७ ॥

पृथूदकात् तीर्थतमं नान्यत् तीर्थं कुरूद्वह ।
तन्मेध्यं तत् पवित्रं च पावनं च न संशयः ॥१४८॥

कुरुश्रेष्ठ ! पृथूदकसे श्रेष्ठतम तीर्थ दूसरा कोई नहीं है । वही मेध्य, पवित्र और पावन है, इसमें संशय नहीं है ॥१४८॥

तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः ।
पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः ॥१४९॥

नरश्रेष्ठ ! पापी मनुष्य भी वहाँ पृथूदक तीर्थमें स्नान करनेसे स्वर्गलोकमें चले जाते हैं, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥

मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥१५०॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं मधुस्रव तीर्थ है । राजन् ! उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १५० ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम् ।
सरस्वत्यरुणायाश्च संगमं लोकविश्रुतम् ॥१५१॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर क्रमशः लोकविख्यात सरस्वती-अरुणासंगम नामक पवित्र तीर्थकी यात्रा करे ॥ १५१ ॥

त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः ॥१५२॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ ।

वहाँ स्नान करके तीन रात उपवास करनेसे ब्रह्महत्यासे छुटकारा मिल जाता है । इतना ही नहीं, वह मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको भी पा लेता है। भरतश्रेष्ठ ! वह अपने कुलकी सात पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है ॥

अर्धकीलं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह ॥१५३॥
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ।
व्रतोपनयनाभ्यां चाप्युपवासेन वाप्युत ॥१५४॥
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ।
क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
चीर्णव्रतो भवेद् विद्वान् दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥१५५॥

कुरुकुलशिरोमणे ! वहीं अर्धकील नामक तीर्थ है, जिसे पूर्वकालमें दर्भी मुनिने ब्राह्मणोंपर कृपा करनेके लिये प्रकट किया था । वहाँ व्रत, उपनयन और उपवास करनेसे मनुष्य कर्मकाण्ड और मन्त्रोंका ज्ञाता ब्राह्मण होता है, इसमें संशय नहीं है । नरश्रेष्ठ ! क्रियाविहीन और

मन्त्रहीन पुरुष भी उसमें स्नान करके व्रतका पालन करनेसे विद्वान् होता है, यह बात प्राचीन महर्षियोंने प्रत्यक्ष देखी है ॥

समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा ।
तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१५६॥
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः ।

दर्भीमुनि वहाँ चार समुद्रोंको भी ले आये हैं । नरश्रेष्ठ ! उनमें स्नान करनेवाला मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता । और उसे चार हजार गोदानका भी फल मिलता है ॥ १५६½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम् ॥१५७॥
साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१५८॥
दानं वाप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत् ।

धर्मज्ञ ! तदनन्तर वहाँसे शतसहस्र और साहस्रक तीर्थोंकी यात्रा करे । वे दोनों लोकविख्यात तीर्थ हैं । उनमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है । वहाँ किये हुए दान अथवा उपवासका महत्त्व अन्यत्रसे सहस्रगुना अधिक है ॥ १५७-१५८½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ॥१५९॥
तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१६०॥

राजेन्द्र ! वहाँसे उत्तम रेणुकातीर्थकी यात्रा करे । पहले उस तीर्थमें स्नान करे; फिर देवताओं और पितरोंकी पूजामें तत्पर हो जाय । इससे तीर्थयात्री सब पापोंसे शुद्ध हो अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ १५९-१६० ॥

विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः ।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ॥१६१॥

विमोचनतीर्थमें स्नान और आचमन करके क्रोध और इन्द्रियोंको काबूमें रखनेवाला मनुष्य प्रतिग्रहजनित सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६१ ॥

ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ॥१६२॥

तदनन्तर ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय पुरुष पञ्चवटीतीर्थमें जाकर महान् पुण्यसे युक्त हो सत्पुरुषोंके लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १६२ ॥

यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः ।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ॥१६३॥

वहाँ योगेश्वर एवं वृषभध्वज स्वयं भगवान् शिव निवास करते हैं । उन देवेश्वरकी पूजा करके मनुष्य वहाँ जानेमात्रसे सिद्ध हो जाता है ॥ १६३ ॥

तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥१६४॥
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा ।
तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ॥१६५॥

वहीं तैजस नामक वरुणदेवतासम्बन्धी तीर्थ है, जो अपने तेजसे प्रकाशित होता है । जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओं तथा तपस्वी ऋषियोंने कार्तिकेयको देवसेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया था । कुरुश्रेष्ठ ! तैजसतीर्थके पूर्वभागमें कुरुतीर्थ है ॥ १६४-१६५ ॥

कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१६६॥

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपालन और इन्द्रियसंयमपूर्वक कुरुतीर्थमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे शुद्ध होकर ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १६६ ॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१६७॥

तदनन्तर नियमपरायण हो नियमित भोजन करते हुए स्वर्गद्वारको जाय । उस तीर्थके सेवनसे मनुष्य स्वर्गलोक पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १६७ ॥

ततो गच्छेदनरकं तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१६८॥
तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते ।
अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमैः ॥१६९॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष अनरकतीर्थमें जाय । राजन् ! उसमें स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता । महीपते ! पुरुषसिंह ! वहाँ स्वयं ब्रह्मा नारायण आदि देवताओंके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ १६८-१६९ ॥

सांनिध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह ।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१७०॥

कुरुश्रेष्ठ ! महाराज ! वहाँ रुद्रपत्नी दुर्गाजीका स्थान भी है । उस देवीके निकट जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता ॥ १७० ॥

तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम् ।
अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥१७१॥

महाराज ! वहीं विश्वनाथ उमावल्लभ महादेवजीका स्थान है । वहाँकी यात्रा करके मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥

नारायणं चाभिगम्य पद्मनाभमरिंदम ।
राजमानो महाराज विष्णुलोकं च गच्छति ॥१७२॥
तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः ॥१७३॥

शत्रुदमन महाराज ! पद्मनाभ भगवान् नारायणके निकट जाकर (उनका दर्शन करके) मनुष्य तेजस्वी रूप धारण करके भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है । पुरुषरत्न ! सब

देवताओंके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब दुःखोंसे मुक्त हो चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ १७२-१७३ ॥

ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १७४ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुरमें जाय, उसकी परिक्रमा करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥

पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥ १७५ ॥

तत्पश्चात् पावनतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे । भारत ! ऐसा करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १७५ ॥

गङ्गाहृदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां तस्मिन् कूपे महीपते ॥ १७६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं गङ्गाहृद नामक कूप है । भूपाल ! उस कूपमें तीन करोड़ तीर्थोंका वास है ॥ १७६ ॥

तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं प्रपद्यते ।
आपगायां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम् ॥ १७७ ॥
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजन् ! उसमें स्नान करके मानव स्वर्गलोकमें जाता है । जो मनुष्य आपगामें स्नान करके महादेवजीकी पूजा करता है, वह गणपति पद पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १७७½ ॥

ततः स्थाणुवटं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १७८ ॥
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात् ।

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात स्थाणुवटतीर्थमें जाय वहाँ स्नान करके रातभर निवास करनेवाला मनुष्य रुद्रलोकमें जाता है ॥

बदरीपाचनं गच्छेद् वसिष्ठस्याश्रमं ततः ॥ १७९ ॥
बदरीं भक्षयेत् तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
सम्यग् द्वादशवर्षाणि बदरीं भक्षयेत् तु यः ॥ १८० ॥
त्रिरात्रोपोषितस्तेन भवेत् तुल्यो नराधिप ।
रुद्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ॥ १८१ ॥
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते ।

तदनन्तर बदरीपाचन नामसे प्रसिद्ध वसिष्ठके आश्रमपर जाय और वहाँ तीन रात उपवासपूर्वक रहकर बेरका फल खाय । जो मनुष्य वहाँ बारह वर्षोंतक भलीभाँति त्रिरात्रोपवासपूर्वक बेरका फल खाता है, वह उन्हीं वसिष्ठके समान होता है । राजन् ! नरेश्वर ! तीर्थसेवी मनुष्य रुद्रमार्गमें जाकर एक दिन-रात उपवास करे । इससे वह इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १७९–१८१½ ॥

एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः ॥ १८२ ॥
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ।

तदनन्तर एकरात्रतीर्थमें जाकर मनुष्य नियमपूर्वक और सत्यवादी होकर एक रात निवास करनेपर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ १८२½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १८३ ॥
आदित्यस्याश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम् ॥ १८४ ॥
आदित्यलोकं व्रजति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् उस त्रैलोक्यविख्यात तीर्थमें जाय, जहाँ तेजोराशि महात्मा सूर्यका आश्रम है । उसमें स्नान करके सूर्यदेवकी पूजा करनेसे मनुष्य सूर्यके लोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ १८३-१८४½ ॥

सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥ १८५ ॥
सोमलोकमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

नरेश्वर ! सोमतीर्थमें स्नान करके तीर्थसेवी मानव सोमलोकको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १८५½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ॥ १८६ ॥
तीर्थं पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम् ।
यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ॥ १८७ ॥

धर्मज्ञ राजन् ! तदनन्तर महात्मा दधीचके लोकविख्यात परम पुण्यमय, पावन तीर्थकी यात्रा करे । जहाँ तपस्याके भण्डार सरस्वतीपुत्र अङ्गिराका जन्म हुआ ॥ १८६-१८७ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नात्र संशयः ॥ १८८ ॥

उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और सरस्वतीलोकको प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १८८ ॥

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् नियतो नियताशनः ॥ १८९ ॥
लभेत् कन्याशतं दिव्यं स्वर्गलोकं च गच्छति ।

तदनन्तर नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए कन्याश्रम तीर्थमें जाय । राजन् ! वहाँ तीन रात उपवास करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करनेसे सौ दिव्य कन्याओंकी प्राप्ति होती है और वह मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १८९½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं संनिहतीमपि ॥ १९० ॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर वहाँसे संनिहतीतीर्थकी यात्रा करे ॥

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महतान्विताः ॥ १९१ ॥

उस तीर्थमें ब्रह्मा आदि देवता और तपोधन महर्षि प्रतिमास महान् पुण्यसे सम्पन्न होकर जाते हैं ॥ १९१ ॥

संनिहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत् ॥ १९२ ॥

सूर्यग्रहणके समय संनिहतीमें स्नान करनेसे सौ अश्वमेध

यज्ञोंका अभीष्ट एवं शाश्वत फल प्राप्त होता है ॥ १९२ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च ।
नद्यो ह्रदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च ॥१९३॥
उदपानानि वाप्यश्च तीर्थान्यायतनानि च ।
निःसंशयममावास्यां समेष्यन्ति नराधिप ॥१९४॥
मासि मासि नरव्याघ्र संनिहत्यां न संशयः ।
तीर्थसंनिहनादेव संनिहत्येति विश्रुता ॥१९५॥

पृथ्वीपर और आकाशमें जितने तीर्थ, नदी, ह्रद, तड़ाग, सम्पूर्ण झरने, उदपान, बावली, तीर्थ और मन्दिर हैं, वे प्रत्येक मासकी अमावस्याको संनिहतीमें अवश्य पधारेंगे। तीर्थोंका संघात या समूह होनेके कारण ही वह संनिहती नामसे विख्यात है ॥ १९३—१९५ ॥

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते ।
अमावास्यां तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥१९६॥
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ।
अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत् फलम् ॥१९७॥
स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धं च मानवः ।
यत् किंचिद् दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥१९८॥
स्नातमात्रस्य तत् सर्वं नश्यते नात्र संशयः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१९९॥

राजन् ! उसमें स्नान और जलपान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो सूर्यग्रहणके समय अमावस्याको वहाँ पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो—। भलीभाँति सम्पन्न किये हुए सहस्र अश्वमेध यज्ञोंका जो फल होता है, उसे मनुष्य उस तीर्थमें स्नानमात्र करके अथवा श्राद्ध करके पा लेता है। स्त्री या पुरुषने जो कुछ भी दुष्कर्म किया हो, वह सब वहाँ स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है; इसमें संशय नहीं है। वह पुरुष कमलके समान रंगवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १९६—१९९ ॥

अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम् ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य लभेद् बहुसुवर्णकम् ॥२००॥

तदनन्तर मचक्रुक नामक द्वारपाल यक्षको प्रणाम करके कोटितीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ २०० ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ॥२०१॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ।

धर्मज्ञ भरतश्रेष्ठ ! वहीं गङ्गाह्रद नामक तीर्थ है, उसमें ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो स्नान करे, इससे मनुष्यको राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंद्वारा मिलनेवाले फलकी प्राप्ति होती है ॥ २०१½ ॥

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ॥२०२॥
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद् वायुना समुदीरिताः ॥२०३॥
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।
दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम् ॥२०४॥
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ।

भूमण्डलके निवासियोंके लिये नैमिष, अन्तरिक्षनिवासियोंके लिये पुष्कर और तीनों लोकोंके निवासियोंके लिये कुरुक्षेत्र विशिष्ट तीर्थ हैं। कुरुक्षेत्रसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल भी पापी-से-पापी मनुष्यपर भी पड़ जाय तो उसे परमगतिको पहुँचा देती है। सरस्वतीसे दक्षिण, दृषद्वतीसे उत्तर कुरुक्षेत्रमें जो लोग निवास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें बसते हैं ॥ २०२—२०४½ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ॥२०५॥
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा' ऐसी बात एक बार मुँहसे कह देनेपर भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २०५½ ॥

ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ॥२०६॥
तस्मिन् वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथंचन ॥२०७॥

कुरुक्षेत्र ब्रह्माजीकी वेदी है, इस पुण्यक्षेत्रका ब्रह्मर्षिगण सेवन करते हैं। जो मानव उसमें निवास करते हैं, वे किसी प्रकार शोकजनक अवस्थामें नहीं पड़ते ॥ २०६-२०७ ॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥२०८॥

तरन्तुक और अरन्तुकके तथा रामह्रद और मचक्रुकके बीचका जो भूभाग है, यही कुरुक्षेत्र एवं समन्तपञ्चक है। इसे ब्रह्माजीकी उत्तरवेदी कहते हैं ॥ २०८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यतीर्थयात्राविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका चैत्रकृष्ण ७ तारीख २ अप्रैलको ऋषिकेश, गीता-भवनमें पहुँच गये हैं। सदाकी भाँति उनका आषाढ़तक वहाँ ठहरनेका विचार है। सत्सङ्गके लिये आनेवाली स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके आदमीको साथ लिये विना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना बहुत कठिन है।

मासिक महाभारतका प्रथम अङ्क समाप्त हो गया है।

अतः जिन ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे आ गये थे, अथवा जिनका वी० पी० का आदेश मिला था। उन सबको मासिक महाभारतके अङ्क २ से ५ तकके भेज दिये गये हैं। प्रथम अङ्क नहीं भेजा गया है, पुनः छपनेपर दो महीने बाद भेजा जा सकेगा। कृपापूर्वक देरीके लिये क्षमा करेंगे और इसके लिये पत्र-व्यवहार करनेका कष्ट न करेंगे।

मासिक महाभारतके अब भी ग्राहक बनाये जाते हैं।

महाभारतका नया वर्ष नवम्बरसे आरम्भ होकर अक्टूबरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक नवम्बरसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु नवम्बरके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। महाभारतके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते। इसका वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित २०) है। जिनको ग्राहक बनना हो मनीआर्डरद्वारा रुपया भेज दें या वी० पी० का आदेश देनेकी कृपा करेंगे।

कृपाकर ग्राहकनंबर नोट करना न भूलें।

प्रत्येक कृपालु प्रेमी पाठक महाशयकी सेवामें विनम्र प्रार्थना है कि सब सज्जन अपना ग्राहकनंबर जो "महाभारत" के रैपरपर उनके पतेके पास लिखा रहता है अवश्य नोट कर लें और पत्र-व्यवहार आदि करते समय अवश्य लिखें।

ग्राहक-नंबर

व्यवस्थापक—'महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)